साधन-समर

वा

देवीमाहात्म्य

तृतीय खण्ड
(उत्तरार्ध)

रुद्रग्रन्थिभेद

साधन-समर

वा

देवीमाहात्म्य

श्री श्री ब्रह्मर्षि सत्यदेवजी महाराज

कृत

(श्री दुर्गासप्तशती की आध्यात्मिक व्याख्या)

तृतीय खण्ड

(उत्तरार्ध)

रुद्रग्रन्थि-भेद

मातृचरणाश्रित

श्री योगेश्वर वंद्योपाध्याय

द्वारा प्रकाशित

अनुवादक

श्री पं० बनवारीलाल शर्मा

साधन-समर कार्य्यालय

२०१, मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट,

कलकत्ता—७

 १९६२ [मूल्य—तीन रुपये

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्
द्वन्दातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्व्वधी साक्षिभुतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सदगुरुं तं नमामि ॥

गुरो बहुरूपधारी नारायण मूर्ति अपनी सेवा के लिये आयोजन आप ही का है। अपनी सेवा से आप परितृप्त हों। एक बार यह जड़त्त्व का स्वांग परित्याग कर चैतन्य-प्राणमय स्वरूप में प्रकाशित होइये। जगत् से जड़ता का तम दूर हो जाय सेवक की आशा पूर्ण हो।

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य

रुद्रग्रन्थि भेद

रक्तबीज वध

ऋषिरुवाच

चण्डे च निहते दैत्ये मुण्डे च विनिपातिते ।
बहुलेषु च सैन्येषु क्षयितेष्वसुरेश्वरः ॥१॥
ततः कोप पराधीनचेताः शुम्भः प्रतापवान् ।
उद्‌योगं सर्व्व सैन्यानां दैत्यानामादिदेश ह ॥२॥

अनुवाद—ऋषि बोले—चण्डमुण्ड निपातित एवं बहु संख्यक सैन्य क्षय प्राप्त होने से, असुरेश्वर प्रतापशाली शुम्भ कोपाविष्ट चित्त से समस्त दैत्य सैन्य को युद्धार्थ उद्योग करने का आदेश किया ।

व्याख्या—अनुचर वर्गों के साथ प्रवृत्ति निवृत्ति का निधन देखकर अस्मिता कोपाविष्ट होकर भीषण युद्ध का उद्यम करने लगा। दैत्यकुल की जितनी सेना और सेनापति थे, सभी को युद्ध में जाने के लिये आदेश किया। द्वैतप्रतीति का नाम ही है दैत्य, द्वैतप्रतीति असंख्य है सुतरां दैत्य भी असंख्य है। "अतस्मिन् तत्‌बुद्धि" रूप विपर्य्यय ज्ञान ही यावतीय द्वैत प्रतीति का हेतु है; सुतरां सबसे आगे विपर्य्यय ज्ञान का विनाश आवश्यक है; इसी से इस उत्तम चरित्र में सबसे आगे ही विपर्य्ययज्ञानरूपी धूम्रलोचन का वध वर्णित हुआ है। उसके बाद द्वैत प्रतीति का सर्व्व प्रधान अवलम्बनस्वरूप प्रवृत्ति निवृत्ति वा चण्डमुण्ड का निधन हुआ। इसे देख कर अस्मिता ने

अपना अवशिष्ट समूचा अध्यवसाय प्रयोग किया; यह ही शुम्भ के भीषण रणसज्जा का रहस्य है। सर्व्वभाव इसवार प्रलयकवलित होंगे; इसी से मंत्र में सर्वसैन्य का युद्धोद्योग वर्णित हुआ है। इसवार निशुम्भ के साथ शुम्भ को भी आत्मवली देनी होगी। यह भीषण समर आयोजन उसी की पूर्वसूचनामात्र है। साधक, याद रखना यह सभी मातृ-कृपा वा मातृ-आकर्षण है। स्मरण करो गीता के विश्वरुप का वह श्लोक—

"यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

प्रदीप्त अग्नि के मनोहर रुप से आकृष्ट होकर पतङ्गवृन्द जैसे आत्माहुति प्रदान करते हैं, ठीक उसीप्रकार माहामारी की प्रबल आकर्षण से समाकृष्ट दैत्यगण समरानल में आत्माहुति प्रदान करके पतंगवृत्ति सम्पादन कर रहे हैं। साधक विचार कर देखो, यह साधन द्वारा होता है क्या ? माकी कृपाव्यतीत ऐसा सुयोग आता है क्या ? मा जो हमारी, स्वयं कृष्ण हैं, उनका स्नेहमय प्रबल आर्कषण नहीं आने से, द्वैतप्रतीति समूह एक अद्वय सत्ता में आत्महारा होने के लिये धावित होती है क्या ? तुम मा के चरणों में आत्मसमर्पण करके निश्चिन्त उदासीन साक्षी पुरुष की तरह बैठे हुए हो; और मा का स्नेहमय आकर्षण तुम्हारे यावतीय द्वैतभाव का विलय साधन करके तुमको परमानन्दमय अद्वैत स्वरुप में उपनीत कर रहा है। इस बात को विचारने जाने से भी आनन्द, विस्मय और उल्लास से प्राणों के भीतर कैसा करने लगता है।

साधक जब तक माकी इस आकर्षण गण्डी के वाहिर में अव-स्थान करोगे, तव तक असुरभावसमूहों की स्वेच्छा से आत्म बलिरुप मा की विशिष्ट कृपा की उपलब्धि कर सकोगे क्या ?

अद्य सर्व बलै दैंत्याः षड़शीतिरुदायुधाः।
कम्बूनां चतुरशीति निर्यान्तु स्वबलैर्वृ ताः ॥३॥

कोटिवीर्याणि पञ्चाशदसुराणां कुलानि वै ।
शतं कुलानि धौम्राणां निर्गच्छन्तु ममाज्ञया ॥४॥
कालका दौर्हृता मौर्याः कालकेया स्तथासुराः ।
युद्धाय सज्जा निर्यान्तु आज्ञया त्वरिता मम ॥५॥

अनुवाद– आज मेरे आदेश से समग्र असुर स्व स्व सैन्य गणों के साथ युद्धार्थ सज्जीभूत होकर शीघ्र निकल आओ। उदायुधवंशीय षड़शीति, कम्बूवंशीय चतुरशीति, कोटिवीर्य कुलके पञ्चाशत् एवं धूम्रवंशीय शतसंख्यक असुर और कालक दौर्हृत मौर्य्य और कालकेय नामक असुर सम्प्रदाय स्व स्व सैन्यदल से वेष्टित होकर मेरी आज्ञा से शीघ्र बाहर निकलो।

व्याख्या—महासुर शुम्भ ने भीषण समरायोजन का आदेश करते समय जिन सब असुरों का नाम उल्लेख किया, उसमें आठ असुर सम्प्रदायों का नाम पाया जाता है। यथा-उदायुध, कम्बू, कोटिवीर्य, धौम्र, कालक, दौर्हृत, मौर्य्य एवं कालकेय। आध्यात्मिक दृष्टि से ये अष्ट संख्यक असुर सम्प्रदाय अष्टपाश रूपसे परिचित होते हैं। कुलार्णव तंन्त्रमें उक्त है "घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्साचेति पञ्चमी, कूलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः।" घृणा लज्जा भय शंका जुगुप्सा कुल शील एवं जाति, इन आठों को अष्टपाश कहते है। जीव इन अष्टपाशों द्वारा आवद्ध है। इन अष्टपाशों से मुक्त हौने ही से जीव शिव हो जाता है। "पाशवद्धोभवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।" यह भी तंत्र का वाक्य है। इतने दिनों में जीव मा की कृपा से शिवत्व में उपनीत होने चला है। इसी से शुम्भ—अस्मिता उनको भी—इन अष्टपाशों को भी मातृ-समर में प्रेरणा कर रहा है। इनके विनष्ट होने ही से अस्मिता का विशेष आलम्वन हट जायगा। क्रम से हम उसी अपूर्व रहस्य में उपस्थित होंगे। आओ साधक! यहाँ पर हम असुरों का थोड़ा परिचय लेने की चेष्टा करें।

१—उदायुध – उद्यत हैं आयुध जिसका। आध्यात्मिकदृष्टिसे इसका नाम है घृणा। वास्तविक ही घृणा उद्यत आयुध है। अपरों के प्रति घृणा वा अवज्ञा का भाव पोषण करने जाने ही से, मैं को अर्थात् अहंकार को उद्यत करने होता है। मैं शुद्ध उन्नत हूँ। अपर अशुद्ध हीन है; ऐसी ही प्रतीति से ही घृणा का आविर्भाव होता है; सुतरां घृणाको उदायुध असुर कहा जाता है। ये संख्या में षड़शीति हैं। जाग्रत काल में चतुर्दशकरण का आश्रय करके जरायुजादि चतुर्विध भूतजातोंके प्रति घृणा प्रकाश पाती है; सुतरां जाग्रतावस्थामें इनका भेद षट्पञ्चाशत् है। फिर स्वप्नवस्थामें भी अन्तःकरण-चतुष्टय का आश्रय करके पूर्वोक्त चतुर्विधभूतो के प्रति घृणा प्रकाश पाती है; सुतरां स्वप्नकालमें इसकाभेद षोड़श संख्यक है। और परमात्मस्वरूप में स्थिति-प्रयासी अस्मिता का स्वकीय विभिन्न स्फुरणरूपी चतुर्दश करण के प्रति जो स्वाभाविक थोड़ासा विद्वेष वा घृणाभाव है, उसकी संख्या चतुर्दश है। इसप्रकार समष्टि में घृणा वा उदायुध असुरों का षड़शीति प्रकार का भेद परिलक्षित होता है; इसी से मंत्र में "षड़-शीतिरुदायुधाः" ऐसा उल्लेख पाया जाता है।

२—कम्बू-शब्दका अथ है शङ्ख। यह है जीवका द्वितीय पाश वा बन्धन। लज्जा ही है इसका स्वरूप। शङ्खजातीय जलचर प्राणियों के हस्त-पदादि अवयव सव आवरणके भीतर लुक्कायित रहते हैं। कोईभी तरह की जरासी प्रतिकूल वेदना आने ही से, ये अपने को छिपालेते है। मनुष्यों का लज्जाभी ठीक ऐसी ही है। किसी प्रकार की दुर्व्वलता जिससे प्रकट न हो उसके लिये सर्वदाही मनुष्यों को संकोच वा आत्म-गोपन करने होता है। इसी से लज्जा को समझाने के लिये, इस कम्बू जातीय जीवकी बात ही सर्वाग्रे याद आती है। यह भी एकप्रकार का पाश वा बन्धन है। भेद ज्ञान से ही इस लज्जा वा संकोच का आविर्भाव होता है। साधक लक्ष्य करना—पूर्वमें जो "लज्जारूपेण संस्थिता" कहकर इसको मातृ-रूपसे प्रणाम किया गया

है, उसीके फलसे आज इस भेदज्ञानमूलक लज्जा वा आत्मसंकोच, कम्बू-असुररूपसे आत्मबलि देनेके लिये मातृ समीपमें युद्धार्थ उपस्थित हुआ है। अच्छा जो हो, इसकी संख्या चतुरशीति हैं चतुर्द्दशकरण को आश्रयकरके षाट्कौषिक देहमें ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। उक्त संख्याद्वय परस्पर गुणितहोकर चतुरशीति संख्या होती है। इसप्रकार लज्जाका भेद चतुरशीति प्रकार होजाता है। इसी से शुम्भ के आदेश वाक्य में "कम्बूनां चतुरशीति" ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है।

३—कोटीवीर्य्य—कोटी अर्थात् अपरिमेय है वीर्य जिसका। यह ही जीव का भय नामक तृतीय पाश है। भय यथार्थ ही कोटीवीर्य अर्थात् अमितपराक्रम है। स्वकीय अस्तित्व नाशका भय मनुष्यको प्राण खोलकर जगद्भोग नहीं करने देता। प्राण खोलकर साधन भजन भी नहीं करने देता। एक मात्र पारमार्थिक सत्ताके अप्रकाश वशतः ही इसप्रकार के आत्मविनाश के भीतिरूप कोटीवीर्य—असुरकुल का आविर्भाव होता है। ये संख्या में पञ्चाशत् हैं। दश इन्द्रिय एवं पञ्च कोष ही इस असुरकुल का प्रकाश स्थान है। उक्तसंख्या परस्पर गुणित होकर पञ्चाशत् संख्या होती है। इसप्रकार भयनामक पाशके पञ्चाशत् भेद हो जाते हैं। इसीसे मंत्रमें "कोटीवीर्य्याणि पञ्चाशत" ऐसा प्रयोग देखनेमें आता है।

४—धौम्र—धूम्रनामक असुरके वंशको धौम्र कहते हैं। यह धूम्र हमारे पूर्वपरिचित धूम्रलोचन भिन्न दूसरा कोई नहीं है। विपर्यय ज्ञानसे ही यावतीय शंकाओं का आविर्भाव होता है; इसीसे इनको धौम्र वंशीय असुर कहा जाता है। यह ही जीवका शंका नामक चतुर्थ पाश वा बन्धन है। भय एवं शंकामें प्रभेद है। भय—अस्तित्व नाशकी आशंका; शंका—सम्बन्धि पदार्थों का विनाश जनित मानसिक विकार। सहज भाषामें भय शब्दका अर्थ मृत्युभय, एवं शंका शब्द से धनपुत्रादि विनाश की आशंका समझमें आती है। भेदप्रतीति से ही इसका आविर्भाव है; सुतरां ये भी बन्धनविशेष हैं। इसकी संख्या एकशत है। दश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्रा एवं पञ्चभूत, ये

दश, इनका आश्रय करके ही शंका नामक असुर कुलका प्रकाश होता है। उक्त संख्याद्वय परस्पर गुणित होकर शत संख्या होती है। इसप्रकार शंका वा धौम्र असुरका शतसंख्यक भेद होता है। इसीसे मंत्र में "शतं कुलानि धौम्राणां" वाक्य का प्रयोग हुआ है।

५—कालक—कृष्णवर्ण असुरगण। काल शब्द के उत्तर स्वार्थ में 'क' प्रत्यययुक्त होकर यह पद निष्पन्न हुआ है। यह जुगुप्सा नामक पञ्चम पाश है। अज्ञान कृष्णवर्ण है। अज्ञान से ही बहुत्व प्रतीति वा भेदज्ञान परिपुष्ट होता है। भेदज्ञान से ही जुगुप्सा वा निन्दा का आविर्भाव होता है। साधक जबतक एकत्वमें—अद्वितीयत्वमें उपनीत नहीं हो सकता, तबतक किसी प्रकार भी इस कालक नामक असुर वा जुगुप्साके हाथसे परित्राण नहीं पाता।

६—दौर्हृत—ये दुर्हृत नामक असुरके वंशधर हैं। दुष्ट भावों का आहरण करता है इसीसे इसका नाम दुर्हृत वा दौर्हृत है। यह ही कुल अर्थात् कुलाभिमान रूप षष्ठ पाश है। साधक शतसहस्रबार अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका उपदेश पाने पर भी स्वकीय कुलाभिमान रूप अज्ञान के हाथ से सहसा परित्राण नहीं पाता। सुतरां यह भी असुर भाव है।

७—मौर्य्य—ये मूर नामक असुर की सन्तान हैं। आध्यात्मिक दर्शन में यह जीव का शील वा सप्तम पाश है। शील शब्दका अर्थ है स्वभाव वा प्रकृति। अद्वय ज्ञान में उपनीत होने के पक्षमें स्व स्व प्रकृति विषयक विशिष्ट ज्ञान ही महान् अन्तराय है। पूर्व कहा जा चुका है स्व स्व प्रकृति ही जीव की मा है! जिन्होंने इस सत्यका अनुशीलन किया है, मात्र वेही इस रुद्रग्रन्थिभेदके क्षेत्र में उपनीत होकर देखेंगे—वे प्रकृति अपने आप ही जीवको छोड़कर अद्वय आनन्दमय सत्ताका सन्धान लाकर दे रही हैं। स्वकीय प्रकृतिको मा नहीं कह सकने से कभी भी विश्व-प्रकृति का सन्धान नहीं पाया जाता। विश्व-प्रकृति का सन्धान नहीं पानेसे, विश्वातीत क्षेत्रमें—निरञ्जन स्वरूपमें उपनीत नहीं हुआ जाता।

८—कालकेय—कालक नामक असुर की सन्तानगण हैं। यही जीवकी जाति नामक अष्टम पाश है। अज्ञान वा भेदज्ञान से ही जात्यभिमान परिपुष्ट होता है। इसीसे इसे कालक अर्थात् अज्ञानरूपी कृष्णवर्ण असुर की सन्तान वा कालकेय कहा जाता है। इस जाति-ज्ञानके सम्बन्धमें इससे पूर्व चण्डमुण्डवध व्याख्यावसरमें अनेक बात कही गई है। उसी स्थान पर इसका विनाश भी वर्णित हुआ है। यहाँ पर पुनः जाति के विषयमें कहनेसे तो पुनरुक्ति—दोष लक्षित होता है, आशा करता हूं सहृदय पाठकगण उससे शंकित नहीं होंगे। कारण वहाँ पर जो जाति आयु भोगकी बात कही गई है वह ब्राह्मणत्वादि रूप व्यष्टि जाति, और यहाँ पर मनुष्यत्वादि रूप समष्टि जाति ही की बात कही गई है। वास्तविक ही ये कुल शील जाति प्रभृति प्रत्ययसमूह एकान्त दुरपनेय हैं। वारंवार विलय प्राप्त होने पर भी नानाभावसे नानारूपसे पुनः ये आविर्भूत होते हैं; इन सब प्रतीतियों को समूलसे विनष्ट करने ही के लिये मा का यह चरम आयोजन है।

पूर्वोक्त घृणा लज्जा प्रभृति अष्टपाश जीवत्व का सुदृढ़ बन्धन है। इस बन्धनको छिन्न नहीं कर सकनेसे, विमल-वोधस्वरूप मातृ-साक्षात्कार लाभ नहीं होता। अथवा मातृसाक्षात्कार लाभ नहीं होनेसे पूर्वोक्त अष्टपाश छिन्न नही होता। देखा जाता है—साधकोंमें अनेक ही इन पाशोंसे विमुक्त होने के लिये नानाप्रकार वाह्य उपाय अवलम्बन करते हैं। घृणा लज्जा प्रभृति संस्कार समूहोंको विलुप्त करने के लिये नानारूप प्रतिकूल कार्योंके अनुष्ठान करते रहते हैं। किन्तु हाय! उससे जैसे एक तरफ पाशसमूह विछिन्न नहीं होते, दूसरी तरफ तैसे ही उसके विपरीत कर्मोंके अनुष्ठानोंके लिये और कितने नूतन संस्कार सञ्चित हो जाते हैं। याद रखने होगा—बन्धन एवं मुक्ति, दोनों ही ज्ञानके प्रकार भेदमात्र हैं। जबतक विशुद्ध बोधका उदय नहीं होता, तबतक अज्ञानमूलक अष्टपाश वा बन्धन किसी प्रकार भी छिन्न नहीं होता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुनको भी

ठीक यही बात बोले हैं—"विषयाविनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज्जरसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥" निराहारी होनेसे अर्थात् इन्द्रियादिको संयम कर सकनेसे विषयसमूहों की विनिवृत्ति होती है ठीक, किन्तु तद्विषयक रस-अनुराग अर्थात् सूक्ष्म संस्कार रह जाता है। एकमात्र परमात्माका साक्षात्कार होने ही से भेदज्ञान मूलक विषय रस वा सूक्ष्म संस्कार सम्यक् निवृत्त हो जाते हैं।

जो सब साधक साधनाकी प्रथम अवस्थासे ही सरल प्राणोंसे अकपट हृदयसे स्वकीय सत् असत् समस्त भाव निर्विचारसे मा के सम्मुख धर सकते हैं, केवल सोई माकी कृपासे अति सहजमें अष्टपाश से विमुक्त होकर परमानन्दसागरमें अवगाहन करने में समर्थ होते हैं। साधन-समरके प्रारम्भमें प्रथम मंत्रकी व्याख्यामें "अष्टम मनु" शब्दका रहस्य समझानेमें, इस अष्टपाशसे मुक्त होने की बात ही कही गई थी। साधक स्मरण करो,—प्रथममें जिसका सूत्रपात किया गया था, कितनी अवस्थाओं के परिवर्त्तन में होकर, कितनी घटना वैचित्र्यके बीच में होकर आकर इतने दिनों में वह यथार्थ फलोन्मुख हुआ है। रुद्रग्रन्थिभेद का साधक मातृक्रोड़ में निर्भय चित्त से अवस्थान करके ठिक इसी प्रकार देखता है—मा के प्रबल आकर्षणसे आकृष्ट होकर पाशसमूह एक-एक करके स्वेच्छा से आत्मवलि देने के लिये प्रलयाभिमुखी अग्रसर होते हैं। जिन पाशों से विमुक्त होने के लिये कितनी कठोर साधना ही को आवश्यकता मालूम पड़ती थी, जिस पाश से विमुक्त होना एकान्त असम्भव व्यापार (घटना) मालूम पड़ता था, वही पाश अपने आप ही छूट जाने का उपक्रम कर रहे हैं।

साधक! तुम क्या यह विश्वास नहीं कर सकते? सत्य सत्य ही मा को सरल प्राणों से मा बोलकर पुकारने से, सत्य सत्य ही मातृ-चरणों में आत्मसमर्पण कर सकने से, सत्य सत्य ही मातृ-अङ्क में आरोहण करने के लिये व्याकुल हो सकने से, तुम्हारे यावनीय बन्धन इसी प्रकार अनायास में खुल जावेंगे। मा स्वयं

आकर स्नेहभरी सन्तान तुम्हारा समस्त बन्धन निज हस्त से खोल देंगी। तुमको हृदय से लगाकर मुक्ति के हिरण्यमय मन्दिर में उपनीत होंगी। सन्तान, तुमने बहुदिन हुए आत्मराज्य से विच्युत होकर, स्वेच्छा से जीवत्व का बन्धन स्वीकार कर लिया है, स्नेहविह्वला मा तुम्हारे उस कल्पित बन्धन को हमेशा के लिये दूर कर देंगी। जहाँ पर बन्धन कहने को कुछ नहीं, जहाँ पर भेद-ज्ञान का लेशमात्र नहीं, जहाँ पर निरानन्द का स्पर्श भी नहीं, उसी निरवच्छिन्न आनन्दमय विशुद्ध चैतन्यमय अखण्डब्रह्म सत्ता में तुम्हारी विशिष्टसत्ता हमेशा के लिये मिला लेंगी। तुम भी "ब्रह्माहमस्मि" कहकर जीवत्व के परपार चले जाओगे? तुम्हारे मानव-जीवनको पूर्ण चरितार्थता प्राप्त होगी।

इत्याज्ञाप्यासुरपतिः शुम्भो भैरवशासनः।
निर्जगाम महासैन्यसहस्त्रैर्बहुभिर्वृतः॥६॥

अनुवाद। भीमशासन असुरपति शुम्भ इस प्रकार आदेश करके स्वयं भी बहुसंख्यक महासैन्य (से) परिवृत होकर युद्धार्थ निर्गत हुआ।

व्याख्या। अस्मिता असुरपति—यावतीय द्वैतप्रतिति का आश्रय है। अस्मिता है भैरवशासन—अस्मिता का आदेश कोई भी अमान्य नहीं कर सकता; कारण द्वैतप्रतीति समूह अस्मिताही की विभिन्न स्फुरणामात्र है। यह पूर्व भी कहा जा चुका है। शुम्भ केवल सेनापतिगणों को ही युद्धार्थ प्रेरणा करके निश्चिन्त नहीं हुआ। स्वयं भी बहुसंख्यक सैन्य सह निर्गत हुआ। बहुत क्या कहें, निशुम्भ ने भी शुम्भ के साथ युद्धार्थ अभियान किया था। अस्मिता और ममता एक साथ ही समरक्षेत्र में अग्रसर होते हैं। जीव भावीय यावतीय संस्कार विलय प्राप्त हो चुके हैं ईश्वर भावीय संस्कार समूह अभी भी बाकी हैं; उन्हीं को मंत्र में शुम्भ निशुम्भ के सहगामी सैन्यदल कहा गया है। क्रम से यह और भी खुलाशा होगा।

आयातं चण्डिका दृष्ट्वा तत् सैन्यमतिभीषणम्।
ज्यास्वनैः पूरयामास धरणीगगनान्तरम् ॥७॥

अनुवाद। वह अति भीषण सैन्यवाहिनी आ रही है देखकर देवी चण्डिका ने ज्याशब्द से पृथ्वी एवं गगनमण्डल परिव्याप्त किया।

व्याख्या। यथार्थ में इस बार की सैन्यसज्जा बड़ी ही भीषण है। जो कुछ द्वैत संस्कार थे, सभी ने एक साथ युद्ध-यात्रा की है। वह विपुलवाहिनी दूर से आती देखकर मा ने ज्या ध्वनि की। उस ध्वनि ने पृथ्वी एवं गगनमण्डल को परिपूर्ण कर लिया। ज्याध्वनि—प्रणवध्वनि; यह पूर्व में अनेक स्थानों पर श्रुतिप्रमाणसह व्याख्यात हो चुका है। साधक याद रखना—जबतक मा स्वयं प्रणवध्वनि नहीं करें, तबतक असुरकुल भीत नहीं होता। जबतक तुम्हारे प्रणव धनु-की ज्याध्वनि थी, तबतक तुम असुरवृदों को बिन्दुमात्र भी भीत और सन्त्रस्त नहीं कर सके। फिर जिस दिन से मातृ-कृपा से मातृ-चरणों में आत्मसमर्पण किये हो, जिस दिन से तुम्हारा कर्त्तृत्व विदुरित हुआ है, उस दिन से ही मा का कार्य—ज्याध्वनि आरम्भ हुई है। यद्यपि प्रणवादि मंत्र जपकालीन ध्वनि तुम्हारे वाक्‌यन्त्र से ही निर्गत होती है, तथापि अब अच्छी तरह समझ सकते हो कि वह ध्वनि तुम्हारी नहीं। वह महती शक्ति का ही प्रवल आकर्षणमय नाद है, सुतरां इस ध्वनि की ओर अवधान प्रयोग करने ही से देखोगे—वह धरणी-गगनान्तर परिपूर्ण कररही है। चतुर्दिक दशदिक् सर्वत्र नादमय है। नाद व्यतीत मानो कहीं भी कुछ भी नहीं है। यह जगत् मानो एक अश्रान्त ध्वनिमात्र है। जन्म-मृत्यु, नाना योनि भ्रमण, सुखदुःख, संकल्प विकल्प उसी अश्रान्त ध्वनि की ही विभिन्न तरंग-मात्र है। असुरवल कितना ही असंख्य और सन्नद्ध क्यों न हो, एक बार यह स्वाभाविक नाद उत्थित होने से फिर कोई भय नहीं रहता। उस नाद-प्रवाह से सर्व्वभाव परिप्लावित हो जाते हैं। कैसा मधुर अथच गम्भीर एवं सर्व्वतःप्रसारी वह नाद है।

ततः सिंहोमहानादमतीव कृतवान्नृप।
घन्टास्वनेन तान्नादानम्बिका चोपबृंहयत् ॥८॥

अनुवाद—हे नृप! उसीसमय में सिंह भी पुनः पुनः महानाद करने लगा। स्वयं अम्बिकादेवी ने घन्टाध्वनि द्वारा उस नादको और भी परिवर्द्धित किया।

व्याख्या—देवीका वाहन सिंह अर्थात् जीव इसीसमय यथाशक्ति पुरुषकार प्रयोग करने को उद्यत हुआ। यह ही तो जीव का सर्वशेष प्रयत्न है; यह जानकर ही, द्वैत भावसमूह के प्रतिकूलमे जितने प्रकार का आयोजन सम्भव है, जीव उसे सम्पन्न करनेके लिये उद्यत हुआ। इसी कर्मोद्यम, पुरुषकार और तीव्र उत्साह को लक्ष्य करके ही मंत्रमें सिंह के महानाद को वात कहीगई है। इससे कोई ऐसो भ्रान्त धारणा के वशवर्त्ती मत होना कि, मातृ-चरणों में जो आत्मसमर्पण करनेमें समर्थ होते हैं, फिर उनका पुरुषकार नामक कुछ भी नहीं रहता। वास्तवमें किन्तु आत्मसमर्पण योगसिद्ध व्यक्तिगण ही यथार्थ पुरुषकार वस्तुका स्वरुप समझ सकते हैं। वे कभी भी तामसिक जड़ताग्रस्त नहीं हो पड़ते। अरे! पुरुषतो माँ हैं उनका जो कार वा कृति है, वही तो पुरुषकार है। जवतक मातापुत्ररूप थोड़ाभी भेद रहेगा, तव तक ही पुरुषकार रहेगा। जव मातापुत्रसम्बन्धहीन एक अद्वीतिय निरञ्जन क्षेत्रमें उपनीत होओगे तव—केवल तभी पुरुषकार कहनेको कुछ नहीं रहेगा। जहाँपर इन्द्रीय नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं, वहाँपर फिर पुरुषकार कैसे रहेगा? इसीसे तो कहता हूं—साधना की प्रथम अवस्था ही से तीव्र पुरुषकार का प्रयोजन है, एवं शेष मुहूर्त्त पर्य्यन्त उसे धारण करके रखने होता है। जिस मुहूर्त्त में सर्वभावों का विलय हुआ [उस मुहूर्त्तमें ही पुरुषकार की परिसमाप्ति और केवल पुरुष स्वरुपम स्थिति होती है। पातञ्जल इसीको द्रष्ट्रस्वरुप में अवस्थान कहते हैं, गीता इसे ब्राह्मी स्थिति कहती है, भक्तिशास्त्र इसे प्रेम में आत्महारा भाव कहते हैं। किन्तु वह और बात है—

हम सिंह के महानाद की बात कहरहे थे। जब असुर अत्याचार होता है, तब साधक गण "जयगुरु" "जयमा" कहकर "अलख निरञ्जन" कहकर अथवा स्व स्व अभिष्ट शब्द का प्रयोग करके जो सिंह नाद छोड़ते हैं, वह भी साधना राज्यमें नितान्त कम उपकारी नहीं। साधकों का वही सिंहनाद फिर मा अम्बिका स्वयं घन्टाध्वनि द्वारा उपवृंहित परिवर्द्धित करती है। अनाहत घन्टाध्वनि साधकोंके वागयंत्र-निर्गत ध्वनिके साथ सम्मिलित होकर उसे और भी तुमुल ध्वनि कर देती है। द्वितीय खण्ड में यह नादरहस्य विशेषरूप से व्याख्यात हो चुका है। यहांपर वैखरी नाद की बात ही विशेषभावसे कही गई है। इस उत्तम चरित्र में सूक्ष्म मध्यमा पश्यन्ति और परा नादकाही विषय कहा जाता है; इतना समझ लेनेसे फिर कोई प्रकार संशय नहीं उठेगा। साधक जैसे जैसे सूक्ष्म सूक्ष्म स्तर में आरोहण करता हैं, नाद भी तैसेही सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर स्तर में प्रवेश करता है।

धनुर्ज्यासिंहघन्टानां शब्दापूरित दिङ्मुखा।
निनादैर्भीषनैः काली जिग्ये विस्तारिताननना ॥६॥

अनुवाद—धनुकी ज्याध्वनि,सिंहनाद एवं घन्टा के शब्द ने एकत्र होकर दिङ्मण्डल परिपूर्ण करलिया। और विस्तारिताननना कालीका देवी ने स्वकीय भीषण नाद से उस ध्वनिकोभी तिरस्कृत किया।

व्याख्या– काली की ध्वनि—प्रलयकालीन भीषण हुँकार। वह ध्वनि और सब ध्वनिको आच्छन्न करती है; कारण सभी ध्वनि प्रलय-हुन्कार में मिलजाती है। इसबार शुम्भ को सैन्यसज्जा जैसी भीषण हैं, माकी विजयध्वनि भी तैसी ही प्रचण्ड है। केवल सूक्ष्म नहीं, इसप्रकार के स्थूल नादकाभी विशेष प्रयोजन है। जब द्वैतभाव जनित प्रतिकूल वेदन आकर के साधक को दुर्बल और हताश कर डालता है, तव सर्वतोभावसे नाद का आश्रय लेने होता है।

मानस प्रणव ध्वनि उपांशु अनाहत ध्वनि, स्थूल की "जयमा" प्रभृति ध्वनि एवं सर्वभाव-विलयात्मक महाशक्ति की हुन्कार ध्वनि, ये सब युगपत् समवेतभाव से प्रकाशित होने से, साधक का समस्त अवसाद, समस्त दुर्बलता क्षणकाल के भीतर भाग जाते हैं। साधक तब नव बलसे वलवान होकर अमित तेज से साधन-समर में अवतीर्ण होता है।

तन्निनादमुपश्रुत्य दैत्यसैन्यैश्चतुर्दिशम्।
देवी सिंह स्तथा काली सरोषैः परिवारिताः ॥१०॥

अनुवाद। उस नाद को श्रवण करके दैत्यसैन्यगणों ने सक्रोध से चारों तरफ से देवी, सिंह एवं काली को परिवेष्टन कर डाला।

व्याख्या। देवी—अम्बिका, स्वयं चितिशक्ति; वाहन—सिंह—जीव; एवं काली प्रलयन्करी महती शक्ति। अगणित दैत्यसेना ने दूर से ही इन तीनों को देखा। किन्तु इनके पास में जो सर्वलोक-क्षयकारी प्रलयध्वनि उठी थी, उससे दैत्यसैन्यगण अतिमात्र विस्मित हुए। क्योंकि मात्र तीन शक्ति की समरध्वनि जो इतनी तुमुल ध्वनि, इतनी सर्वदिग् व्यापि हो सकती है, ऐसा वह सोच भी नहीं सकते थे। जो हो, अब इनको समाछन्न करने के लिये दैत्यगण अर्थात् पूर्वोक्त अष्टपाश प्रभृति बन्धनजनक संस्कारों ने चारों तरफ से आक्रमण किया।

सुनो, साधक जब धीरे-धीरे सर्वभावातीत त्रिगुणरहित उस नित्य निरञ्जन सत्ताकी ओर अग्रसर होने लगता है, नानाविध लौकिक संस्कारराशि आकर उसकी उस गति का प्रतिरोध करके खड़ी होती है। किसी प्रकार भी उस अद्वय निरवच्छिन्न आनन्द रस को पान नहीं करने देते। प्रति पदक्षेप पर सहस्र-सहस्र संस्कार आकर साधक की अग्रगतिको निरुद्ध करते हैं। बहुजन्म-सञ्चित द्वैत-संस्कार प्रबल वेग से आकर अद्वय क्षेत्र में उपनीत होने के लिये अन्तराय स्वरूप खड़े होते

हैं। दैत्यसैन्यगणों के चारों दिशा से परिवेष्टन का यह ही रहस्य है। जो साधक हैं, सो इन सब बातों को बिलकुल मज्जा-मज्जा में समझ सकेंगे।

———

एतस्मिन्नन्तरे भूप विनाशाय सुरद्विषाम्।
भवायामरसिंहानामतिवीर्य्यबलान्विताः ॥११॥
ब्रह्मेशगुहविष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः।
शरीरेभ्योविनिष्क्रम्य तद्रूपैश्चण्डिकां ययुः ॥१२॥

अनुवाद। हे भूप सुरथ! इसी अवसर पर सुरविद्वेषीगणों के विनाश के लिये एवं देवश्रेष्ठगणों के मङ्गल के लिये ब्रह्मा-शिव कार्त्तिकेय विष्णु एवं इन्द्र की अतिवीर्य बलान्वित शक्तिगण, उनके (ब्रह्मा प्रभृति के) शरीर से निष्क्रान्त होकर, उसी-उसी रूप से आविर्भूत होकर चण्डिका देवी के निकट उपस्थित हुई।

व्याख्या। महर्षि मेधस ने यहाँ पर सुरथ को भूप कहकर सम्बोधन किया। जीव ने इतने दिनों में क्षितितत्व अर्थात् जड़त्व के ऊपर आधिपत्य करने की सामर्थ्य प्राप्त की है। जड़पदार्थ समूह चैतन्य व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है, यह बात सुरथ इतने दिनों में अच्छी तरह उपलब्धि कर सके हैं तभी तो ऋषिका इस प्रकार सम्बोधन है। शिष्य जैसे-जैसे स्तर स्तर में ज्ञान की उन्नत सीढ़ी पर चढ़ता जाता है, श्रीगुरु भी उसको तदनुकूल वाक्य प्रयोग करके उत्साहित कर जाते हैं। श्रीगुरु का उत्साह वाक्य ही शिष्य के आगे बढ़ने का एक मात्र सहारा है। मेधस इस बार दुरधिगम्य रहस्य की अवतारणा करेंगे, कहीं सुरथ स्वकीय जीव भाव के द्वारा आच्छन्न रहकर, उस रहस्य का अनुधावन न कर सके, ऐसी आशंका से पहिले ही "भूप" कहकर जड़त्व विजयी महाराज कहकर आवाहन किये।

असुर सैन्यवृन्द ने जब चारों दिशासे आकर देवी को घेर लिया, तब समग्र देवशक्ति सम्मिलित होकर देवी की सहायता के लिये उपस्थित्त हुईं। महिषासुरवध में देखा था– देवतागणों ने स्व स्व शक्ति अर्पण करके महती शक्ति को विशेष भावसे प्रबुद्ध (जाग्रत) किया था, एवं उसके फल से वे समझ सके थे कि उनकी निज-निज अस्त्र-शस्त्र अर्थात् स्व स्व शक्ति एकमात्र महामाया की ही महती शक्ति है; इससे अल्पायास से ही महिषासुर निहत हो गया था। किन्तु इस बार ये असुरवृन्द तद्पेक्षा भी प्रबल पराक्रमी, तद्पेक्षा भी दुर्जय हैं। इस बार तो केवल शक्तिसमर्पण द्वारा ही अभीष्ट सिद्धि होगी नहीं। इस बार महती शक्ति में समर्पित विभिन्न शक्तिसमूहों को फिर विशिष्ट भाव से आविर्भूता होने होगा।

यहाँ पर थोड़ा साधना का रहस्य है। साधकगण जान रखें। प्रथमतः स्व स्व विभिन्न शक्तियों को एक एक करके महती शक्ति के उद्देश्य से अर्पण करने होता है। अर्थात् एकमात्र चैतन्यमयी महती शक्ति का विभिन्न प्रवाह ही हमारे दर्शन, श्रवण, ग्रहण, मनन, प्रभृति विभिन्न शक्ति रूपसे प्रकाश पा रहा है, यह समझने होता है—उपलब्धि करने होता है। बाद में फिर यह एक ही महती शक्ति परिदृश्यमान विश्व-आकार से प्रकाश पा रही है, यह अनुभव करने होता है! अपनी नित्य अनुभव योग्य विभिन्न शक्तियों को महती मातृ-शक्ति के विभिन्न विलास रूप से नहीं समझ सकने से, समग्र विश्व के शक्ति-प्रवाह को एक अभिन्न चैतन्य शक्ति रूप से किसी प्रकार भी हृदयङ्गम नहीं किया जाता।

अपनी विशिष्ट (खण्ड) शक्ति को मिला दे सकने से ही शक्ति की क्षुद्रता और विशिष्टता दूर होती है। उस अवस्था में जीव ईश्वर भाव से अनुभावित होता रहता है। फिर महाशक्ति में समर्पित विशिष्ट शक्ति को अतिवीर्य - बलान्वित करके पुनराय फिरती लाकर जीवत्व की अच्छेद्य पाशों को छिन्न करने होता है। महाशक्ति में अर्पित होने के पूर्व विशिष्ट शक्ति मानों हीनबल रहती है; किन्तु एक

वार ईश्वर-शक्ति का संस्पर्श पाने से, वह भी अमितवीर्य हो जाती है। इसी से मंत्र में "अतिवीर्य्यबलान्विता" कहा गया है। अति वीर्य्य-बलान्विता है तभी तो यह असुर निधन में चण्डिका की सहायता करने में समर्थ होती है। श्रुति भी कहती है, "परास्य शक्ति-र्विविधैव श्रुयते।" परमात्मा की शक्ति परा अर्थात् महती एवं विविध है। पराशक्ति से ही तो विविध शक्ति का विकाश होता है। यह जान लेने ही से चण्डिका के शरीर से देवशक्ति समूह का निर्गम रहस्य समझ में आ जाता है। जैसे दर्शन श्रवण मनन ग्रहण प्रभृति नाना शक्ति समन्वित एक आधार को ही मनुष्य कहा जाता है, तैसे ही व्यष्टि समष्टि यावतीय विभिम्न शक्तियों का जो प्रकाश देखने में आता है वा अनुभव करने में आता है, वह सभी एकमात्र पराशक्ति वा परमात्मशक्ति के प्रकाश को छोड़कर और कुछ भी नहीं है।

"ब्रह्मेश गुह विष्णूनां तथेन्द्रस्य च शक्तयः" इस अंश की व्याख्या परवर्त्ती मंत्रों में विशेष भाव से मिलेगी। केवल "शरीरेभ्योविनि-ष्क्रम्य" इस अंश को लेकर थोड़ी आलोचना करना आवश्यक है। साधारणतः जान पड़ता है, ब्रह्मादि देवगणों के शरीर में से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्तियों का आविर्भाव हुआ था। "शरीरेभ्यः" पदमें बहु वचन का प्रयोग देखते हुए भी वैसा ही अर्थ ठीक मालूम पड़ता है। किन्तु बाद में शुम्भ वध में पाया जावेगा—ब्रह्माणी प्रभृति देवियाँ एकमात्र देवी अम्बिका ही के शरीर में विलीन हुई थी। जिस कारण में से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है, वह कार्य पुनः उसी कारण ही में लय प्राप्त होता है, यह ही अविसंवादित नियम और सिद्धान्त है; सुतरां चण्डिका के शरीर में से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्ति का आविर्भाव हुआ था, ऐसा ही अर्थ करना संगत है। और पक्षान्तर में ब्रह्मादि देवताओं के शरीर में से उनका निर्गम स्वीकार कर लेने में भी विशेष हानि नहीं; कारण ब्रह्मादि देवताओं के शरीर अम्बिका के शरीर से वास्तव में कोई भी अंश में विभिन्न

नहीं। जो हो, हम यहां पर चण्डिका के शरीर से ही ब्रह्माणी प्रभृति शक्तियों का निर्गम मान लेते हैं। मा का शरीर एक होने पर भी उसका असीमत्व लक्ष्य करके ही "शरीरेभ्यः" इस बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

पूर्व महिषासुर-वध में देवतागणों का अस्त्र-अर्पण वा शक्ति-अर्पण देखा गया है। और यहाँ पर उसी अर्पित शक्ति का विशिष्ट भाव से पुनः निष्क्रमण देख रहे हैं। वहां पर महिषासुर वधकाल में अर्पण द्वारा ही अभीष्ट सिद्ध हुआ था; क्योंकि तब थे अप्रकटित संचित संस्कार, वे थे अपेक्षाकृत दुर्व्वल, और यहां पर प्रकटित प्रारब्ध संस्कार, ये हैं फलोन्मुखी; सुतरां अतिशय बलवान् हैं। इसी से इसवार देव-शक्तियों को विशिष्ट भाव से समरक्षेत्र में आविर्भूत होना पड़ा है।

प्रियतम साधक! याद है क्या? पूर्व कहा जा चुका है, मा में जो अर्पित होता है, वही मातृशक्ति से शक्तिमान होकर पुनः अर्पण कारी के ही निकट लौट आता है। देखो, असुर कर्तृक निर्ज्जित देवतावृन्दों ने स्व स्व क्षीण शक्ति एक दिन मातृ चरणों में अर्पण की थी; और आज वही शक्ति अतिवीर्य्य बलान्विता होकर मूर्तिमती देव शक्ति रूप से अम्बिका के शरीर में से विनिष्क्रान्त होकर असुर-निधन के लिये आविर्भूत हुई है। इसी तरह तुम भी अकपट चित्त से जो कुछ मातृ-चरणों में अर्पण करोगे, सो, जितनी ही मलिन और क्षुद्र क्यों न हो, यदि ठीक-ठीक अर्पण कर सके, तो देखोगे—तुम्हारी वही अर्पित वस्तु कितनी उज्ज्वल, कितनी महान्, कितनी पवित्र होकर तुम्हारे पास लौट आवेगी।

———

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्वदेव हि तच्छक्तिरसुरान् योद्धुमाययौ ॥१३॥

अनुवाद—जिस देवता का जैसा रूप जैसा भूषण एवं जैसा वाहन है; उस देवता की शक्ति ने उसी प्रकार की आकृति, भूषण वाहन सह युद्धार्थ आई।

व्याख्या—जिस देवता का जैसा आकार, अर्थात् जो विशिष्ट चैतन्य जैसी विशिष्टता का अधिष्ठान है, वैसी विशिष्टता लेकर ही उस देवता की शक्ति समर क्षेत्र में उपनीत हुई। भूषण शब्द का अर्थ ऐश्वर्य वा विभूति, जिस देवता की जो विभूति है, वही उस देवशक्ति का विभूषण है। वाहन शब्द का अर्थ है शक्ति परिचालक आश्रय। प्रथम खण्ड में वाहनतत्व एवं द्वितीय खण्ड में भूषणतत्व सविस्तार व्याख्यात हो चुका है।

देवशक्ति का विषय और थोड़ा खुलासा भाव से आलोचना करना आवश्यक है। प्रत्येक देवता की ही एक विशिष्टता है। यह विशिष्टता ही शक्ति का कार्य है। शक्ति—कारण स्वरूप अदृश्य वस्तु है। शक्ति जब कार्य रूप से प्रकाश पाती है, तभी शक्ति की सत्ता का अनुमान होता है, नहीं तो शक्ति कभी भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होती। मान लो अग्नि की जो दाहिका शक्ति है, वह ताप प्रकाश प्रभृति कार्य द्वारा ही समझ में आती है; अन्यथा दाहिका शक्ति का स्वरूप कभी भी इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। यह शक्तितत्व विषयक ज्ञान ही जीव का चरम ज्ञान है। जगत बोलकर, देह बोलकर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय बोलकर, जो कुछ देखने में आता है, उपलब्धि किया जाता है, ये सभी एकमात्र पराशक्ति का ही विभिन्न विकाश है; इसे समझ लेने ही से जीव धन्य होता है। जीव साधारणतः शक्ति की विकाश अवस्था वा कार्यमात्र को देख पाता है और उसी में मुग्ध रहता है, शक्ति का यथार्थ स्वरूप जानना नहीं चाहता; इसी से शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त नहीं होता। तब हाँ यह भी एकान्त सत्य है कि,

शक्ति स्वयं यदि पकड़ाई न दे, तो किसी की सामर्थ्य नहीं कि किसी प्रकार के कौशल वा प्रक्रिया द्वारा उसे धर सके वा समझ सके। इसी से तो अनेक समय कहता रहता हूं—मा हमारी सर्व्व रूप से सर्वत्र सुप्रतिभात होते हुए भी स्वयं किन्तु नित्य ही अदृश्या अग्राह्या अलभ्या, वाक्य मन को अगोचरा होकर रहती हैं।

शक्ति तत्व के सम्बन्ध में और एक बात जानना आवश्यक है। ब्रह्मनिरूपण सूत्र में "जन्माद्यस्ययतः" इस वाक्य के कहने ही में परमात्मा का शक्ति स्वरूपत्व स्वीकृत हुआ है। "जिससे जगत की उत्पत्ति स्थिति एवं लय होता है, वे ही हैं ब्रह्म" इस वाक्य द्वारा ही ब्रह्म की शक्ति स्वरूपता प्रमाणित होती है, सुतरां जो निर्गुणत्व भङ्ग के भय से ब्रह्म के शक्ति स्वरूप को अस्वीकार करते हैं, हम यहाँ पर उनके साथ सम्पूर्ण एकमत नहीं हो सकते। हमने जहाँ तक समझा हैं, शक्तिरूपिणी माँ ने हमारे हृदय में जितना भी आत्म प्रकाश किया है, उससे भलीभांति कहा जा सकता है— "एकमेवाद्वितीयं" वस्तु चितिशक्ति व्यतीत अन्य कुछ भी नहीं। इस जगद्रूप कार्य द्वारा ही उसका शक्तिरूपत्व विशेष भाव से समझा जा सकता है। और जब जगत्रूप कार्य नहीं रहता, सजातीय विजातीय एवं स्वगत भेद भी नहीं रहता, केवल विशुद्ध बोध स्वरूप उद्भासित होता है· तब उनको शक्तिमय वा शक्तिहीन, कुछ भी नहीं कहा जाता। तब हाँ जबतक परमात्मा में शक्तिमय स्वरूप प्रत्यक्ष होता है, तबतक उनमें जीवत्व और ईश्वरत्व रूप द्विविध महत्व परिलक्षित होता है। जीव भाव में सजातीय, विजातीय एवं स्वगत, ये तीनों ही भेद नजर आते हैं। ईश्वरभाव में स्वजातीय एवं विजातीय भेद नहीं रहता, केवल स्वगत भेद की उपलब्धि होती है। जीव साधना द्वारा, ज्ञान भक्ति के अनुशीलन द्वारा, इसी ईश्वरत्व पर्यन्त लाभ कर सकता है, तत्परवर्त्ती स्वरूप सर्व्वविध साध्य साधना के अतीत है इसीसे शास्त्र एवं महापुरुषगण तत्सम्बन्ध में मूक हैं। तब हाँ यह निश्चित है कि, जीव जब साधना फल से किंवा माकी कृपा से इस

ईश्वरत्व में अर्थात् आत्मा के शक्तिमय स्वरूप में उपनीत हो सकता है, तब—केवल तभी, निरञ्जन स्वरूप उद्भासित होता है। ईश्वरत्व का कुछ भी आस्वाद न पाते हुए भी यदि कोई निरञ्जन स्वरूप के सम्बन्ध में कोई बात बोला करते हैं, मात्र महावाक्य का अर्थ विचार करके 'अहं ब्रह्म" कहकर ब्रह्मज्ञ पुरुषका ढोंग करते हैं। ऐसी हालत में समझना होगा कि वे यथार्थतत्वसे अभी भी बहुत दूर पड़े हैं ? वहां पर उस निरञ्जन क्षेत्र में उपस्थित होकर फिर उन्हें शक्तिमय कहने में भी हानि नहीं, शक्तिहीन कहने में भी हानि नहीं; उभयरूप कहने में भी हानि नहीं, उभयाभाव रूप कहने में भी हानि नहीं। वही सब अथवा वे इनमें कुछ भी नहीं हैं। वह कितने मधुमय कितने आनन्दमय है सो भाषा में कैसे समझाऊं।

अच्छा जो भी हो, सगुण और निर्गुण उभय अवस्था में परमात्मा की शक्तिस्वरूपत्व स्वीकार कर लेने ही से साधन मार्ग सुगम होता है इसके बाद यदि उन दोनों के आधाररूप से किसी अज्ञेय सत्ता को स्वीकार करना पड़े तो उसमें भी हमारी कोई आपत्ति नहीं है। तब हां एक बात याद रखनी होगी—जो शक्ति का आश्रय है, सो शक्ति के स्वरूप से एकान्त भिन्न पदार्थ नहीं हो सकता। हम कथा प्रसङ्ग में विचार के मार्ग में आ पड़े हैं। नहीं तो जो प्रत्यक्ष अनुभूत है उसमें फिर तर्क किंवा विचार का अवसर कहाँ है ?

हंसयुक्तविमानाग्रे साक्षसूत्रकमण्डलुः ।
आयाता ब्रह्मणः शक्ति ब्रह्माणी साभिधीयते ॥१४॥

अनुवाद—हंसयुक्त विमान पर आरोहण करके अक्षसूत्र एवं कमण्डलुधारिणी ब्रह्मा की शक्ति युद्धक्षेत्र में आ उपस्थित हुई। ये ब्रह्माणी नाम से परिचित होती हैं।

व्याख्या—यहाँ से लेकर सात मंत्रों तक देवशक्तियों का विस्तृत विवरण मिलेगा। ब्रह्माणी—सृष्टिशक्ति। अखण्ड चैतन्य

समुद्र के जिस अंश में सृष्टिक्रिया प्रकाश पाती है, उसी चैतन्यांश का नाम है ब्रह्मा, अर्थात् आत्मा जहां पर सृष्टि क्रिया का अभिमान करती हैं, वहीं पर वे ब्रह्मा नाम से परिचित होती हैं। और उस चेतनाधिष्ठान से जो क्रियाशक्ति प्रकाश पाती है, उसका नाम है ब्रह्माणी; सुतरां साधना की दृष्टि से ब्रह्मा एवं ब्रह्माणी में वास्तविक कोई भेद ही नहीं परिलक्षित होता। शक्ति वस्तु यदि चैतन्याश्रय व्यतीत सत्तामय होती, तो भेद स्वीकार किया जाता एवं तैसा अनुभव भी होता। शक्ति का सर्व्वावयव ही जब सत्ता वा चेतना है, तो फिर शक्ति को चैतन्य कहने से कुछ भी हानि नहीं होती। दाहिका शक्तिको अग्नि कहने में क्या हानि है ? अवश्य तर्कमूलक सूक्ष्म विचार से उसमें भी नाना तरह की आपत्तियां हो सकती हैं। किन्तु जो साधक हैं उनके लिये शक्ति शक्तिमान् अभिन्न मान लेने में कुछ भी हानि नहीं होगी। बाद में यदि कुछ भेद भी हो, तो वह अपने आप ही अनुभव गोचर हो जाता है। उसके लिये किसी प्रकार शास्त्र की दोहाई देने की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा नितान्त प्रत्यक्ष एवं एकान्त सहज वस्तु है; सुतरां अन्धों की तरह कुछ भी मान लेने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु वह और बात है।

हंस—जीव। अक्षसूत्र—वर्णमाला। कमण्डलु—सृष्टि का बीजाधार वा विराट कर्माशय। खुलाशा कहते हैं, समझने की चेष्टा करो — तुम्हारा जैसे व्यष्टि (खण्ड) मन है, प्रत्येक जीव का ही उसी तरह है। ये व्यष्टि मन समूह एक समष्टि मन के ही अंशमात्र हैं। इसी समष्टि मन का नाम दो विराटमन। ये ही हैं ब्रह्मा। मन का धर्म्म है कल्पना। यह विश्व विराट मनकी कल्पना है। कल्पना है एक शक्ति, वह मन का धर्म्म वा स्वरूप है। इसी कल्पना-शक्ति का नाम है ब्रह्माणी; ये हैं हंसवाहिनी। प्रति जीवों के जो विभिन्न संकल्प देखते हो, उसी में होकर इस समष्टि मन का प्रकाश समझ में आ सकता है, सुतरां जीवही सृष्टि शक्ति का परिचालक है। जीवका आश्रय करके ही सृष्टि शक्ति का प्रकाश है। जीव यदि न रहे, तो सृष्टि शक्ति जो

है, उसके समझने का उपाय नहीं रहता। इसी से सृष्टिशक्तिरूपिणी ब्रह्माणी का वाहन जीवरूपी हंस है। जीव को हंस कहने का और एक मतलब है। वह श्वास प्रश्वास से दिवारात्रि में साधारणतः इक्कीश हजार छः शत हंस मंत्र जप करता रहता है, इसे अजपा कहते हैं। ये सब बातें पूर्व में भी कही जा चुकी हैं।

अक्षसूत्र - वर्णमाला। कल्पना समूह शब्दव्यतीत अन्य कुछ भी नहीं है। यह विश्व कुछ विशिष्ट शब्दों द्वारा ही गठित है। शब्द-समूह वर्ण समष्टि व्यतीत अन्य कुछ नहीं। वर्णों की संख्या है पञ्चाश। पञ्चाशत् वर्णमाला ही ब्रह्माणी की अक्षमाला है। पूर्व में काली की मुण्डमाला में जो वर्णमाला की बात कही गई है, भावोत्पादन में सामर्थ्यहीन होने से वह शवमुण्डमाला है। और प्रतिक्षण में असंख्य भावों की सृष्टि करने में समर्थ है, इसीसे ब्रह्माणी की वर्णमाला अक्षमाला है। अवशिष्ट रहा कमण्डलु। पूर्व पूर्व कल्पों के सृष्टि के बीजों के अनुसार ही पुनः अभिनव (नितनई वा विचित्र) सृष्टि का आरम्भ होता है, इसी सृष्टि के बीजाधार ही को ब्रह्माणी का कमण्डलु कहा गया है। पुनः पुनः इन सब बातोंका विस्तारित कहना निष्प्रयोजन है।

माहेश्वरी वृषारूढ़ा त्रिशूलवरधारिणी।
महाहिवलया प्राप्ता चन्द्ररेखाविभूषणा ॥१५॥

अनुवाद—वृषारूढ़ा त्रिशूलधारिणी सर्पवलया चन्द्रकलाविभूषिता माहेश्वरी युद्धार्थ उपस्थित हुई।

व्याख्या—माहेश्वरी—लयशक्ति। अखण्ड चैतन्य समुद्र के जिस अंश में प्रलयभाव प्रकाश पाता है, उसी चैतन्यांश का नाम है महेश्वर। अर्थात् आत्मा जहाँपर प्रलय क्रिया का अभिमान करती हैं, उसी स्थान में वे महेश्वर नाम से परिचित होती हैं। उस चेतनाधिष्ठान से जो प्रलयरूप क्रिया प्रकाश पाती है, सोई माहेश्वरी है। ये वृषा-

रूढ़ा हैं। वृष शब्द का अर्थ है धर्म्म। धर्म्म का आश्रय करके ही ज्ञान-शक्ति परिचालित होती है। शास्त्रीय विधि-निषेध परिचालनरूप धर्म्म यथारीति अर्जित नहीं होने से ज्ञानशक्ति का विकाश नहीं होता है। प्रथमखण्डका वाहनतत्व द्रष्टव्य।

त्रिशूल—त्रिपुटीज्ञान। यह द्वितीय खण्ड में विशेषभाव से आलोचित हुआ है। महाहिवलया—महा अहि—महासर्प अर्थात् कुण्डलिनी। ये वलयाकार से स्वयम्भू लिङ्गको वेष्टन किये हुए हैं। कुण्डलिनी क्या है एवं उसे सर्प क्यों कहा गया, यह बात भी पूर्व आलोचित हो चुकी है। चन्द्ररेखाविभूषणा—चन्द्ररेखा शब्द का अर्थ है चन्द्रकला। चन्द्रकी सोलह कला हैं, उनमें पन्द्रहकला तो तिथिरूप से परिचित है; अवशिष्ट कला का नाम है अमा। यह अमा नाम्नी महाकला ज्ञानशक्तिरूपिणी माहेश्वरी के ललाट पर (एक देशमें) अवस्थित है। अमाशब्द का अर्थ करते हुये प्राचीन शास्त्रकारगणोंने इसे अघटनघटनपटीयसी माया कहकर व्याख्या की है। यह अमा वा माया ही ज्ञानशक्ति का विशिष्ट विकाश है। जिस महती ज्ञानशक्ति का आश्रय करके माया कीं लीला संघटित होती है, वे भी असुरनिधन उद्देश्य से चण्डिका की सहायतार्थ माहेश्वरीमूर्त्ति से आविर्भूत हुई।

कौमारी शक्तिहस्ता च मयूरवरवाहना।
योद्धु मभ्याययौ दैत्यानम्बिका गुहरूपिणी ॥१६॥

अनुवाद—गुह अर्थात् कार्त्तिकेयरूपधारिणी अम्बिका देवी कौमारी शक्ति रूप से शक्ति अस्त्र हस्ते धारण करके, मयूरपर आरोहण पूर्वक दैत्यगणों के साथ युद्ध करने के लिये समरक्षेत्र में उपस्थित हुईं।

व्याख्या। कौमारी—असुर विजयिनी कार्त्तिकेयशक्ति। ये देव सैन्य परिचालिका हैं। देवशक्ति और असुरशक्ति का रहस्य

द्वितीय खण्ड में विशेषभाव से विवृत हो चुका है। जो असुर विजयिनी शक्ति आसुरिक वृत्ति समूह के दमनार्थ देवशक्ति समूहकी परिचालना करती हैं वेही हैं कौमारी शक्ति। तदधिष्ठित चैतन्य-शक्ति कुमार वा कार्त्तिकेय नाम से परिचित होती हैं। इनका वाहन है मयुर। सर्पभोजी विहङ्ग। सर्प-कुटिलगति। साधारणतः इन्द्रिय वृत्तिसमूह विषयाभिमूखी विसर्पित भाव से कुटिलगतिसे परिचालित होती है; जब कोई साधक उसे विलय करने योग्य बल वा सामर्थ्य अर्ज्जन कर सके तभी, मयूरधर्मी होता है। ऐसा मयूरधर्मी जीव ही कौमारी शक्तिका वाहन है। आत्मा के जिस अंशमें देवभाव समूह असुर भाव के विमर्द्दनार्थ परिचालित करने का भाव प्रकाश पाउठे, उसी अंश का नाम कुमार वा कार्त्तिकेय है। उस अधिष्ठान चैतन्य का आश्रय करके जो शक्ति देवभाव समूह की परिचालना करती हैं, वेही हैं कौमारी शक्ति।

तथैव वैष्णवी शक्तिर्गरुड़ोपरि संस्थिता।
शङ्ख-चक्र गदा-शार्ङ्ग-खड़गहस्ताभ्युपाययौ ।।१७।।

अनुवाद—उसी प्रकार वैष्णवी शक्ति गरुणोपरि आरोहणपूर्व्वक शङ्ख, चक्र, गदा, धनु एवं खड़ग हस्ते धारण कर समर क्षेत्र में उपस्थित हुईं।

व्याख्या – जो चैतन्यसत्ता स्थिति शक्ति में अभिमान करती हैं, वही हैं विष्णु। स्थिति वा पालन ही है उनकी शक्ति। शङ्ख, चक्र, गदा प्रभृति शब्दों की व्याख्या इति पूर्व में की जा चुकी है। शार्ङ्ग शब्द का अर्थ—धनु अर्थात् प्रणव एवं खड़ग शब्द का अर्थ द्वैत-प्रतीति-विलयकारक अद्वय ज्ञान। विष्णु शब्द व्यापकता-वोधक हैं। जिस सर्वव्यापी अखण्ड ज्ञान के उदय होने से, द्वैत प्रतीति विलय को सदा प्राप्त होती है, वही अखण्ड ज्ञानही विष्णु के हस्त स्थित खड़ग है। गरुड़ शब्द का अर्थ इसके पूर्व वाहन तत्व व्याख्या

वसर में कहा जा चुका है। त्रिवृद वेदही विष्णु शक्ति का परिचालक हैं; इसीसे वेदसमूह ही है गरुड़। यह सिर्फ हमारी स्व कपोल कल्पित व्याख्या नहीं है। स्वयं व्यासदेव श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार बोले है। जो ईश्वर कहने से किसी एक विशिष्ट मूर्त्तिमात्र को समझ बैठते हैं, जो श्री भवगान की कालीयदमन, रासलीला, वस्त्र-हरण प्रभृति अलौकिक लीलारहस्य श्रवण करके श्री कृष्ण को एक विशिष्ट मूर्त्तिमात्र समझ बैठते हैं, वे श्रीमद्भागवत ग्रन्थ को थोड़ा विशेष ध्यान देकर पढ़के देखैं, स्वयं व्यासदेव स्पष्ट ही बौले हैं— लौकिक लीला बहानेसे अभूतपूर्व आध्यात्मिक रहस्य प्रकटन करने के लिये ही भगवान को विशिष्ट मूर्त्ति परिग्रह करनी होती है। साघक? याद रखना अमूर्त्तस्वरूप का रहस्य सम्यक रूप से अवगत नहीं हो सकने तक मूर्त्ति का स्वरूप किसी प्रकार भी हृदयङ्गम नहीं हो सकता सुतरां जो मूल वस्तु विभिन्न मूर्त्ति धारण करती हैं, उनका स्वरूप जानना एकान्त आवश्यक है। वर्त्तमानकालमें जो धर्मग्लानि का लक्षण प्रकाश पा रहा है, उसका प्रधान हेतु—यही मूर्त्त अमूर्त्त विषयक सम्यक् ज्ञान का अभाव है। विज्ञानमय गुरु—सनातन धम प्रतिष्ठाता स्वयं भगवान् इस अज्ञानता को दूर करके देशमेंसे इस धर्मग्लानि का हेतु सम्यक् विदूरित करें।

———

यज्ञवाराहमतुलं रूपं या बिभ्रतो हरेः।
शक्तिः साप्याययौ तत्र वाराहीं बिभ्रती तनुम् ॥१८॥

अनुवाद—हरि की जिस शक्ति ने यज्ञवराह के रूप की तरह अतुलनीय रूप धारण किया था वे भी शौकर वपु धारणपूर्व्वक युद्ध-स्थल में उपस्थित हुईं।

व्याख्या। वाराही—ये भी विष्णु की अन्यतम शक्ति विशेष हैं। पुराण में वर्णित है—स्वयं विष्णु वराह रूप धारणपूर्वक

प्रलयमग्न वसुन्धराको दंष्ट्रा द्वारा उद्धृत किये थे। वराह भगवान विष्णु का ही एक नाम है। इस वराह शब्द का आध्यात्मिक अथ— एक कल्प परिमित काल। वर शब्द का अर्थ – श्रेष्ठ अर्थात् आत्मा; उनको जो आहनन करते हैं, अर्थात् आवृत करते है वे ही हैं वराह। कालसत्ता ही सर्व्वप्रथम आत्मा को आवृत करती है, अर्थात् आत्मा में सर्व्वप्रथम कालसत्ता ही परिकल्पित होती है; कालही आत्मा का सर्व्वप्रथम आवरण है। वर्त्तमान में हमारी इस पृथिवी पर वराहकल्प नामक काल-प्रवाह चल रहा है। चतुर्दश मन्वन्तर का एक कल्प होता है। सम्प्रति श्वेतवराह कल्प के छः महायुग अतीत हो चुके हैं, सप्तम मन्वन्तरीय सप्तविंशति संख्यक कलियुग चल रहा है। इस वराह कल्प के सुदीर्घ काल अतीत होने के बाद, हमारी वासभूमि इस वसुन्धरा की सृष्टि हुई। सृष्टि के पूर्व यह प्रलय सलिल में मग्न ही थी, इसीसे पुराणकारगण विष्णु की वराह मूर्त्ति-कर्त्तृक वसुन्धराका उद्धार वर्णन करते हैं। अति दीर्घकालरूप वराह कल्प के एक देश में यह वसुन्धरा अवस्थान करती है; इसीसे वराह के दाँत में अर्थात् सुविशाल अवयव के एकदेश में वसुन्धरा अवस्थित है। काली-शक्ति; एवं बाराहीशक्ति में प्रभेद यही है कि - काली प्रलयंकरी समष्टि महाकाल-शक्ति; और वाराही मात्र एक कल्परूप व्यष्टि कालशक्ति। यह शक्ति जगत की आधार स्वरूप है इसीसे इसको भी विष्णुशक्ति कहा जाता है। पालनशक्ति और आधार-शक्ति प्राय अभिन्न है। हमारा यह भूलोक जिस विशाल कालरूप आधार पर अवस्थित एवं परिधृत है वह ही है वराह, और उसी भूलोक-विभ्रती (धारिणी) महती शक्ति का नाम ही है वाराही।

———

नारसिंही नृसिंहस्य बिभ्रतीसदृशं वपुः ।
प्राप्ता तत्र सटाक्षेपक्षिप्त-नक्षत्र संहतिः ॥१६॥

अनुवाद—नारसिंही नृसिंहदेव के तुल्य देह धारण करके युद्ध-स्थल में उपनीत हुई। उनके केशराघात से नक्षत्रसमूह विक्षिप्त होने लगे।

व्याख्या। नारसिंही—ये भी विष्णु की अन्यतम शक्ति विशेष हैं। नृसिंह—स्वरूपज्ञान। आत्मस्वरूप-विषयक ज्ञान का उदय होने से ही मनुष्य श्रेष्ठत्व लाभ करता है। नृ शब्द का अर्थ है मनुष्य एवं सिंह शब्द है श्रेष्ठवाचक। इन्होंने हिरण्यकशिपू को निहत किया था। हिरण्य शब्द का अर्थ है आत्मा यह श्रुतिसिद्ध है। जो हिरण्य को अर्थात् निर्व्विकल्प परमात्मा को कशित करे निगृहीत करे अर्थात विषयाभिमान रूप में प्रकटित करे, वही है हिरण्यकशिपु। इस हिरण्यकशिपु असुर को एकमात्र आत्मस्वरूप-विषयक यथार्थ ज्ञान ही विनाश करने में समर्थ है। इसीसे नृसिंह शब्द का अर्थ हैं स्वरूप-ज्ञान; इस नृसिंह के हस्त ही से हिरण्यकशिपु का निधन होता है। नर जबतक स्वकीय स्वरूप न समझ सके, तबतक वह किसी तरह भी सिंह वा श्रेष्ट नहीं हो सकता। पुराणकारगणों ने हिरण्यकशिपु के वध का जो विवरण दिया है, सो अति अपूर्व्व तत्वज्ञानपूर्ण आख्यान है। प्रथमतः तपस्या द्वारा उसने ब्रह्मा के पास से वरलाभ किया था—देवता यक्ष रक्ष गन्धर्व किन्नर नर पशु विहङ्गमादि कोई भी उन्हें विनाश नहीं कर सकेगा। सत्यहीतो, किसी भी तरह के विशिष्ट ज्ञान के रहते हिरण्यकशिपु निहत नहीं होता। निर्विकल्प ज्ञान के विना सविकल्प ज्ञानरूपी असुर को और कोई भी विलय नहीं कर सकता। हिरण्यकशिपु की सन्तान प्रह्लाद—आनन्दमय ब्रह्मज्ञान है। थोड़ा-थोड़ा करके जितना ही उसका प्रकाश होता जाता है, अज्ञान उतना ही उसके विनष्ट करने के लिये नाना तरह के उपायों का अवलम्बन करता है। क्रम से जल स्थल में अनल अनिल गगन में सर्वत्र प्रह्लाद

के हरिदर्शनरूप सत्यज्ञान के प्रभाव से नृसिंह मूर्त्ति का आविर्भाव होता है, अर्थात् आत्मस्वरूप विषयक यथार्थ ज्ञान उद्‌बुद्ध हो उठता है, तभी भेदज्ञान वा हिरण्यकशिपु निहत होता है।

साधक तुम भी देखो—तुम्हारे अन्दर अन्दर जो बालक भक्त प्रह्लाद—आनन्दमय ब्रह्म सत्ता का स्फुरण दिन दिन परिवर्द्धित होता है उसे विनष्ट करने के लिये तुम्हारा विषयासक्त-मनरूपी हिरण्यकशिपु कितनी न चेष्टा करता है। कितनी निर्य्यातना सह्य करके तुम्हारा आनन्दमय शिशुका सत्यज्ञान सर्व्वत्र सत्यदर्शन करनेके लिये अभ्यास सुदृढ़ और परिवर्द्धित कर रहा है। एक दिन यह सत्यज्ञान ही तुम्हारे जड़त्व ज्ञानरूपी स्फटिक स्तम्भ को विदीर्ण करके विशुद्ध बोधमात्र-रूपसे प्रकटित होंगे। तुम नृसिंह मूर्ति दर्शन से आत्महारा (मुग्ध) होओगे, तुम्हारा मनोरूपी हिरण्यकशिपु विनष्ट होगा। किन्तु वह और बात।

नृसिंह की शक्ति ही नारसिंही है। ब्रह्मविद्या ही नारसिंह शक्ति है। कारण, ब्रह्मविद्या के प्रभाव से ही जीव नृसिंह होता है अर्थात आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इसके आविर्भाव से विशिष्ट ज्ञान-रूपी असुर समूह विनष्ट हो जाते हैं, इसे समझाने के लिये "सटा-क्षेपक्षिप्तनक्षत्र संहतिः" वाक्य कहा गया है। सटाक्षेप शब्द का अर्थ स्वकीय शक्तिप्रभाव। विशिष्ट ज्ञानको नक्षत्र कहनेमें भी थोड़ा उद्देश्य है। हम प्रतिनियत जिन विषयों को ग्रहण करते हैं, अर्थात् जिस विशिष्ट ज्ञानमें विचरण करते हैं, उनमें अतिक्षीण भाव से कुछ रोशनी वा आत्मप्रकाश है। आत्मप्रकाश नहीं होने से, किसी प्रकारका भी विशिष्टज्ञान होही नहीं सकता। नारसिंही वा विद्या, शक्ति समरक्षेत्र में अवतीर्ण होकर सत्यज्ञान की उस विशिष्टता को विदूरित कर देती हैं। साधक ? यदि तुमने सत्य ही मातृचरणोंमें आत्मसमर्पण किया है, तो निश्चय ही देखोगे—तुम्हारे हृदयाकाश-रूप रणक्षेत्र में से तुम्हारे ही स्वेच्छाकल्पित विशिष्ट ज्ञान को

अपसारित करके विद्याशक्ति किस तरह के प्रयत्न से धीरे-धीरे विशुद्ध बोध उदय के उपाय का विधान करती हैं।

वज्रहस्ता तथैवैन्द्री गजराजोपरि स्थिता।
प्राप्ता सहस्रनयना यथा शक्रस्तथैव सा ॥२०॥

अनुवाद। इसी प्रकार इन्द्र के तुल्य रूपधारिणी वज्रहस्ता गजारूढ़ा सहस्रनयना इन्द्राणी शक्ति युद्धार्थ उपस्थित हुई थीं।

व्याख्या। इन्द्र—देवाधिपति। उनकी शक्ति इन्द्राणी। वज्रहस्ता, गजारूढ़ा प्रभृति की व्याख्या द्वितीय खण्ड में कही जा चुकी है। यहाँ पर केवल सहस्रनयना वाक्य का रहस्य समझ सकने से ही नेत्र का अर्थ हृदङ्गम होगा। सहस्र शब्द असंख्यवाचक। नयन शब्द का अर्थ प्रकाश शक्ति। जिनका प्रकाश-भाव असंख्य विशेषणयुक्त होकर असंख्य प्रकार से परिचित होता है। वेही हैं सहस्रलोचन इन्द्र। उनकी वह प्रकाशशक्ति है इन्द्राणी। समस्त देवाधिपत्य वाक्य का तात्पर्य—समस्त देवशक्ति में होकर स्वकीय शक्ति का प्रकाशित करना। पुराणकारगणों के आख्यानों में वर्णित हुआ है—गुरुपत्नी हरणरूप महापाप के फल से इन्द्र के शरीर में सहस्रक्षत (घाव) हो गये थे; कठोर तपस्या के फल से वे क्षत समूह ही फिर नेत्ररूपमें परिणत हो गये। गुरु एकमात्र परमात्मा। उनकी स्वप्रकाश शक्ति को इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवर्ग के अधिपति इन्द्रदेव यथार्थ ही आत्मसात् करते हैं, एवं उसी के फल से स्वयं बहुभाव से विभक्त हो पड़ते हैं। तपस्यादिके फलसे जब थोड़ी थोड़ी करके ज्ञानचक्षु उन्मीलन होते जाते हैं, तब इन बहुभावों के भीतर होकर ही आत्मा का स्व-प्रकाशत्व देखने में आता है, तबही इन्द्रदेव सहस्रनयन हो जाते हैं। साधक! तुम भी देखो—तुम्हारे गुरुशक्ति को तुम्हारे इन्द्रियगण हमेशा अपहरण करते हैं; इसीसे तो एक ही प्रकाश शक्ति की नाना

विषयों के भीतर होकर असंख्य प्रकार से भोग करते करते, तुमको कितना ही न क्षत विक्षत होने होता है। तुम सत्य और प्राण प्रतिष्ठा की सहायता से इन असंख्य क्षतों में होकर एकही प्रकाशशक्तिके असंख्य भेद देखनेमें अभ्यस्त होओ। तुम्हारे क्षत समूह निश्चय ही नेत्ररुमें परिणत होंगे।

ततः परिवृत स्ताभिरीशानो देवशक्तिभिः।
हन्यन्तामसुराः शीघ्रं मम प्रीत्याह चण्डिकाम् ॥२१॥

अनुवाद—बाद में स्वयं ईशान उन देवशक्तिगण कर्त्तृक परि-वेष्ठित होकर चण्डिका देवीको बोले—इस बार मेरी प्रीतिके लिये असुरकुलको निहत किया जाय।

व्याख्या—यहाँ तक जिन अष्टशक्तियों का विषय कहा गया है, उनका नाम—ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही नारसिंही इन्द्राणी एवं (पूर्वकथित) चामुण्डा ब्रह्मा महेश्वर कार्त्तिकेय प्रभृति विशिष्ट चैतन्य जो है शक्ति व्यतीत और कुछ नहीं, इसे विशेष भाव से समझाने ही के लिये युद्धक्षेत्र में पूर्वोक्त अष्टशक्तिका आविर्भाव वर्णित हुआ हैं। साधकगण सर्वशेष में इस शक्तितत्व में उपनीत हों। इसी से शास्त्र में भी उक्त है—"शाक्ता एव द्विजा सर्व्वे।" जो द्विज अर्थात् वैदिकी दीक्षाके फलसे जिनको द्वितीय जन्म प्राप्त हुआ है, वही है साधक व सभी हैं शाक्त। शैव वैष्णव गाणपत्य प्रभृति सम्प्रदाय भी कार्यतः इस शक्तिकी ही उपासना करते हैं, तब हाँ जबतक शक्ति का सन्धान नहीं पाते, तबतक अपने को शाक्त कहकर परिचय नहीं देना चाहते। क्रम से जब गुरुकृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होते जाते हैं, तब देखते है—ज्ञान वा अज्ञान से (जाने वा बिना जाने में) सभी एकमात्र शक्ति को ही उपासना करते हैं। इस शक्ति ज्ञानसे ही जीव के मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है। अच्छा जो हो, शक्ति

एवं शक्तिमान् अर्थात् अधिष्ठान चैतन्य और अधिष्ठित शक्ति, ये दोनों पूर्णतः अभिन्न वस्तु हैं, एवं अधिष्ठान–चैतन्य जो है शक्ति भिन्न अन्य कुछ नहीं, सो इस चण्डीतत्वमें प्रवेश करने से, अनायास में बोधगम्य होता है। पूर्व में भी कहा चुका हूं—आत्मा को शक्ति-स्वरूप वस्तु मानकर समझ लेने होगा, ऐसा होने से ही साधनपथ अनेक्त सुगम होने लगेगा। तब हाँ विशेष वात यह है कि निर्व्विकल्प बोधस्वरूप आत्माको यकायक (पूर्णरूप) से शक्तिस्वरूप समझ लेना अत्यन्त दुरूह है; इसीसे महर्षि श्री मेधस् प्रथमतः आत्मविभूति समूह को–आत्मा के स्वाधीन विलासों को शक्तिस्वरूप कहकर समझाने का प्रयास कर रहे हैं, इसीलिये ही उन्होने यहाँपर ब्रह्माणी प्रभृति शक्तितत्व की अवतारणा की। याद रखना साधक, शक्ति-वस्तु चैतन्यसे अनतिरिक्त (अभिन्न) पदार्थ है। आओ अव इस मन्त्र के अर्थकी समझनेकी चेष्टा की जाय। मंत्र में उक्त हुआ है—"ईशान ने पूर्वोक्त शक्तिगणकर्त्तृक परिवृत्त होकर असुर निधन के लिये चण्डिका से प्रार्थना की।" जिस समष्टि अधिष्ठान चैतन्यमें पूर्व कथित ब्राह्मी माहेश्वरी प्रभृति अष्टशक्ति प्रकाशित होती हैं, वही हैं ईशान—वे ही प्रलयके देवता विशुद्ध बोधमय महेश्वर हैं। ईशानरूप अधिष्ठानमें ही अष्टशक्ति विराजती हैं। इन्हीं अष्टशक्ति विशिष्ट ईशन ने आज चण्डिकासे असुर निधन के लिये अनुरोध किया अर्थात् विज्ञानमय सर्वभूत महेश्वर गुरु ने इतने दिनोंमें (अब) सर्व-भावविलय के लिये चितिशक्ति-के प्रति अनुप्रेरणा की। ईशान आज अपनेको अष्टशक्ति के अधिष्ठान रूप से प्रत्यक्ष करके एवं अष्ट शक्तिको असुर हननको समुद्यत देखकर स्वयं चितिशक्तिको विशेष भाव से उद्बुद्ध करने की चेष्टा की।

साधक? देखो एक बार अपने हृदयकी ओर नजर करके? तुम्हारे ज्ञानरूपी महेश्वर शववत् शो रहे हैं, उनमें कोई तरह की चेष्टा वा कार्य है, सो मालूम नहीं पड़ता। उनके पदतले विमर्दित करके नाना विध शक्ति अवतक विषय सम्भोगका–वहुत्वका ताण्डव नृत्यविलास

करती थीं। आज वही शक्ति समूह विशेष भावसे संक्षुब्द हो उठी हैं, वे बहुत्व को—सर्वत्व को विलय करके एक अखण्ड चितिशक्तिमें मिला जाने के लिये उद्यत हैं, धन्य हो साधक तुम! धन्य है तुम्हारी साधना और धन्य है तुम्हारा मानव जीवन? आज तुम्हारे हृदयस्थ गुरु—स्वयं ईशान असुर क्षय के लिये सचेष्ट हैं। अबतक केवल तुमहीं असुर, अत्याचार निवारण की चेष्टा करते थे, आज तुम्हारे गुरु भी तुमको सम्यक् निर्मुक्त करने के लिये उद्यत हैं। तुमको अब भय नहीं। तुम शीघ्रही अखण्ड परमानन्द रसका आस्वाद पाओगे।

ईशान बोले—"ममप्रीत्या" मेरी प्रीत्यर्थ। असुरकुल निहत होने से ही से ईशान का परम प्रीति प्राप्त होगी। गीतामें उक्त है—"सर्व्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" समस्त कर्म अर्थात् यावतीय शक्तिप्रवाह ज्ञानमें अर्थात् ईशानमें आकर पर्य्यवसित होते हैं; असुर निर्मूल होने ही से ईशान सर्व्वशक्ति समन्वित होकर सर्वतोभावसे स्वरूपप्रतिष्ठ हो सकेंगे, इसीसे असुरनिधन में उनकी एकान्त प्रीति है।

———

ततो देवीशरीरात्तु विनिष्क्रान्तातिभीषणा।
चण्डिका शक्तिरत्युग्रा शिवाशतनिनादिनी॥२२॥

अनुवाद—अनन्तर देवी के शरीर से अतिभीषणा चण्डिका शक्ति एवं अति उग्रा और भयानक निनादकारिणी शत शत शिवा विनिष्क्रान्त हुई।

व्याख्या - दयामय गुरु ईशान ने प्रार्थना की—"हन्यन्तामसुराः शीघ्रं" असुरगणों को शीघ्र हनन करो। किन्तु ईशान की इसप्रकार की प्रार्थनाके प्रत्युत्तरमें देवीने एक भी वाक्य प्रयोग नहीं किया; केवल अपने शरीरमें से अतिभीषणा एक चण्डिकाशक्ति एवं बहुसंख्यक शिवा निष्क्रान्त कर दीं। पूर्व मंत्रमें जो चण्डिका शब्द का प्रयोग

हुआ है, सो अम्बिका देवी को लक्ष्य करके ही प्रयुक्त हुआ है समझने होगा ; कारण इस मंत्र में देवी के शरीर से पुनः अतिभीषणा चण्डिका देवी का निष्क्रामण वर्णित हुआ है। चण्डिका—अति कोपना संहारकारिणी शक्ति अम्बिका मा हमारी नित्य निर्विकार हैं उनमें तोष वा रोष कुछ भी नहीं हैं; इससे उनसे ही अतिकोपमयी चण्डिकानाम्नी इन अत्युग्राशक्ति का निष्क्रामण है।

चितिशक्ति रुपिणी अम्बिकादेवी स्वयं अपरिणामिनी निर्विकारा-विशुद्ध चैतन्य स्वरूपा हैं। वे स्वयं कुछ भी नहीं, अथच उनसे ही सर्वभावों की उत्पत्ति स्थिति और लय होता है। और जिसकी जो कुछ प्रार्थना, अभाव अभियोग इत्यादि हो, सो भी उन्हीं से करनी होती है। वे प्रत्यक्ष भाव से कुछ नहीं करने पर भी, परोक्ष में अभूत पूर्व्व उपाय से साधकों की प्रार्थना किसी न किसी प्रकार से पूर्ण करती हैं। यह देखो ईशान ने प्रार्थना की—"हन्यन्तामसुराः शीघ्रम्" अथच अम्बिका एक वाक्य भी नहीं बोली। किन्तु देखते हैं—अम्बिका के शरीर से अत्युग्राचण्डिका शक्ति और शत शत शिवा विनिर्गत हो आईं। इससे समझा जाता है—ईशानकी प्रार्थना विषयक कोई तरह का विशेष अनुष्ठान न करने पर भी, परोक्ष भाव से उन्होंने उनकी प्रार्थना पूर्ण करने का उद्यम किया। अथच पूर्व में कुछ भी नहीं जानने दिया। मा हमारी ऐसी ही ठीक छलनामयी हैं। साधक! तुम मा मा करके जितनी ही मगज पच्ची क्यों न कर मरो, कितने ही आकुल प्राणों से अश्रुजल से वक्ष को भिजाते हुये मा मा करके रोते रहो, अपने अभाव अभियोग को मा को जनाने के लिये जितने ही उच्चैःस्वर से चित्कार करते रहो; तथापि मा जो तुम्हारी एक भी बात सुनती हैं, ऐसा भाव भी प्रकाश नहीं पाता। तुम्हारे सहस्र आर्त्तनाद, सहस्र व्याकुलता उस निर्व्विकार धीर स्थिर मातृवक्ष को बिन्दुमात्र संक्षुब्ध वा चञ्चल नहीं कर सकते। मा हमारी जैसी धीरा स्थिरा हैं तैसी ही अचल मूर्ति से खड़ी हैं;—मानों कुछ भी नहीं जानतीं। बाद में हठात् तुमने एक दिन देखा—तुम्हारा अभाव

अभियोग समूह परिपूर्ण हो रहे हैं; तुम्हारी सारी आशा पूर्ण हो गई है।

ठीक ऐसा ही होता है; मां हमारी ऐसी ही छलनामयी हैं ठीक! महाभारत वर्णित एक उपाख्यान का संक्षिप्त विवरण बोलता हूं—

द्वैत वनमें पञ्चपाण्डवों के वनवास काल में जब साठ सहस्र शिष्य सह दुर्व्वासामुनि ने आतिथ्य की प्रार्थना की, उस समय द्रौपदी का भोजन शेष हो चुका हैं; सुतरां सूर्यदत्त अक्षय पाकस्थाली भी अन्न-शून्य है। बड़ी विपद ? ब्रह्मशाप से सर्व्वनाश होने का उपक्रम है। इस प्रकार की घोर विपद में पड़कर, उस समय वे (पाण्डव) सबकी विपदों के एकमात्र काण्डारी श्रीकृष्ण को स्मरण करने की चेष्टा करने लगे। पाण्डवगण अवसन्न तन्द्राग्रस्त हैं। केवल द्रौपदी जाग्रता हैं। हठात् श्रीकृष्ण का आविर्भाव। उसने द्रौपदी से कहा—सखि द्रौपदि! अनेक दिनों से धर्मराजका कोई सम्वाद नहीं मिला, इसीसे इस मार्ग से जाते समय एकबार संवाद (खबर) लेने आया हूं। और एक बात—मैं बड़ा ही क्षुधार्त हूं; सखि! मुझे कुछ अन्न दो।

साधक! समझ सकते हो क्या उस समय द्रौपदी के मन की अवस्था कैसी हुई थी ? जगत्पति प्राणपति परम प्रियतम ब्रह्माण्ड के अन्नदाता स्वयं श्रीकृष्ण आज क्षुधित होकर अन्न प्रार्थना कर रहे हैं; अथच घर में अन्न नहीं। द्रौपदी का वक्षःस्थल शतधा विदीर्ण हो रहा था। चक्षु फटनेपर भी अश्रु नहीं—रुधिर धारा निकल रही थी। द्रौपदी उस समय सब भूल गईं आज पाण्डव कुल जो ब्रह्मशाप से निर्मूल होने जा रहा है, वह बात तक याद नहीं। आज सर्वस्व देकर भी यदि श्रीकृष्ण की क्षुधा दूर कर सकती, तो भी पश्चात्पद नहीं होतीं; किन्तु उस समय ऐसा कोई उपाय ही न था, जिससे कि प्रियतम की क्षुधा निवारण कर सकें। हैरान होकर छिन्नमूलतरु की तरह श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर कहने लगीं—जगन्नाथ! अन्तर्यामिन्! विश्वके अन्नदाता! आज तुमने मुझे यह क्या मर्मपीड़ा दी, मेरी इस व्यथा को एक मात्र तुम्हारे भिन्न और कौन समझेगा ? प्राणेश्वर!

आज तुम क्षुधार्थ होकर मेरे पास अन्न की याचना कर रहे हो, और मैं अन्नहीना—(और लिखा नहीं जाता)।

श्रीकृष्ण किन्तु अटल अचल। वे गम्भीर स्वर में बोले, मैं बड़ा ही क्षुधार्त्त हूं; सखि, तुम्हारे जो हो सोई दो। द्रव्य का परिमाण मत देखना, केवल श्रद्धाके साथ अर्पण करो। उस समय उसी स्थाली लग्न कणिकामात्र शाकान्न श्रीकृष्ण के हाथ में उठाकर देते समय कठिन मर्म्मपीड़ा से द्रौपदी बेहोश हो गईं; इधर "तृप्तोऽस्मि" कहकर श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। कुछ देर बाद द्रौपदी होश में आनेपर भी क्या घटना घटी, सो नहीं समझ सकीं। बाद में जाना गया—साठ सहस्र शिष्यसह दुर्व्वासा परितृप्त होकर पाण्डवों को आशीर्बाद करके चले गये हैं। साधक! भगवान्‌की इन सब लीलाओं का रहस्य अनुधावन कर सकते हो क्या? अच्छा जो हो, आज इस देवी माहात्म्यमें भी देखते हैं—ईशानकी प्रार्थना से कोई भी उत्तर न देकर भी अम्बिका मा हमारी ने कार्य्यतः उनकी प्रार्थना पूर्ण की। क्रमसे हम वही देखेंगे। इसके पूर्व कहा गया है, अम्बिका-निर्विकारा चितिशक्ति। इसमें आशंका हो सकती है कि, निर्विकारा चिति-शक्ति से चण्डिका एवं शत शत शिवा का आविर्भाव कैसे होगा? जिसमें से कोई कुछ अभिर्भाव होता है, वह तो अविकारी वस्तु नहीं है! इसके उत्तर में कहने होगा—यह जो विकार है, वह तो परमार्थ रूपसे नहीं है, वह कल्पित वा व्यावहारिक मात्र है। अनन्त जगत्‌के आश्रय स्वरूप होने पर भी ब्रह्मका निगुर्णत्व अक्षुन्न (अखण्ड) रहता है। अम्बिकादेवी के शरीर से चण्डिकाशक्ति एवं असंख्य शिवा निर्गत होने पर भी, उनमें बिन्दुमात्र विकार उपस्थित नहीं हुआ। वस्तु के अन्यथा भाव प्राप्ती का नाम विकार है। चितिशक्ति वास्तव में किसी अवस्थामें भी अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं होतीं। असंख्य भेदों के भीतर होकर भी उनका एकत्व अद्वितीयत्व अव्याहत (निर्विकारी) रहता है।

शिवाशतनिनादिनी—शिवकी शक्ति शिवा। प्रलयकाल में सब जीव जिसमें शयन करते हैं, वे ही हैं शिव। शिव शब्दका वही व्युत्पत्तिगत अर्थ है। शिवा शब्द का साधारण अर्थ शृगाल होने से भी, हम किन्तु यहाँ पर प्रलयकालीन शक्ति ही मान लेंगे। अम्बिका शरीर से असंख्य प्रलयात्मिका शक्ति का विकाश हुआ। वे प्रलय-कालीन निनाद अर्थात् हुङ्कार करने लगीं। अथवा शतनिनादिनी शब्द को पृथक भी किया जा सकता है। ऐसा करने से शतनिना-दिनी शब्द का अर्थ—अनवरत भयङ्कर गर्ज्जनकारिणी शिवा, अर्थात् प्रलयशक्ति ऐसा अर्थ होता है। ऐसा अर्थ भी ठीक और उपादेय ही है।

सा चाह धूम्रजटिलमीशानमपराजिता।
दूतत्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भ निशुम्भयोः ॥२३॥
ब्रूहि शुम्भं निशुम्भञ्च दानवावति गर्व्वितौ।
ये चान्ये दानवास्तत्र युद्धाय समुपस्थिताः ॥२४॥
त्रैलोक्यमिन्द्रो लभतां देवाः सन्तु हविर्भुजः।
युयं प्रयात पातालं यदि जीवितुमिच्छथ ॥२५॥
बलावलेपादथ चेद्भवन्तो युद्धकांक्षिणः।
तदागच्छत तृप्यन्तु मच्छिवाः पिशितेनवः ॥२६॥

अनुवादक—इसके बाद वे अपराजिता चण्डिका देवी धूम्रवर्ण जटाधारी ईशान को बोलीं—हे भगवन्! आप दूत रूपसे शुम्भ निशुम्भ के निकट जाइये एवं अति गर्व्वित शुम्भ निशुम्भ और जो दानव वहाँ पर युद्धार्थ उपस्थित हुए हैं, उन सबसे बोलिये—इन्द्र त्रिलोक का आधिपत्य प्राप्त करें, देवतागण हविका भाग ग्रहण करें; और तुम यदि जीवित रहने की इच्छा करो, तो पाताल को प्रयाण

करो। पक्षान्तर में, यदि बल गर्वित होकर युद्धभिलाषी होओ तो आओ, तुम्हारे मांससे हमारी शिवागण परितृप्त हों।

व्याख्या—अम्बिकाके शरीर से आविर्भूता चण्डिकादेवी ने ईशान को दौत्य कार्य में नियुक्त किया। अष्टशक्ति का अधिष्ठान चैतन्य ही है ईशान! येही हैं ईशिता नियन्ता, येही हैं ज्ञान के देवता शिव। ज्ञानका कार्य है—नित्यानित्य-वस्तुविवेक-हिताहित विचार। किसी भी गर्हित (निन्दनीय) कार्य के अनुष्ठान करने के समय, ये ईशान ही जीवके अन्दर रहते हुये, विवेकरूप से तादृश अन्याय कार्यसे जीवको प्रतिनिवृत्त करने का (रोकने का) प्रयास पाते हैं (चेष्टा करते हैं)। ईशान आज यहाँ पर धूम्र जटिल मूर्त्ति से आविर्भूत हैं। प्रलय के घोर कृष्णवर्ण एवं ज्ञानके स्वाभाविक शुभ्रवर्ण के मिश्रण से धूम्रवर्ण शक्तिप्रवाह से चारो दिशाओं को विच्छुरित करके आज ज्ञान के देवता शम्भु, प्रलयकी वार्त्ता लेकर, दूतरूप से शुम्भ निशुम्भ के निकट चले। वहाँ पर उपस्थित होकर दैत्यगणों से उनको जो सब बातें बोलनी होंगी, चण्डिकादेवी ने सो भी कह दिया।

प्रथम—"त्रैलोक्यमिन्द्रोलभताम्"। इन्द्र त्रिलोक का आधिपत्य प्राप्त करें। पूर्व में कहा जा चुका है—"त्रैलोक्याधिपतिः शुम्भः"। माँने इस बार शुम्भ से वही त्रिलोकाधिपत्य परित्याग करने को कहा। अस्मिता ने जो अपने ही को त्रिलोक का अधिपति समझ रक्खा था उस भाव को परित्याग करना होगा। जिनका त्रिलोक है, उन्हीं को लौटा देने होगा। इन्द्र-अर्थात् परमात्मा ही जो त्रिलोकके यथार्थ अधिपति हैं, यह उपलब्धि करने होगा। "इन्द्रोमायाभिः" इत्यादि श्रुति वाक्य से इन्द्र शब्द द्वारा परमात्मा ही को लक्ष्य किया गया है। एकमात्र आत्मा ही तो सृष्टि स्थिति प्रलयरूप त्रिलोक के अधिपति हैं, अस्मिता तो कभी भी त्रिलोकाधिपति हो नहीं सकता, इसको सम्यक् रूप से उपलब्धि करने होगा, यही है हमारी मा का दूतमुख से शुम्भ के लिये प्रथम आदेश!

मा का द्वितीय आदेश—"देवाः सन्तु हविर्भुजा।" देवतागण यज्ञ भाग ग्रहण करें। अस्मिता के विभिन्न व्यूहरूपी असुरगण जो अमृत स्वरूप यज्ञ भाग अर्थात् चैतन्यांश अधिकार कर बैठे हैं, सो परित्याग करने होगा; ऐसा करने से ही देवतागण विशुद्ध चैतन्य के अंशरूप से प्रतिभात होकर यज्ञभुक (भोक्ता) हो सकेंगे। यही यज्ञभाग हरण का रहस्य है। यह इसके पूर्व विशेषभाव से आलोचित हो चुका है।

इसके बाद तृतीय आदेश—"युयं प्रयात पातालम्।" तुम लोग पाताल को जाओ। अस्मिता ममता और उनके अनुचरों वर्गों को स्वर्ग में अर्थात् चित् क्षेत्रमें अबस्थान नहीं होगा; पाताल में—जड़-क्षेत्रमें दृश्यबर्गों के बीच में परिणत होने होगा। अबतक अस्मिता अपने ही को द्रष्टास्वरूप कहकर समझता था, अर्थात् बुद्धिस्थ चित् प्रतिबिम्बरूप अस्मिता ही आत्मरूप से प्रतिभात होता था, इस समय अब सो नहीं रहेगा; जो यथार्थ द्रष्टा हैं, सोई अब स्वरूपमें अवस्थान करेंगे। अस्मिता प्रभृति को दृश्यवर्गरूप से विलय प्राप्त होने होगा। अम्बिका मा हमारी ने शुम्भनिशुम्भ को पाताल में जानेका आदेश किया, इसमें भी थोड़ा रहस्य है। परमात्म स्वरूर उद्भासित होने के बाद भी प्रारब्ध विलय न होने तक अस्मिता ममता प्रभृति की बाधितानुवृत्ति होती रहती है। साधक जब परमात्म स्वरूपमें अवस्थान करते हैं, तभी वह सब सम्यक् अदृश्य रहते हैं। व्युत्थान दशामें पुनः उनका अविर्भाव होता है। इस प्रकार अविर्भाव होने पर भी वे फिर द्वैत प्रतीति नहीं जन्मा सकते। कारण आत्मसाक्षात्कार होने से अस्मिता प्रभृति की पारमर्थिकत्व-बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

मा का चतुर्थ आदेश—"यदि बलगर्व्वित होकर युद्धार्थी होओ, तो आओ, हमारी शिवागण तुम्हारे मांस से परितृप्ति प्राप्त करें।" अस्मिता ममता और तदीय अनुचरणवर्ग यदि अपने आपसे ही दृश्यवर्ग की तरह विलय प्राप्त न होना चाहें, तो मा के शरीर से विनिर्गत प्रलयात्मिका शक्ति समूह अचिरात् (शीघ्र ही) उनको विलय कर देगीं। शिवागण प्रलयङ्करी शक्ति समूह प्रलय योग्य वस्तु के

अभाव से इतने दिनों से मानो अनशन (भूखी) थीं; इस बार अस्मिता प्रभृति को प्रलय-कवलित करके अपनी प्रलय क्षुधा की निवृत्ति करेंगी। शिवागण परितृप्त होंगीं। अम्बिका के शरीर से चण्डिका शक्ति ने विनिर्गत होकर ईशान को दूतरूप से शुम्भके निकट प्रेरणा किया। अम्बिका स्वयं कुछ भी नहीं करतीं, वे स्वरूपतः निर्गुण हैं। अथच उनको अधिष्ठान रूपसे पाकर; उनकी शक्ति से चैतन्यमय होकर ही यावतीय विशिष्ट भाव यावतीय कार्य सम्पादन करते हैं। अम्बिका का यह दूत प्रेरण जो सफल नहीं होगा, इसे वे पहले से ही जानती थीं। शुम्भ जो स्वेच्छा से पाताल को गमन नहीं करेगा, इसे वे अच्छी तरह से ही जानती थीं; तथापि मात्र कर्त्तव्यज्ञान से उसका अनुष्ठान किया। फल की ओर लक्ष्यहीन—केवल कर्त्तव्यबोध से कर्म्मानुष्ठान ही जो जीवको यथार्थ शान्ति के मार्ग में ला सकता है, इसे समझाने के ही लिये माकी ऐसी लीला है। श्रीकृष्ण ने भी कुरुक्षेत्र समर के प्रारम्भ में दूतरूप से दुर्योधन के निकट उपस्थित होकर पाण्डवों के लिये मात्र पाँच ग्राम की प्रार्थना की थी। श्रीकृष्ण का अभिप्राय तो पूर्ण हुआ ही नहीं, अधिकन्तु दुर्योधन के हाथ से उनको लांछित होने का उपक्रम हुआ था। श्रीकृष्ण क्या जानते नहीं थे कि भारत-समर अनिवार्य है? तथापि किन्तु आपने स्वयं कर्त्तव्यबोध से युद्धविरति के लिये यथा साध्य चेष्टा की थी। साधक! जिसे तुम कर्त्तव्य रूप से समझ लो, उसके फलाफल की ओर लक्ष्य न करके ठीक इसी प्रकार अनुष्ठान करते जाओगे। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन" गीता के इस मंत्रकी कार्यकरी अवस्था विशेषभाव से दिखाने के लिए ही मालूम होता है, चण्डिकादेवी ने ईशान को दूत रूप से प्रेरण किया था।

और भी एक विषय देखने के योग्य है—हम जब जिस कार्य का अनुष्ठान करते हैं, हमारे हृदयस्थ देवता विवेकरूपी ईशान, अन्दर-अन्दर में नीरव भाषा में उसका कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विषयक आदेश करते हैं। जब हम इन हृदयस्थ गुरुका आदेश निर्व्विकार से पालन

कर सकें, तब ही हम अभ्युदय के सन्निहित होते हैं। और जब गुरुके आदेश को श्रेय बोलकर समझते हुये भी प्रेय के आकर्षण से श्रेय की उपेक्षा करते हैं, तभी हमारी निम्नगति सूचित होती है। हमारे प्रस्तावित स्थल पर भी शुम्भ निशुम्भ एवं अन्यान्य असुरगण ईशान के वाक्य की अवहेलना करके ही विनाश को प्राप्त हुआ था।

जानते हैं प्रभो, तुम्हारा आदेश तुम्हारा संकेत पालन करना ही हमारे श्रेय लाभका एकमात्र उपाय है। किन्तु कहाँ, निर्विचार पूर्वक तुम्हारा आदेश शिरोधार्य कर सकते हैं? गुरो! तुम्ही ईशान, तुम्ही नियन्ता, तुम्ही तो हमारे इस और पर काल के एकमात्र गति हो; यह बात किसी प्रकार भी हृदय में धारण करके रख नहीं सकते। हमारी इस दुर्बलता को एकमात्र तुम्ही दूर करनेमें समर्थ हो। गुरो! तुम्हारे प्रति विश्वास और निर्भरता लाने के उपाय भी एकमात्र तुम्ही हो। बहुदिनों से बहुजन्मों से केवल इस दुर्बलता के लिये ही तुम्हारे अभय अङ्क (गोदी) से दूर अवस्थान कर रहे हैं। नहीं, और तो नहीं सकता प्रभो! मुझे ले चलो। केवल उपदेश, केवल पथ दिखा देने से नहीं चलेगा। मैं जो गति हीन हूं, मैं जो शक्तिहीन हूं, सुतरां उपदेश मेरा क्या करेगा? तुम आकर हाथ धरके मुझे लिये चलो प्रभो? मुझे लिये चलो केवल अन्दर में रहकर नीरव भाषामें आदेश मत करना। आदेश प्रतिपालन की सामर्थ्यरूप से भी तुम ही आविर्भूत होओ।

यतो नियुक्तो दौत्येन तथा देव्या शिवः स्वयम्।
शिवदूतीति लोकेऽस्मिंस्ततः साख्याति मागता ॥२७॥

अनुवाद—जिस हेतु उन देवी (चण्डिका) कर्त्तृक स्वयं शिव दौत्यकार्य में नियुक्त हुए थे, उसी हेतु वे लोकमें शिवदूती नाम से ख्यात हुई हैं!

व्याख्या—स्वयं शिव जिनके दूत, वे सत्य सत्य शिवदूती ही हैं। जिन की प्रेरणा से अन्तर्यामी पुरुष प्रति जीवके अन्दर रहकर जीवों की उच्छृङ्खल गति (स्वेच्छा चारिता-अनाचार) को संयत करते हैं, जिन के प्रेरणा से ईशान नित्यानित्य वस्तुविवेक वा विचार रूप से प्रति जीवके अन्दर अवस्थात करते हैं, वे ही है शिवदूती। शिवको—विज्ञानमय गुरुको दूतरूपसे नियोग करने की सामर्थ्य एकमात्र चितिशक्ति ही की है। इसीसे अम्बिका के शरीर से निर्गत चण्डिकादेवी ने ईशान को दौत्य कार्य में नियुक्त किया। चितिशक्ति स्वयं सर्व्वभावातीत है इसीसे तदाश्रित वा तदुत्पन्न शक्ति समूह ही समस्त कार्य सम्पन्न करती रहती हैं। साधक, जबतक विज्ञानमय गुरु चितिशक्ति की अमृतमय वार्त्ता लेकर दूतरूप से जीवके निकट उपस्थित न हों, तबतक जीवों की क्या सामर्थ्य है कि वे जगत के धूला-खेला को तुच्छ करके अमृत के अन्वेषी हों। गुरु ही तो एकान्त आग्रह से माके निकट जाकर बोलते हैं, "हन्यन्तामसुराः शीघ्रं ममप्रीत्या—मेरी प्रीति के लिये शीघ्र असुर विनाश करो।" गुरु की इच्छाही से तो चण्डिका कर्त्तृक असुरगण निपातित होते हैं। जबतक गुरुके हृदय में असुर-विनाश की इच्छा नहीं जागती, तबतक चण्डिकादेवी असुर निधन करने को उद्यत नहीं होतीं। क्या होने से गुरुकी ऐसी मङ्गलमयी इच्छा जागती है, सो जानना चाहते हो? तो सुनो—जब शिष्यकी इच्छा कहने को कुछ नहीं रहती, शिष्यके हृदय की प्रत्येक इच्छा जब गुरुकी इच्छा का ही सम्यक् अनुवर्त्तन करती है, तभी समझना चाहिए, असुर-निधन के लिये गुरुकी अनुप्रेरणा आने में अब विलम्ब नहीं। गुरुको देख नहीं सकते? यह विश्व ही तो गुरु का स्थूलरूप है। गुरु को नहीं देखते? देखो तो अन्दर अन्दर में बोधरूप से, ज्ञानरूप से, हिताहित विचाररूप से नित्य ही वे विराजित हैं। तथापि देख नहीं पाते? तो सुनो—जो स्थूल में विश्वमूर्त्ति, सूक्ष्म में केवल ज्ञानमूर्त्ति हैं, वेही फिर विशेष करुणा से विशिष्ट मनुष्यमूर्त्ति से आविर्भूत होते हैं। विज्ञानमय गुरु कृपा-धन होकर ही मनुष्य का

आकार धारण करते हैं। गुरु कभी भी मनुष्य नहीं होते, अथवा मनुष्य कभी भी गुरु नहीं होता। गुरु, नित्य ही गुरु, नित्य ही ईशान, नित्य ही सर्व्वभूत-महेश्वर-विश्वनाथ हैं। जिनके हृदय में मा हमारी श्रद्धामूर्त्ति से आविर्भूत हुई हैं, केवल वेही गुरु का स्वरूप हृदयङ्गम करने में समर्थ होते हैं।

साधक, यह जो नित्यानित्य-वस्तुविवेक वा विचार बोलकर बात सुनते हो, यह जो विवेक, यह जो विचार है, वही तो गुरु की प्रकट कृपा है। केवल श्रवणद्वारा, केवल मौखिक आलोचना द्वारा कभी भी नित्यानित्य-विषयक यथार्थ ज्ञान नहीं होता। नित्य वस्तुमें विचरण न कर सकने से, अनित्य वस्तु के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। और वस्तु के स्वरूप विषयमें यथार्थ ज्ञान न होने से, तद्विषयों में आग्रह वा त्याग कुछ भी उपस्थित नहीं होता।

नित्यानित्य वस्तुके स्वरूपज्ञान के लिये एकमात्र गुरु कृपा ही अव्यर्थ हेतु है। गुरुका आसन हृदय में प्रतिष्ठित होने से, जीव निश्चय ही नित्यानित्य वस्तु विचार में समर्थ होता है। अच्छा जो हो, हम यहाँ पर देखते हैं—हितोपदेश लेकर ईशान शुम्भ के निकट उपस्थित हैं। साधक तुम भी लक्ष्य करके देखना, तुम्हारे प्रत्येक ही कार्यों में इसी प्रकार ईशान का आविर्भाव होता है या नहीं?

तेऽपि श्रुत्वा वचो देव्याः शर्व्वाख्यातं महासुराः।
अमर्षापूरिता जग्मुर्यतः कात्यायनी स्थिता ॥२८॥

अनुवाद—ईशानवर्णित देवी के वाक्य समूह श्रवण करके असुरगण अत्यन्त क्रोधके साथ, जहाँ पर कात्यायनी देवी अवस्थान करती थीं, वहाँ गये।

व्याख्या—"आसन्नकाले विपरीत बुद्धिः" "न शृन्वन्तिसुहृद्-वाक्यं हतायुषः" आसन्नकाल में जीव की विपरीत बुद्धि उपस्थित

होती है; हतायु व्यक्ति सुहृद्‌का हितोपदेश श्रवण नहीं करता। असुरों ने भी इस नीति का अन्यथा नहीं किया। वे प्रलयपुरी के आतिथ्य स्वीकार करने को उद्यत हुये। शर्व कर्त्तृक आख्यात अर्थात् ईशान कर्त्तृक वर्णित देवी के तीनों ही आदेशों की असुरोंने उपेक्षा की। देवी ने कहा था—"त्रैलोक्यमिन्द्रोलभतां, देवाः सन्तु हविर्भुजः, युयं प्रयात पातालंम्" इन तीनों ही आदेशों का अमान्य करके, असुरगण युद्धाकांक्षी हुये; सुतरां माका चतुर्थ वाक्य निश्चय सफल होगा। शीघ्र ही असुरों के मांस से शिवागणों की परितृप्ति साधन होगी।

सुनो, अस्मिता तो आत्मा नहीं, बुद्धि भी स्वयं चैतन्य नहीं है, इसे हम युक्ति और विचारों की सहायता से विशेषरूप से समझ सकने पर भी, हमारे कार्य समूह उसके विपरीत भावसे ही सम्पन्न होते हैं। कार्यतः हम अस्मिता ही को आत्मारूप से, इस बुद्धि ही को चैतन्य रूप से ग्रहण करते हैं। सुतरां ईशान के उपदेश—विवेक की वाणी हमारे निकट कुछ भी कार्यकारी नहीं होती। हम किसी प्रकार भी विशुद्ध चैतन्य स्वरूप वस्तु को परिग्रह नहीं कर सकते, भय होता है-पीछे कहीं हमारे बड़े साधकी "मैं" खोजाय! किन्तु इसबार आशा हुई है; असुर क्रुद्ध होकर युद्धार्थ कात्यायनी के पास आये हैं, सुतरां उनका प्रलय अवश्यम्भावी है।

इस मंत्र में अम्बिका देवीको ही कात्यायनी कहा गया है। कात्य शब्दका अर्थ— ब्रह्मज्ञ पुरुष। वे जिनको अयन अर्थात् आश्रय करते हैं, सो ही है कात्यायनी। ब्रह्मज्ञ पुरुषगण एकमात्र चितिशक्ति अर्थात् अम्बिकादेवी का ही सर्व्वतोभाव से आश्रय करके रहते हैं; इसीसे मा हमारी कात्यायनी नामसे प्रसिद्ध हैं। साधक शीघ्र ही ब्रह्मविद् होंगे इसीसे ऋषिने यहाँ पर मा हमारी को कात्यायनी नामसे अभिहित किया है।

ततः प्रथममेवाग्रे शरशक्त्यृष्टि वृष्टिभिः ।
ववर्षुरुद्धतामर्षास्तां देवीममरारयः ॥२९॥
सा च तान् प्रहितान् वाणाञ्छूल चक्रपरश्वधान ।
चिच्छेद लीलयाध्मातधनुर्मुक्तै र्महेषुभिः ॥३०॥

अनुवाद—इसके बाद प्रथम ही क्रोध से उद्धत असुरगणों ने देवी के प्रति शर, शक्ति एवं ऋष्टि अस्त्रसमूह वृष्टिधारा की तरह वर्षण करना आरम्भ किया, एवं देवी भी असुर-निक्षिप्त वाण शूल चक्र एवं परशु प्रभृति अस्त्र समूहों को अवलीलाक्रम से शब्दायमान धनु से विमुक्त महाशर समूह प्रयोग करके छिन्न करने लगीं ।

व्याख्या । युद्धक्षेत्र में जो पहिले अस्त्र प्रयोग करता है, उसे आततायी पक्ष कहते हैं, एवं जो बाद में अस्त्र प्रयोग करता है, उसे आत्मरक्षी पक्ष कहते हैं; युद्ध शास्त्रमें ऐसा ही कहा गया है । कुरुक्षेत्र युद्ध में प्रथम कौरव पक्ष शङ्खध्वनि करके युद्ध में प्रवृत्त हुये थे; इसी लिये दुर्योधनादि आततायी पक्ष एवं पाण्डवगण आत्मरक्षी पक्षरूपसे वर्णित हुआ है । यहाँ पर भी देखते हैं—असुरगण ही पहिले मातृ अङ्गमें अस्त्राघात करने को उद्यत हैं । वे आत्माको हनन करना चाहते हैं, इसीसे हैं आततायी । शास्त्रमें उक्त है-आततायी कोनिर्व्वि-चार हत्या करे । इसीसे मा हमारी अचिरात् (शीघ्र ही) इनकी हत्या करके, स्नेह की सन्तान को अभयपद पर प्रतिष्ठित करेंगी । इस बार हम असुरगणों के अस्त्रप्रयोग का रहस्य समझने की चेष्टा करेंगे । घृणालज्जाभय जातिकुल प्रभृति संस्कार समूह अस्मिता के विशेष व्यूहमात्र हैं । वे स्व स्व विशिष्ट भावों के द्वारा आत्मबोधको विशे-षित करने का प्रयास करते हैं, येही असुरगणों के मातृ-अङ्गमें अस्त्र निक्षेप हैं । पूर्व्वोक्त घृणालज्जादि विशिष्टभाव समूह आत्मबोध के साथ ऐसी जकड़ गये हैं कि, पुनः पुनः विचार के द्वारा आत्मा का असङ्गत्व निर्णित होने पर भी ये सब भाव पुनः पुनः आत्मबोध को

विशिष्टकर डालते हैं। सवथा असङ्ग आत्माको किसी प्रकार से विशेषित करना ही असुरों का अस्त्र-प्रयोग है।

इसी प्रकार उदायुध प्रभृति असुरगण अर्थात् घृणा अज्जादि पाश समूह पुनः पुनः विशुद्ध चितिशक्ति के अङ्ग में नाना भावरूप अस्त्र-शस्त्र प्रयोग करने लगे; तब मा हमारी शब्दायित धनु से महाइषु निक्षेप करके असुर-निक्षिप्त आस्त्रों को विनष्ट करने लगीं। शब्दायित धनुसे महा इषु निक्षेप करना ही उपनिषत् प्रतिपाद्य उपासना का रहस्य है। प्रणवरूप धनुपर आत्मबोध रूप शर संयुक्त करके पुनः पुनः ब्रह्म लक्ष्यसे निक्षेप करने होता है। ऐसा करने ही से आत्मा ब्रह्म स्वरूप में अवस्थान करती हैं; सुतरां घृणा लज्जादि बिशिष्ट भाव समूह अन्तर्हित हो जाते हैं। आत्मा ब्रह्म स्वरूपसे अपने को विच्युत वा पृथकरूप से दर्शन करती हैं तभी तो उनको अष्टपाश रूपी असुरगणों के अस्त्राघात सह्य करने होते हैं। केवल पूर्वोक्त शर प्रयोग से अर्थात् उपासना रूप तीव्र प्रयत्न के फलसे ही आत्माके निर्विशेष स्वरूप की उपलब्धि होती है।

साधक ! तुम भी अपने बहुजन्म सञ्चित अष्टपाशरूपी आसुरिक भावों को लेकर माके अङ्गमें निक्षेप करो। तुम माकी कृपासे अचिरकाल में पाशमुक्त होओगे—जीवत्व विदूरित होगा, शिवत्व लाभ होगा। और यदि मातृचरणों में सर्वतोभाव से आत्मसमर्पण कर चुके हो, तो फिर तुमको कुछ भी नहीं करने होगा, साधन-समर में प्रविष्ट साधकगणों की तरह तुमको भी मा स्वयं ही अष्टपाश से मुक्त कर लेंगी।

तस्याग्रतस्तथा काली शूलपातविदारितान्।
खट्वाङ्गप्रोथितांश्चारीन् कुर्व्वती व्यचरत्तदा ॥३१॥

अनुवाद—तब काली अरिगणों को शूलाघात से विदीर्ण एवं खट्वाङ्ग द्वारा प्रोथित करके उनके (अम्बिका के) सम्मुख भाग में विचरण करने लगीं।

व्याख्या। अब देवशक्ति समूह का पृथक् पृथक् भाव से असुर क्षय करने का विवरण वर्णित होगा। पहले ही काली वा चामुण्डा-शक्ति की बात होती है। उन्होंने कितने ही असुरों को शूलाघात से विदीर्ण, और कितनों को खट्वाङ्ग द्वारा प्रोथित किया। यद्यपि काली शक्ति के विनिष्क्रमण काल में विशेष भावसे शूलास्त्र का कोई उल्लेख नहीं है, केवल असि, पाश, खट्वाङ्ग, इन्हीं तीन अस्त्रों का उल्लेख है, तथापि समझने होगा,—यह अष्ट शक्ति जब ईशान ही का विभिन्न प्रकाशमात्र है, तो ईशान का विशेष अस्त्र शूल प्रत्येक शक्तिपर ही है। शूलास्त्र सम्बन्ध में विशेष व्याख्या द्वितीय खण्ड में की गई है। शूल शब्द से साधारणतः त्रिशूल ही समझा जाता है। त्रिपुटी ज्ञान ही त्रिशूल है। असुर निधन के लिये ऐसा अव्यर्थ अस्त्र और नहीं है। महिषासुर से शुम्भतक प्रधान-प्रधान असुर समूह सभी इसी शूलाघात से विलय प्राप्त हुए हैं।

साधक! द्वितीय खण्डमें त्रिशूल नामसे ज्ञान की त्रिपुटी समझे थे, और यहाँ पर उसे आनन्द की त्रिपुटी कहकर समझ लेना। तीनों आनन्द और उनका अनुभव एवं आनन्दका अनुभवकर्ता, इन्हीं को आनन्द की त्रिपुटी कहते हैं। एक ही आनन्द वस्तु इस त्रिविध स्पन्दन से प्रतिनियत (सबसमय) प्रकाश पा रही है। यह जब सम्यक् रूप से उपलब्धि किया जा सके, तभी असुर कुल निर्मूल होता, इसी से कहता था—असुर-निधन के लिये त्रिशूल अस्त्र ही विशेष कार्यकारी है।

काली—प्रलयङ्करी शक्ति इस तरह से आनन्द की त्रिपुटी प्रयोग करके षड़शीतिसंख्यक उदायुधवंशीय असुरगणों को निहत करके, अम्बिका देवी के अग्रभाग में आनन्द से विचरण करने लगीं। पूर्वमें ही कह चुका हूं--विशुद्धा चितिशक्ति के सम्मुख भाग में ही प्रलय-शक्ति विराज करती है। कारण सर्वभावों का विलय नहीं होने से परमात्मबोध उद्भासित नहीं होता। इसीसे मंत्रमें "तस्याग्रतोऽयचरत्" इस प्रकार वाक्यका प्रयोग हुआ है। "तस्याग्रतः" पदसे तस्याः शब्दका विसर्ग लोप होने से भी सन्धि हुई है; सो आर्ष प्रयोग है। अच्छा जो हो, यद्यपि इस मंत्रमें उदायुध-असुर का निधन वर्णित नहीं हुआ, तथापि समझ लेने होगा—शुम्भ के आदेश से जो आठ असुर-सम्प्रदाय युद्धार्थ निर्गत हुये हैं, जिनको हमने घृणालज्जादि अष्टपाशरूपसे समझ लिया है, इस बार वेही अष्ट पाश रूपी आठ असुर-सम्प्रदाय अम्बिका के शरीर से विनिर्गत अष्टशक्ति कर्त्तृक क्रम क्रम से निहत हो रहे हैं। उनमें से प्रथम ही चामुण्डाशक्ति ने उदायुध नामक असुर को अर्थात् जीव की घृणा नामक प्रथम पाश को विलय कर दिया। एकमात्र अखण्ड आनन्द सत्ता व्यतीत और कहीं भी कुछ भी नहीं है इसकी उपलब्धिकर सकने ही से जीवका भेद ज्ञान सम्यक् अपनीत होता है। भेदज्ञान दूरी भूत होने ही से जीवका घृणा नामक संस्कार हमेशा के लिये विलुप्त हो जाता है। इसी प्रकार साधक प्रथम पाश से विमुक्त होकर शिवत्व लाभ के पथपर अग्रसर होने लगता है।

कमण्डलु जलाक्षेप हतवीर्य्यान् हतौजसः।
ब्रह्माणी चाकरोच्छत्रून् येन येन स्म धावति ॥३२॥

अनुवाद—ब्रह्माणी युद्ध क्षेत्र के जिस जिस अंशमें द्रुतवेगसे गमन करती थीं, कमण्डलु-जलनिक्षेप से उसी अंशके शत्रुओं को हतवीर्य और हतोद्यम करती जाती थीं।

व्याख्या। जिस शक्ति के प्रभाव से सृष्टि के अव्यक्त बीज समूह पुनः कार्य के उपयोगी हो जाते हैं, वह शक्ति ही सृष्ट जीवों का जीवन है। सोई ब्रह्माणी के कमण्डलु स्थित जल है। यही जल अर्थात् जीवनीशक्ति निक्षेप करके ब्रह्माणी असुरों को हतवीर्य एवं हतोद्यम करने लगीं। ब्रह्माणी के कमण्डलु-जलनिक्षेप रूप कार्य द्वारा जीव समूहों की पुनराय भावोत्पादन की सामर्थ्य अर्थात् बीजों का वीजत्व विनष्ट होता था। साधक याद रखना—मा जब तक इस प्रकार ब्रह्माणी मूर्ति से आर्विभूत होकर सृष्टि के वीजाधार से जल वा जीवनी शक्ति को अपसारित न कर दें, तब तक जन्म मृत्यु का स्रोत निरुद्ध नहीं होता। साधकों की अपनी चेष्टा से यह किसी प्रकार भी सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारी पुञ्जीभूत इच्छाओं के तल देश में कहां पर कौन संस्कार छिपे हैं, सो हम नहीं जानते, जान नहीं सकते किन्तु मा की तीव्र दृष्टि से वे सभी उद्भासित हो पड़ते हैं। इन्हीं छिपे संस्कार समूहों को प्रकट करके उनकी जीवनी शक्ति विनष्ट कर देना ही ब्रह्माणी शक्ति का कार्य है। साधकगण विशेषभाव से लक्ष्य करेंगे—साधना के पथ में जितना ही वेशी अग्रसर हुआ जाता है उतना ही बीच बीच में नानारूप प्रतिकूल संस्कार अति तीव्र वेग से प्रकट होने लगते हैं। एवं उन्हीं के प्रभाव से अनेक साधक बिलकुल हताश और भग्नोद्यम हो पड़ते हैं। ऐसे समाचार गुरुके समीप में उपस्थित होना आवश्यक है। वे समझा देंगे ऐसी घटनाओं में हताश होने का कोई कारण नहीं। वह असुर कुल की जीवनी शक्ति नाशक पूर्व्वायोजन है। ब्रह्माणी के इस कमण्डलु-जल निक्षेपका रहस्य समझ सकनेसे फिर साधकों को किसी प्रकार हताश वा भग्नोद्यम होने की आशंका नहीं रहेगी। और एक बात, यद्यपि इस मंत्र में विशेष भाव से उक्त नहीं हुआ, तथापि समझ लेने होगा कि ब्रह्माणी शक्ति कर्त्तृक ही चतुरशीति संख्यक कंबुनामक असुरकुल निहत हुआ था। इसी तरह से मा हमारी भेद ज्ञानमूलक लज्जा वा आत्म संकोच रूप द्वितीय पाशको छिन्न कर देती हैं। स्थूल बात,

विपर्य्यय-ज्ञान विलुप्त होने पर साधक जितना ही अद्वय सत्ताकी ओर अग्रसर होता जाता है, उतने ही यावतीय भेदज्ञान एवं तज्जन्य (उनसे पैदा हुए) नानारूप संस्कार विलय प्राप्त होते जाते हैं। इसमें असम्भवता एवं अस्वाभाविकता कुछ नहीं।

———

माहेश्वरी त्रिशूलेन तथा चक्रेण वैष्णवी।
दैत्यान् जघान कौमारी तथा शक्त्यातिकोपना ॥३३॥

अनुवाद। माहेश्वरी त्रिशूल द्वारा, वैष्णवी चक्रद्वारा एवं कौमारी शक्ति अस्त्रद्वारा अतिशय क्रोधके साथ दैत्यवृन्द को निधन करने लगीं।

व्याख्या। माहेश्वरी वैष्णवी एवं कौमारीने, त्रिशूल चक्र एवं शक्ति अस्त्र प्रयोग से यथाक्रम से कोटिबीर्य धौम्र एवं कालक नामक असूर समूह को निहत किया। त्रिशूल चक्र एवं शक्ति शब्दकी व्याख्या इसके पूर्व विशेषभाव से की जा चुकी है। पूर्वोक्त असुरत्रय यथा क्रम से भय शंका एवं जुगुप्सा नामक जीवों की तृतीय चतुर्थ एवं पञ्चम पाश है; यह प्रथम ही कहा जा चुका है। हमारी मा ने माहेश्वरी विज्ञानमयी मूर्त्ति से आविर्भूत होकर त्रिशूल अर्थात् आनन्दमय त्रिपुटी-प्रयोग से अतिप्रवल मृत्युभय रूप संस्कार को विलय कर दिया। जो मरण त्रास ज्ञानवानों का भी विदूरित नहीं होता, मा हमारी ने आज माहेश्वरी मूर्त्ति से प्रकटित होकर उसे भी विनष्ट कर दिया। वैष्णवी ने प्राणमयी स्थिति शक्ति रूपसे आविर्भूत होकर सुदर्शन चक्र अर्थात् दिव्य दृष्टि प्रयोग से आशंकारूप चतुर्थ पाश छिन्न किया। प्रियवस्तु वा व्यक्ति का विनाश हो सकता है, ऐसी आशंका उन्नत स्तर के साधकगणों में भी देखी जाती है। मा हमारी ने वैष्णवी मूर्त्ति से प्रकठित होकर उसका भी विलय साधन किया। इसी प्रकार कार्त्ति-केय शक्ति अर्थात् देवसेना-परिचालनकारिणी शक्तिने आविर्भूत होकर

भेद ज्ञान मूलक जुगुप्सा नामक संस्कार बिनष्ट किया। भेदज्ञान जितना क्षीण होता जाता है, गोपनेच्छा आत्मसंकोच प्रभृति उतना ही विनष्ट होता है। साधक! देखो—मा जिसको पाशमुक्त करके शिवत्व प्रदान करती हैं, ठीक ऐसे ही करके उसके समस्त बन्धन निज हाथ से छिन्न कर देती हैं। जो मातृचरणों में सर्वतोभावसे शरणागत हो सके हैं, देखा जाता है—एकमात्र वे ही इस प्रकार के सुयोग और सौभाग्य लाभ से धन्य हो जाते हैं। इसीसे कहता हूं प्रियतम साधक-वृन्द! मातृ-चरणों में सर्वथा शरणागत होने के लिये यथासाध्य प्रयत्न प्रयोग करो।

ऐन्द्रीकुलिशपातेन शतशो दैत्यदानवाः।
पेतुर्व्विदारिताः भूमौ रुधिरौघप्रवर्षिणः ॥३४॥
तुण्डप्रहारविध्वस्ता दंष्ट्राग्रक्षतवक्षसः।
वराहमूर्त्या न्यपतंश्चक्रेण च विदारिताः ॥३५॥
नखैर्व्विदारितांश्चान्यान् भक्षयन्ती महासुरान्।
नारसिंही चचाराजौ नादापूर्णदिगम्बरा ॥३६॥

अनुवाद। इन्द्राणी ने वज्रपात के द्वारा शत-शत दैत्य दानवों को विदीर्ण करके भूतल पर गिरा दिया। उनके देह से रुधिर वर्षने लगी। वाराही शक्ति ने असुरगणों को स्वकीय तुण्ड प्रहारसे विध्वस्त किया और दन्ताघात से उनका वक्षःस्थल क्षतविक्षत एवं अस्त्राघात से उनको विदीर्ण करके निपातित करने लगीं। इसी तरह नारसिंही शक्ति भी अन्य असुरों को नखों के द्वारा विदीर्ण करके, भक्षण करने लगीं एवं घोर नाद से दिङ्मण्डल परिपूर्ण करके युद्ध स्थलमें विचरण करने लगीं।

व्याख्या। इन तीन मंत्रों में इन्द्राणी, वाराही एवं नारसिंही शक्ति का असुरक्षय विवरण वर्णित हुआ है। शुम्भने जो आठ सम्प्रदाय असुरों को युद्धार्थ प्रेरण किया था, उनमें मात्र तीन ही अवशिष्ट हैं। उनके बाद दौर्हृत, मौर्य एवं कालकेय हैं। इन्द्राणी, वाराही एवं नारसिंही मूर्त्ति से प्रकटित होकर हमारी मा ने इन असुरत्रय को भी निहित किया। आध्यात्मिक भावसे इनको कुल, शील और जातिरूप से व्याख्या की गई है। ये तीन ही जीवके षष्ठ, सप्तम और अष्टम पाश हैं। इस कुल शील और जातिरूप पाश के हाथ से परित्राण पाने के लिये साधकगण शिखा-सूत्र त्याग सन्यास ग्रहण यथेच्छ आहार विहार प्रभृति कितने-कितने उपाय अवलम्बन करते हैं। किन्तु अति-अल्पसंख्यक साधक ही यथार्थ इन सब बन्धनों के हाथसे मुक्त हो सकते हैं। बन्धन अर्थ-बोधक पश् धातु से पाश शब्द निष्पन्न हुआ है। सुतरां पाश मुक्त होना और बन्धन मुक्त होना एक ही बात है। मा जिसको चाहती हैं उसको सर्वविध बन्धनों से मुक्त कर देती हैं; इसीसे देखता हूं मा हमारी नाना मूर्त्ति से नाना भावों से सन्तान को पाशमुक्त कर रही हैं। धन्य साधक! इसबार तुम अष्ट-पाश मुक्त होकर शिवत्व प्राप्ति के योग्य हुये। धन्य तुम्हारी मातृ-चरणों में शरणागति! प्रारब्ध संस्कारों में ये अष्टपाश के संस्कार अति प्रबलभाव से अवस्थान करते हैं। सञ्चित और आगामी संस्कारों में ये जो न रहते हों सो नहीं, तब हाँ इसके पहिले ही माकी कृपा से वे अश्लेष एवं विनाश प्राप्त हो चुके हैं। विशुद्ध अद्वय ज्ञानमें उपस्थित होने के लिये प्रबल प्रारब्ध ही विशेष अन्तराय हैं; इसीसे माने इनको नानारूप से विनष्ट कर दिया है; कितनों को भोगों के भोतर होकर, कितनों को संयम के भीतर होकर, कितनों को स्वप्नके भीतर होकर विलय किया है। कौन संस्कार किस प्रकार के भावसे क्षय प्राप्त होता है, सो निश्चय करके कहना असम्भव है। माकी महती इच्छा कितने तरह के भावों से प्रकटित होकर कितनी तरह से, स्नेहभरी सन्तान को पाशमुक्त कर देती हैं; उसे साधकगण सामान्यमात्र ही लक्ष्य कर

पाते हैं। अच्छा जो हो, हम यहाँ पर देख रहे हैं—मा विभिन्न मूर्त्ति से प्रकटित होकर विभिन्न संस्कारों को क्षय कर दे रही हैं।

चण्डाट्टहासैरसुराः शिवदूत्याभिदूषिताः।
पेतुः पृथिव्यां पतितां स्तांश्चखादाथ सा तदा ॥३७॥

अनुवाद। शिवदूती देवीके (अम्बिका के शरीर से आविर्भूता चण्डिका देवी के) प्रचण्ड अट्टहास्यसे असुरगण अभिदूषित अर्थात् मूर्छित होकर भूतल पर निपतित होने लगे, तव वे स्वयं उनको भक्षण करने लगीं।

व्याख्या। शिवदूती अर्थात् चण्डिका देवीभी पूर्वोक्त अष्टमातृकाओं के साथ एकत्रित होकर असुरकुल क्षय करने लगीं! अट्टहास्यही इनका युद्ध-साधन अस्त्र हैं। प्रलय की अट्टहासी ने असुरों के हृदय में ऐसी भीति का सञ्चार कर दिया था कि, वे मूर्छित होकर भूतल पर निपतित होने लगे, एवं देवी स्वयं उनको भक्षण करने लगीं। यावतीय भेद भ्रान्तिही शिवदूती कर्तृक निधनयोग्य असुर है। जिनकी प्रेरणा से विज्ञानमय महेश्वर ईशान दौत्यकार्य्य में नियुक्त हुये थे, वे—सोई शिवदूती—सोई ज्ञानमयी महती शक्ति भी—आज असुर निधन को उद्यत हुई। उनके आविर्भाव से सर्वविध भेद भ्रान्ति विदूरित होगी उसमें फिर विचित्रता ही क्या? भेद पांच प्रकार होता है:—(१) जीव और ब्रह्म भेद, (२) जीव और ईश्वर भेद, (३) जीवों के साथ जीवोंका भेद, (४) जीव और जड़ भेद एवं (५) जड़ों के साथ जड़ों का भेद। ये सब भेद-भ्रान्तिरूप असुर एकवार अद्वय ज्ञानके प्रकाश पाने से अचिरात् मूर्छित् और निपतित होते हैं। "एकमेवाद्वितीयम् तत्वमसि" प्रभृति मन्त्रों का उच्चारण एवं उनके साथ अद्वयज्ञान के क्षणिक प्रकाशरूप हासी, भेदभ्रान्ति रूप असुर समूह को क्षण काल में ही विलय कर देती है। इसके पूर्व वे ज्ञानमय सत्ता के ऊपर ही

अधिष्ठित थे। तब उन्हें ठीक अज्ञान कहकर पकड़ नहीं सके; किन्तु इसबार अखण्ड ज्ञानमय सत्ता प्रकाशित होने से, वे मूर्च्छित हो पड़े। बाद में उन सबको शिवदूती ने स्वयं ग्रास कर डाला। इसी से मंत्र में "तांश्चखाद—उन असुरोंको भक्षण किया" ऐसे वाक्य का उल्लेख हुआ।

साधक देखो, जितने परिमाणमें ज्ञानका प्रकाश आकर पड़ता है, उतने ही परिमाण में अज्ञान के भेद-भ्रान्तिरूप असुर निर्मूल होते रहते हैं। इसी से तो पहले ही से कहता आ रहा हूं—अरे, तुमलोग अज्ञान दूर करने की चेष्टा मत करो; केवल ज्ञान के उदयकी ओर लक्ष्य राखो। अज्ञान दूर करना ही जीवन का उद्देश्य नहीं, आलोक दर्शन वा ज्ञान लाभ करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। ज्ञान लाभ होने से अज्ञान-अन्धकार अपने आपही भाग जाता है। किन्तु वह और बात है—

इति मातृगणं क्रुद्धं मर्दयन्तं महासुरान्।
दृष्ट्वाभ्युपायैर्व्विविधैर्नेशुर्दैवारिसैनिकाः ॥३८॥

अनुवाद। इस प्रकार नाना उपायों से मातृगण महासुरगणों को विमर्दित करती हैं देखकर; दैत्यसेना अदृश्य हो गई अर्थात भाग गई।

व्याख्या। मा एका अद्वितीया होते हुये भी आज मातृगणरूपसे ब्रह्माणी प्रभृति विभिन्न शक्ति रूप से असुरगणोंको—यावतीय द्वैत प्रतीति समूह को—विमर्दित करने लगीं। उसके फल से असुर कुल बिनष्ट होने लगा। साधक! लक्ष्य करना—द्वैत-प्रतीति समूह विशुद्ध बोध के उदय से एक एक करके विनष्ट हो जाती हैं। मा की कृपासे पञ्चविध भेद-भ्रान्ति अष्टविध पाश इसी तरह से अदृश्य हो जाते हैं। अदर्शनार्थक नश धातुसे "नेशु" पद निष्पन्न हुआ। बोध वस्तु जब स्वप्रकाश रूपसे उद्भासित होती हैं, अर्थात् मात्र अपने

को आपही प्रकाश करती हैं, तब भेद-ज्ञान समूह अथवा भेद ज्ञान-मूलक विभिन्न संस्कार समूह अपने आपही विलुप्त हो जाते हैं। अब देखो साधक, मा ने तुमको धीरे धीरे कहाँ से कहाँ लाकर उपस्थित किया है। मनो राज्य से विज्ञान राज्य में विज्ञान से भावातीत क्षेत्र में ले आई हैं। अव तुमको कुछ भी नहीं करना पड़ा। तुम मातृ अंकस्थ नग्न शिशु हो, तुम सरल प्राणोंसे केवल 'मा मा' बोलकर ही निश्चिन्त हो। इसके बाद क्या करने होगा, किस प्रकार तुम्हारे बहुजन्म सञ्चित दुरपनेय संस्कार राशि को विलय करना होगा, उन सब विषयों में फिर तुमको लक्ष्य करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं केवल मा के खेला समृह प्रत्यक्ष करते जाना ही तुम्हारा कार्य्य है। भ्रम से भी मत सोचना, तुम्हारी कठोर साधना किंवा सुदृढ़ भक्ति के बल से ऐसा हो सकता है। यदि सो होता तो साधक वा भक्ति-मान् मात्र ही मुक्तिलाभ कर सकते। स्मरण करो—"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्"। जो आत्मा को वरण करता है जो आत्मा को जीवन ही का एक मात्र लक्ष्य जानकर आत्मचरणों में आत्मसर्पण करता है, एकमात्र उसके निकट ही आत्मा अपना स्वकीयस्वरूप सम्यक्-रूप से उद्भासित करती हैं।

पलायन परान् दृष्ट्वा दैत्यान् मातृगणार्दितान्।
योद्धु मभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुर: ॥३९॥
रक्तनबिदुर्यदा भूमौ पतत्यस्य शरीरतः।
समुत् पतति मेदिन्या स्तत् प्रमाण स्तदासुरः॥४०॥

अनुवाद। मातृगण कर्त्तृक विमर्दित दैत्यगणों को पलायन तत्पर देखकर अति क्रुद्ध रक्तबीजनामक असुर युद्धार्थ उपस्थित हुआ। उसके

शरीर से एक विन्दू रक्त भूतल पर निपतित होने से; ठीक उसी तरह के प्रमाण विशिष्ट और एक असुर भूमितल से पुनः उठ खड़ा होता।

व्याख्या। यह रक्तबीजही शुम्भ का शेष सेनापति है। इसके बाद एकमात्र निशुम्भ अवशिष्ट रहा, उसको तो फिर सेनापति नहीं कहा जा सकता। जो हो, इस रक्तबीज वध का रहस्य अति विचित्र है; थोड़ा धीर भाव से इस तत्व में अवगाहन करना होगा। मा आनन्दमयी महाशक्ति! तुम धीरूपसे - धारणावती भेधारूप से आत्म प्रकाश करो। तुम्हारा यह अति गहन लीला रहस्य हमारी इस क्षीण बुद्धि में उद्‌भासित हो। तुम्हारी कृपा से, ततोधिक तुम्हारे स्नेह से इस दुरधिगम्य मधु चक्र से आनन्दमय विज्ञानमधु पान करके हम धन्य हों। जगत के लोग तुम्हारे इस अपूर्व्व लीला-रहस्य को अवगत होकर, तुमको सरल प्राणों से मा कह कर पुकारना सीखें। दुःख सन्तापमय विश्व फिरसे आनन्द में प्रतिष्ठित हों।

'मैं जीव' इसी भाव का नाम रक्तबीज है। मैं अर्थात् आत्मरूपी बीज जब जीवत्वरूप विशेषण द्वारा रक्त अर्थात् रञ्जित होता है, तभी उसे रक्तबोज कहा जाता है। बीज एकमात्र परमात्मा मा हमारी हैं। उनमें जब जीवत्वरूप-द्वैतज्ञानरूप भाव की रञ्जना होती है, तभी विशुद्ध बोधवस्तु स्वजातीय विजातीय एवं स्वगत भेद-विशिष्ट हो पड़ती है; निरञ्जन बीज का यह जो अभिरञ्जन भाव है, इसीका नाम हैं रक्तबीज। रक्तबीज का यह विशेषत्व है कि इसके शरीर से एक विन्दु रक्त भूपतित होते मात्र और एक रक्तबीज उत्पन्न होता है, रक्त अर्थात् रञ्जित होनारूप भाव जब ही भूपतित होता है; पार्थिव भावों के भीतर आ पड़ता है - स्थूल भावों में आ पड़ता है, तभी फिर जीवभाव फूट उठता है। रञ्जित होने का भाव जब तक रहेगा, तब तक वह भूपतित होगा ही सुतरां निरञ्जन बीजको भी अभि रञ्जित करेगा ही। सहस्र-साधना, सहस्र-ज्ञानालोचना, सहस्र अनुभूति भी "मैं जीव" इस बोध को सम्यकरूप से विजय नहीं कर सकती। अद्वैततत्व प्रतिपादक एकमेवाद्वितीयम्, अयम् आत्मा

ब्रह्म, तत्वमसि, प्रभृति श्रुतिवाक्य के यथायथ अनुशीलनके फल से साधक जब जीव-ब्रह्म की भेद-भ्रान्ति के परपार चलेजाने को उद्यत होता है, अर्थात् अद्वय ब्रह्म स्वरूप साक्षात् करने को यत्नवान होता है, तत्क्षणात् यह रक्तबीज अर्विभूत होकर—"मैं जीव" रूपसे फूट उठता है (खिल उठता है वा जाग उठता हैं)। यह जीवत्वरूप अज्ञान ही साधक की उस अद्वयगति को निरुद्ध करके खड़ा हो जाता है। साधकगण निज निज जीवन में इसे अहर्निश अनुभव करते हैं। मा को विशेष कृपा व्यतित यह भयङ्कर असुर निहत नहीं होता। जो यथार्थ अद्वयतत्व-उपलब्धि के निकटवर्ती हुये हैं, जो अस्मिता को वा बुद्धि में प्रतिविम्वित चिदाभास को भी असुर बोलकर समझ सके हैं, केवल वे ही इस रक्तबीज-रहस्य की उपलब्धि कर सकेंगे। अरे, "मैं जीव" इस भाव को विचार की सहायता से सहस्रधा विनष्ट करने पर भी वह जैसा था, फिर ठीक वैसा ही फूट उठता है। केवल विचार क्यों, योगवल से चित्त निरुद्ध करने पर भी इस रक्तबीजके हाथ से परित्राण नहीं पाते। जिस मुहूर्त्त में निरोध से व्युत्थान होता है, उसी मुहूर्त्त में ही 'मै जीव" यह भाव सर्वाग्रे फूट उठता है। फिर जो मैं वही मैं। पराभक्ति वा अकैतव प्रेमके बल से आत्मसङ्गत होने पर भी, आत्महारा होने पर भी, फिर परक्षण में ही यह भाव फूट उठता है। तैसे ही मैं जीव कह कर आत्मा से बहु दूर जा पड़ता है अपने को सम्पूर्ण ब्रह्म से पृथक् वस्तु जानकर प्रतीत होने लगता है, यह ही रक्तबीज का अत्याचार है। इस प्रकार साधक, तुम विचार के ही पथ में अग्रसर होओ, अथवा योगबल से चित्त निरुद्ध ही करो अथवा पराभक्ति की सहायता से आत्महाराही होओ, इस रक्तबीज का अत्याचार सर्वत्र समानभाव से देखोगे। उसका विनाश किसी तरह नहीं होता—"मैं जिव" यह भाव किसी प्रकार भी सम्यक् रूप से बिसार नहीं हुआ जाता। साधारण कहावत भी है—"जैसे रक्तबीज का झाड़!" रक्तबीज किसी तरह भीं विनष्ट नहीं होना चाहता। जो रुद्रग्रन्थिभेद के साधक हैं, केवल वे ही इस रक्तबीज असुर के

अनिर्व्वचनीय अत्याचार को रोम रोम में उपलब्धि कर सकते हैं। औरों के निकट ये सब बातें प्रहेलिका के समान होना अस्वाभाविक नहीं।

सुनो—तुम बात बात में कहते हो, जीवात्मा और परमात्मा। वास्तविक तो आत्मा मात्र आत्मा ही है। उनमें जीव वा परम कोई विशेषण नहीं। इन्हीं आत्मा में जब जीव भाव परिकम्पित होता है, तभी वे रक्त होते हैं अर्थात रञ्जित होकर प्रकाश पाते हैं। और जब कोई तरह की भावरञ्जना नहीं रहती तभी वे शुद्ध निरञ्जन परमात्मा नाम से अभिहित होते हैं। वास्तव में किन्तु आत्माका कोई नाम वा विशेषण नहीं हैं, रह भी नहीं सकता। ये आत्मा जब तक जीव भाव को प्रकाशित करेंगे, समझने होगा– उतने दिन तक रक्तबीज निहत नहीं हुआ। जब तक देह हैं, मन हैं, इन्द्रियाँ हैं, तब तक रक्त-बीज भी है। तब बात यही है कि, यद्यपि वह खूब ही सत्य है, तथापि अद्वयज्ञान रुपिणी मा के वक्ष में सम्यक् आत्महारा होने पर रक्तबीज की पारमार्थिकसत्ता किन्तु बिलकुल ही विलुप्त हो जाती है। वह क्षीण रक्त होकर विलय प्राप्त होता है। ये सब बातें इसके बाद ही में मिलेंगी।

हे मा, इतने दिन तो इस रक्तबीज को देख नहीं पाया, इतने दिनों तक यह अजेय असुर हमारे ही वक्ष में अवस्थान करता हुआ हमारा ही रक्त शोषण करता हुआ परिपुष्ट होता रहा है, सो समझ में ही नहीं आया। मैं ही जो मा, मैं ही जो तुम, मैं ही जो आत्मा, यह बात तुम्हारी कृपा से जितनी स्पष्ट भाव से समझ सक रहा हूं, जितना ही तुम्हारे प्रज्ञालोक से हृदयाकाश उद्भासित होता है, उतना ही मानो इस असुर का अत्याचार विशेषभाव से मर्मपीड़ा दायक होता है। में जो निर्मल, मैं शुद्ध, मैं बुद्ध, मैं महान, मैं जो नित्यमुक्त, मैं विशुद्ध बोधस्वरूप हूं, मुझमें कोई विशिष्टता नहीं, कोई मलिनता नहीं, मुझ से किसी गुण का सम्बन्ध नहीं, रोग शोक जन्म मृत्यु कुछ भी नहीं, मुझ में संसार कहने को, स्वर्ग नरक कहने को, धर्मा-

धर्म कहने को कुछ भी नहीं, ब्रह्मत्व ही तो मेरा यथाथ स्वरूप है, म जो ब्रह्म ही हूँ—अन्य कुछ नहीं, इसे सहस्रवार सुनकर; सहस्रवार मनन करते हुए भी फिर मैं जीवरूप से प्रतिभात हो पड़ता हूं। क्यों मा इस प्रकार स्वरूपसे च्युत होने होता है? क्यों मा इस प्रकार असुर अत्याचार सह्य करना होता है? क्यों मा मैं ब्रह्म होते हुए भी क्षुद्रता और मलिनता लेकर रहूँगा? क्यों मा मैं पूर्ण ज्ञानमय होते हुए भी अल्पज्ञ जीवरूप से अवस्थान करूँगा? क्यों मा मैं शाश्वत नित्य निरामय होते हुए भी रोग शोक जन्म मृत्यु के भीतर अवस्थान करूँगा? हे माँ, जब तक नहीं समझ सका, तब तक इस यातना का अनुभव ही नहीं हुआ। किन्तु अब तो और मुहूर्त्त भर भी सह्य नहीं होता। मा मा, मा हमारी! जीवत्व ब्रह्मत्व को इतनी विभिन्नता देख कर समझ कर उपलब्धि करके, और तो एक मुहूर्त्त भी अव यहाँ पर रहने की इच्छा नहीं होती! आहा! जहाँ पर तुम्हारा पूर्ण आनन्दमय भेदातीत निरञ्जन स्वरूप नित्य विराजित हैं, वहाँपर जाने के लिये, वहाँ पर नित्य अवस्थान करने के लिये बड़ी ही इच्छा होती है मा! मुझे ले चलो मा! ले चलो! इस असुर अत्याचार इस जीवत्व के वन्धन में से मुझे निरंतर (हमेशा के लिये) मुक्त कर दो मा! और तो मेरा अपना कहने को कोई नहीं है! और तो किसी को नहीं देख रहा हूँ! केवल तुम—केवल तुम ही मेरी मा, तुम ही मेरा सर्वस्व, तुम ही मेरा मैं हो, मुझे ले चलो। मैं अपने से अग्रसर नहीं हो सकता, मैं बहु दिनों से इस रक्तबीज के अत्याचार सह्य करते करते उसे प्रेय मानकर समझ बैठा हूँ। ऐसा ही अभ्यास हो गया है कि तुमको छोड़कर इसी रक्तबीज को लेकर रहना ही अच्छा लगता है। तुम ही और थोड़ी उतर आओ, तुम ही स्वयं आकर मेरा हाथ पकड़ कर ले जाओ, मैं हमेशा के लिये रक्तबीज के हाथ से परित्राण पाऊँ। मैं ब्राह्मी स्थिति लाभ करके धन्य होऊँ, तुमको मा कह कर पुकारना सार्थक हो। मा मा मा! साधक, यदि यथार्थ ही अपने को रक्तबीज के अत्याचार से उत्पीड़ित मानकर समझे हो, तो

ऐसे ही करके रोओ—रोदन कर सकने ही से मा स्वयं आकर रक्त बीज निधन करेंगी। किन्तु यह सब और बात है।

युयुधे स गदापाणि रिन्द्रशक्त्या महासुरः।
ततश्चैन्द्री स्ववज्रेण रक्त बीजमताड़यत् ॥४१॥
कुलिशेनाहतस्याशु वहु सुस्राव शोणितम्।
समुत्तस्थूस्ततोयोधा स्तद्रूपास्तत्पराक्रमाः ॥४२॥

अनुवाद—वह महासुर रक्तबीज हाथ में गदा लेकर इन्द्रशक्ति के साथ युद्ध करने लगा। तब इन्द्राणी भी स्वकीय वज्र द्वारा रक्तबीजको आहत करने लगीं। वज्राहत रक्तबीज की देह से बहुत परिमाण से रक्त स्राव होता था, उस रक्त से तादृश (उसी के समान) पराक्रमशाली एवं उसी प्रकार आकार विशिष्ठ असुरगण उत्थित होने लगे।

व्याख्या - क्रम से अ मातृका-शक्ति के साथ रक्तबीज का युद्ध वर्णित होगा। प्रथम ही इन्द्राणी के साथ इसका युद्ध आरम्भ हुआ। उसने बज्र द्वारा रक्तबीज को आघात किया। पूर्व कहा जा चुका है—पाणिन्द्रिय के अधिपति हैं इन्द्र। पाणि शब्दका अर्थ—आदान-शक्ति, एवं वज्र—तड़ित् शक्ति। "मैं जीव" यह भाव पाणि प्रभृति विभिन्न इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध विशिष्ठ होकर ही प्रकाश पाता है। साधन बल से मा की कृपा से साधक की पाणिप्रभृति इन्द्रियों की शक्ति जब परमात्म भाव से परिभावित होना आरम्भ करती है, तभी उसका जीवभाव क्रम क्रम से विशीर्ण होता जाता है। यह ही इन्द्राणी के वज्रप्रहार द्वारा रक्तबीज की देह से बहु रुधिर-स्राव रूप से वर्णित हुआ है। यद्यपि मंत्र में सब इन्द्रियों का उल्लेख नहीं, तथापि एकमात्र पाणीन्द्रिय द्वारा ही सब इन्द्रियों के उपलक्षण समझने चाहिये। असल बात यह है कि, इन्द्रियों को आश्रय करके

ही जीवभाव परिपुष्ट होता है। किन्तु मा की कृपा से वे जितनी ही सत्ताहीन होने लगती है जीवभाव भी उतना ही विशीर्ण होना आरम्भ करता है। तब यहाँ पर विशेषभाव से लक्ष्य करने का विषय यह है कि, कितना ही विशीर्ण क्यों न हो, कितना ही रक्तपात क्यों न हो, जीवभाव जैसा था ठीक वैसा ही रह जाता है। एकमात्र इन्द्रिय के विलय से वा संहरण से जीवभाव किसी प्रकार भी विशीर्ण नहीं होता—विलय प्राप्त नहीं ह ता। केवल एकमात्र क्यों, समस्त इन्द्रियों के विलय होने से भी, अर्थात् प्रज्ञालोक के द्वारा जीवभाव सहस्रधा क्षत विक्षत होने पर भी "मैं जोव" यह द्वैत प्रतीति निः-शेषित नहीं होना चाहती।

यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः।
तावन्तः पुरूषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः ॥४३॥

अनुवाद—उसके (रक्तबोजके) देह से जितनी रुधिर विन्दु निर्गत होने लगी, उतने ही रक्तवीज की तरह, बल एवं विक्रम सम्पन्न पुरुष अर्थात् असुर सब उत्पन्न होने लगे।

व्याख्या—जिस मुहूर्त्त में पाणिप्रभृति इन्द्रियों की शक्ति परमात्म सत्ता में विलीन होना आरम्भ करती है; उसी मुहूर्त्त में ही इन्द्राणी प्रभृति शक्ति के साथ रक्तबीज का इस प्रकार युद्ध संघठित होता है। इन्द्राणी प्रभृति मातृगण आज प्रलय शक्ति रूप से आविर्भूता है; सुतरां नाना भाव से रक्तबीज को निहत करने को उद्यता हैं। इन्द्राणी को वज्रप्रहार से—आदान शक्ति के सम्पूर्ण संहरण से, रक्तबीज जितना ही आहत अर्थात् जीवभाव जितना ही विशीर्ण होने लगता है उतना ही रुधिरस्राव अर्थात् रञ्जित होने का भाव बहुधा विभक्त हो पड़ता है। इसके पूर्व जो इस प्रकार रञ्जित नहीं होता था, सो नहीं तब

उस समय यह बहुभाव रञ्जनारूप व्यापार (घटना) परिलक्षित नहीं होता था। अब वह प्रज्ञा के आलोक से उद्भासित हुआ है, इसीसे यह सूक्ष्मतम दोष राशिरूप असुर कुल को लक्ष्य करनेकी सामर्थ्य हुई है। एक विन्दु रुधिर से फिर जो तादृश शक्तिमान—तादृश वीर्य बल और विक्रम सम्पन्न असुरों का उद्भव किस प्रकार होता है, सो पूर्व कहा जा चुका है। वीर्य शब्द का अर्थ प्रभाव; बल—शारीरिक शक्ति एवं विक्रम – उत्साह है। अच्छा जो हो; विषय को जटिल करने से कुछ लाभ नहीं। "मैं जीव" यह भाव नाना उपायों से पुनः पुनः विशीर्ण होने पर भी फिर परक्षण में ही देखा जाता है कि वह ठीक पूर्व जैसा ही बल वीर्य एवं विक्रम सम्पन्न होकर फूट उठा है। "मैं जीव" इस प्रकार के विशिष्ट भाव का उदय होता है तभी तो साधक ब्रह्म क्षेत्र से दूर में अवस्थान करने को बाध्य होता है। केवल इस एक बात के प्रति लक्ष्य रखने से ही रक्तबीज का युद्ध-रहस्य सहजबोध्य होगा।

ते चापि युयुधुस्तत्र पुरुषा रक्तसम्भवाः ।
समं मातृभिरत्युग्र-शस्त्रपातातिभीषणम् ॥४४॥
पुनश्च वज्रपातेन क्षतमस्य शिरोयदा ।
ववाह रक्तं पुरुषास्ततो जाताः सहस्रशः ॥४५॥

अनुवाद—वे रक्तसम्भूत असुरगण अति उग्र अस्त्र शस्त्र प्रयोग से मातृगणों के साथ भीषण युद्ध करने लगे। इन्द्राणी ने पुनः बज्र प्रहार से इनका शिरोदेश क्षत विक्षत कर दिया; तब उनसे बहु रक्त स्राव होने लगा, पुनराय उस रक्त से सहस्र सहस्र असुर उत्पन्न हुये।

व्याख्या—असुरगण अती भीषण युद्ध करने लगे। अति उग्र अस्त्र शस्त्र-प्रयोग का तात्पर्य्य—दुरपनेय द्वैत संस्कारों का सम्बन्ध।

साधक गण जब बुद्धि से सम्पूर्ण पृथक रूप से आत्म सत्ता उपलब्धि करने का प्रयास करते है, तव पुनः पुनः जीवत्व संस्कार– भेदज्ञानका संस्कार फूट उठने लगता है एवं साधक को अद्वय सत्ता से विच्युत कर डालता है; यह ही रक्तबीज के भीषण युद्ध का रहस्य है।

इन्द्र शक्ति एकवार वज्रपात करती हैं, तैसे ही असुरों के अंग प्रत्यंग क्षत विक्षत होकर रुधिर स्राव होने लगता है। पुनराय उसमें से असंख्य रक्तबीज उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य्य यह है कि मैं जीव इस भाव को कितना ही क्षत विक्षत क्यों न किया जावे, वह किसी भी प्रकार विनष्ट नहीं होना चाहता; वरं सहस्रगुणा परिवर्द्धित होता है। यद्यपि यह वृद्धि अज्ञान अवस्था की तुलना में खूब ज्यादा नहीं, तथापि ज्ञ नालोक जितना समुज्वल होता जाता है, जीवभावकी अनिष्ट कारिता उतने ही तीव्रभाव से अनुभूत होती जाती है, इसी से मंत्र में सहस्र सहस्र असुर उत्पत्ति का विषय वर्णित हुआ है। साधक! मैं जीव इस बोधके प्रति विशेषभाव से लक्ष्य करने ही से समझ सकोगे सहस्र सहस्र रक्तबीज उत्पन्न होते है या नहीं! आत्मज्ञान जितना समुज्वल होता जाता है, रक्तबीज की संख्या मानो उतनी ही परिवर्द्धित होती जाती है अनुभूति की बात भाषा में और कितनी कही जा सकती है?

वैष्णवी समरे चैनं चक्रेणाभिजघान ह।
गदया ताड़यामास ऐन्द्री तमसुरेश्वरम् ॥४६॥
वैष्णवी-चक्रभिन्नस्य रुधिरस्राव सम्भवैः।
सहस्रशो जगद्व्याप्तं तत् प्रमाणै र्महासुरैः ॥४७॥
शक्त्या जघान कौमारी वाराही च तथासिना।
माहेश्वरी त्रिशूलेन रक्तबीजं महासुरम् ॥४८॥

अनुवाद—इन्द्राणी जैसे असुर श्रेष्ठ रक्तबीज को वज्राघात से विताड़ित करती थीं, वैष्णवी शक्ति भी उसी प्रकार युद्धस्थल में इनको चक्र के द्वारा आहत एवं गदा प्रहार से विताड़ित करने लगी। वैष्णवी के चक्र से विदीर्ण रक्तबीज की देह से जो रुधिर स्राव होता था, उससे तत् प्रमाण महासुरगणों ने समुत्थित होकर समस्त जगत् परिव्याप्त कर लिया। तब कौमारी शक्ति—अस्त्र प्रयोग से, वाराही असि के आघात से एवं माहेश्वरी त्रिशूलाघात से रक्तबीजगणों को निहत करने लगीं।

व्याख्या। विष्णु शक्ति एवं उनकी गदा और चक्र का रहस्य पूर्व में व्याख्यात हो चुका है। चिति शक्ति के विभिन्न प्रकाश समूह जब जीव भाव के प्रतिकूल में दण्डायमान होते हैं, तब उनके प्रवल आक्रमण से वे अवश्य विखण्डित होते रहते हैं, किन्तु अनादिजन्म-संचित जीवत्व के जो विशिष्ट संस्कार हैं, सो किसी प्रकार भी सहसा दूरीभूत नहीं होना चाहते। इसको आश्रय करके ही अस्मिता अपनी विशिष्ट सत्ता को अक्षुन्न राखने का प्रयास पाता है।

रक्तबीज की देह से जो रक्तस्राव होता था, उससे असंख्य रक्त बीज ने उद्भूत होकर समग्र जगत्को परिव्याप्त किया। प्रज्ञाके आलोक प्रकाश से मैं जीव यह भाव जितना ही विशीर्ण होता जाता है, उतना ही यह जीवभाव मानों अमितबल और सर्वव्यापी रूप सें प्रकाश पाता है। कारण, अब तक जीवभावातिरिक्त और कोई भाव प्रत्यक्षीभूत नहीं हुआ। विशोका ज्योतिही कहो, बुद्धि तत्वही कहो, किम्वा महत्-तत्वही कहो, सब भाव ही जीवभाव के साथ अन्वित होकर—मिलकर—प्रकाश पाते थे; इसी से इतने दिनों तक मात्र जीवभाव एक रूप से ही लक्षित होता था, किन्तु अब मा की कृपा से थोड़ा थोड़ा कर के विशुद्ध बोध उद्भासित होता है, क्षीण-प्रभा रेखा की तरह अद्वयज्ञानालोक आकर निमेषार्द्धकालके लिये भी जीवभाव को विलय कर देता है; अब विभिन्न भावों को पृथक पृथक रूप से लक्ष्य करने की सामर्थ्य हुई है, इसी से अब जीवभाव

के प्रति लक्ष्य पड़ते ही, वह असंख्य एवं अमित बलशाली रूप प्रतीत होने लगता है। जीव भाव वास्तव में एक होने पर भी वह क्षण में उदय होता है। इसी से तो उसे असंख्य एवं जगत्‌व्यापी कहा जाता है। जगत् में जिस तरफ ही दृष्टिपात करो, जगत् के जिस किसी भाव को ग्रहण करो, सभी में होकर मैं जीव यह भाव सर्वाग्रे फूट उठता है, इसी से रक्तबीज असंख्यरूप से प्रतिभात होता रहता है।

जो हो, रक्तबीज की संख्या इस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्द्धित होते जाते पर भी, मातृशक्ति समूह स्व स्व अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से रक्तबीज को क्षय करने के लिये प्राणपण चेष्टा करने लगीं। कौमारी देवी शक्ति-अस्त्र प्रयोग से, वाराही अद्वयज्ञानरूप तीक्ष्ण खड़गाघात से एवं माहेश्वरी आनन्दमय त्रिपुटी रूप त्रिशूलाघात से रक्तबीज को संख्या ह्रास करने के लिये यथा साध्य प्रयत्न प्रयोग करने लगीं। मा हामारी नाना रूप से आविर्भूत होकर, नाना शक्ति मूर्ति से प्रकटित होकर, अनादि जन्म संचित जीवभाव को विशीर्ण करने का प्रयास पाने लगीं। धन्य मा की दया, यह दया भाषाद्वारा प्रकट नहीं होती, यह ही तो यथार्थ मातृत्व हैं! हमारे कहाँ क्या भेदज्ञान है, हमारे कहाँ क्या घाव है, उसे दूर करने के लिये, हमको निरवच्छिन्न आनन्दमय मातृअंक में स्थान देने के लिये, इस प्रकार यत्न ऐसा प्रयास एकमात्र मा को छोड़कर और कौन करता है? ओरे, मैं जो मातृ-अंग स्थित नग्न शिशु हूं।

स चापि गदया दैत्यः सर्व्वा एवाहनत् पृथक्।
मातृः कोपसमाविष्टो रक्तबीजोमहासुरः ॥४९॥
तस्याहतस्य बहुधा शक्ति शूलादिभिर्भुवि।
पपात यो वै रक्तौघस्तेनासञ्छतशोऽसुराः ॥५०॥

अनुवाद—वह महासुर रक्तबीज भी तब कोपाविष्ट होकर गदा द्वारा मातृशक्ति समूह को पृथक पृथक भाव से आघात करने लगा। (और दूसरी ओर मातृशक्ति निक्षिप्त) शक्ति शूलादि अस्त्रों के द्वारा बहुधा आहत होने की वजह से; उसके शरीर से जो रक्त प्रवाह भूतल पर निपतित होता था, उससे शत शत (अर्थात् असंख्य) असुर उत्पन्न होने लगे।

व्याख्या—ऐन्द्री वैष्णवी माहेश्वरी प्रभृति देव शक्ति समूह प्रत्येक ही पृथक पृथक भाव से जीव भाव का सम्यक विलय करने के लिये उद्यत हुईं। स्व स्व अस्त्र-शस्त्र प्रयोग से रक्तबीज के निधन करने की चेष्टा करने लगीं। रक्तबीज किन्तु किसी प्रकार भी विलय नहीं होने चाहता। विशेष अध्यवसाय-प्रयोग से कुछ क्षण के लिये अव्यक्त भाव में रहने पर भी व्युत्थान अवस्था में फिर भी 'मैं जीव" ऐसा एक व्यक्त भाव फूट उठता है। अष्टमातृका शक्ति के प्रबल आकर्षण से विशुद्ध बोधमय स्वरूप की ओर लक्ष्य रखने के फल से, जीव भाव कुछ क्षण के लिये अव्यक्त क्षेत्र में अदृश्य हो जाता है, किन्तु परक्षण में ही फिर "मैं जीव" यह व्यक्त भाव प्रकाश पाता है। यही रक्तबीज का गदा प्रहार है। गद् धातु का अर्थ व्यक्त वाक्य। प्राचीन टीकाकार गोपाल चक्रवर्ती ने भी एक स्थान में गदा शब्द का व्यक्त वाक्यरूप अर्थ किया है। मातृकागण पृथक पृथक भाव से रक्तबीज को ध्वंस करने की चेष्टा करने लगीं, रक्तबीज भी उनके सामने अपने व्यक्त भाव को पुनः पुनः दिखाने लगा। जो हो, रक्तबीज को निधन करना तो दूर की बात है, अस्त्राघात से उसके शरीर में से जो रक्त प्रवाह वहने लगा, उससे असंख्य असुर आविर्भूत हुये। पूर्ववर्त्ती मन्त्र में इसी रुधिर से असुर आविर्भाव का रहस्य कहा जा चुका है। स्थूल बात यह है कि; जीवभाव को जितना ही विलय करने की चेष्टा क्यों न करो, किसी प्रकार भी वह सम्यक रूप से विलय होना नहीं चाहता, वरं और भी मानो परिवर्धित एवं बल वीर्य सम्पन्न होकर प्रकाश पाता है। पुरुषार्थ प्रयोग से जीवत्व विलय

एकान्त ही असम्भव है। तब हाँ जहाँ स्वयं मा ही पुरुषार्थ रूप से प्रकाशित हों, उस जगह की बात स्वतन्त्र है।

तैश्चासुरासृक् सम्भूतैरसुरैः सकलं जगत्।
व्याप्तमासीत्ततो देवा भयमाजग्मुरुत्तमम् ॥५१॥

अनुवाद। रुधिर सम्भूत उन रक्तवीज नामक असंख्य असुरो कर्त्तृक समग्र जगत् परिव्याप्त होगया है देखकर देवतागण अतिशय भीत हुये।

व्याख्या—देवतागण—इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवृन्द जगदव्यापी रक्तवीज असुर की सत्ता देख कर भयार्त्त हो पड़े। जिधर ही दृष्टिपात करते हैं जिधर ही अवधान प्रयोग करते हैं, उधर ही असंख्य रक्तबीज, उधर ही "मै जीव' इस द्वैतभाव के दारा विशुद्ध चैतन्य क उत्पीड़न दिखाई पड़ता है। जब हजारों चेष्टा करने पर भो इस दुरपनेय जीवभाव के हाथ से किसी प्रकार परित्राण नहीं पाया जाता, तब यथार्थ ही प्रबल भय एवं अत्यन्त नैराश्य आ उपस्थित होते हैं।। इसी भय और नैराश्य के भीतर होकर साधकों के हृदय में एक तीव्र विरह फूट उठता है। वह विरह यथार्थ असह्य ही बोध होने लगता है। जब देखता है, प्रियतम के साथ किसी प्रकार भी नहीं मिलित हुआ जाता, किसी भी प्रकार से परम प्रेमास्पद के हृदय से हृदय मिलाकर अपने को नहीं खो दिया जा सकता, तब साधकों का कष्ट यथार्थ ही असहनीय हो उठता है। अतिस्वच्छ बुद्धि रूप परकोटा की आड़ में प्रियतम को देखा जाता है, बुद्धि की अड़ाल में से ही प्रियतम का अपरूप रूप देखकर मुग्ध होने होता है, प्रियतम के प्राप्त करने की आशा दिन दिन परिवर्द्धित होती है, अथच उस बुद्धि की चहर दीवारी को भङ्ग करके प्रियतम के चरणों में सर्वतोभावसे मैं को नहीं डाल सकता। सुतरां दिन दिन विरह वेदना परिवर्द्धित होती है एवं यह जीवत्व असहनीय यातनाप्रद मालूम पड़ता है। अरे वह जो अति पवित्र, अति विशुद्ध है, वह जो मेरा सर्वभावातित निरञ्जन है, वह जो मेरा परम प्रेममय आत्मा है, वह जो मेरा आनन्द-

मय जीवन वल्लभ है, वह जो मेरा मधुमय जीवन सर्वस्व है, में उसमें कैसे जाकर समा जाऊं ? वे ब्रह्म मैं क्षुद्र जीव। मैं किस प्रकार उनमें मिल जाऊंगा ? दो असमान वस्तुओं का मिलन होता है क्या ? मैं जीव यह बोध जितने दिनों तक अपनीत नहीं होगा उतने दिनों तक बुद्धि के परपार अवस्थित परमप्रियतम के साथ किसी प्रकार भी नहीं जाकर मिल सकूंगा। आधूनिक कोई कोई वैष्णव सम्प्रदाय के साधक भगवान के साथ भक्तों का मिलन एकान्त असम्भव और नितान्त अन्याय कह कर घोषणा करते हैं। वे यदि वेदके "तत्वमसि" प्रभृति महावाक्य चतुष्टय के अर्थ के प्रति थोड़े विशेष भाव से प्रणिधान करें, तो निश्चय ही समझ सकेंगे कि इन वाक्य चतुष्टय के भीतर होकर ही परमप्रेम सूचित हुआ है। धन्य हैं वे ऋषिगण जिनके हृदय में सर्व प्रथम यह अपूर्व सम्बेदन फूट उठा था जो परम प्रेमास्पद के चरणों में अपने को सम्पूर्णभाव से विलीन करके प्रेम की पराकाष्ठा में उपनीत हुये थे। विन्दुमात्र भेद ज्ञान रहते भी तो प्रेम की पूर्णता नहीं होती, हो ही नहीं सकती, इसे समझ कर ही उपनिषद्के ऋषिगण "अयमात्माब्रह्म" कहकर ब्रह्म समुद्र में अपनी पृथक सत्ता को सम्यक भाव से मिला देते थे। आज उनके मुखोच्चारित उन्हीं पवित्र महावाक्य को श्रवण करके, उनके ही पदचिन्हों का अनुसरण करके, कितने युग युगान्तरों पर भी जीव परम प्रेम और परम ज्ञान का सन्धान पाकर जीवन धन्य कर रहे हैं। वैंष्णव शास्त्र वर्णित गोपीप्रेम एवं राधाप्रेम जो क्या वस्तु है, यहाँ पर नहीं आनेसे, किसी प्रकार भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

साधक ! जब तक 'मुझे' (मैं को) —मा की, आत्मा की यथार्थ उपलब्धि नहीं कर सकोगे, जबतक मा का स्वरूप सम्यक् उद्भासित नहीं देखोगे, तबतक विरह वेदना किसी तरह भी दूर नहीं होगी। मैं जीव, ऐसी द्वैत प्रतीति रहते किसी भी प्रकार मिलन नहीं होता। याद रक्खो, अद्वयज्ञान ही है मिलन एवं भेदज्ञान ही है विरह। जिनका कभी भी प्रियतम के साथ मिलन संघटित नहीं हुआ।

प्रियतमका विरह क्या वस्तु है, इसे वे किसी प्रकार भी नहीं समझ सकते। किन्तु वह और बात हैं।

उपनिषद् कहती है। "द्वितीयात् वै भयं भवति"। द्वैतज्ञान होनेसे ही भय आपतित होता है। इसी से मंत्र में उक्त हुआ है—देवतागण अगणित रक्तबीज असुर देखकर भीत हुये थे। यहाँ पर उपनीत हो सकने से; इस रक्तबीज-समर में उपस्थित होने की सामर्थ्य लाभ करने से, तब इस उपनिषद् वाक्य का रहस्य समझा जा सकता है, भय जो क्या वस्तु है, उसकी उपलब्धि होती है। अरे! जगत् में जो तुम भय भय करके संकुचित होते हो, वह और कितना भय है? वह तो भय का आभास मात्र है। भय की अति दूरवर्त्ती छाया मात्र है। यथार्थ भय यहाँ पर आने से समझ में आता है। यह जो थोड़ा-सा भेद, यह जो थोड़ा-सा द्वैत है, वह किसी प्रकार भी अपसृत नहीं होता! इसी से भय भी दूर नहीं होता।

मंत्र में 'भयमाजग्मुरुत्तमम्' बात में और भी थोड़ा रहस्य है। यहाँ पर भय को उत्तम कहा गया है; जागतिक यावतीय भय अधम हैं। एकमात्र यही जीव ब्रह्म मिलन के सन्धि क्षणमें जीवत्वरूप भेद-ज्ञान से ही जो भय आपतित होता है,वह ही उत्तम भय नाम से प्रसिद्ध है। साधक! कब तुम प्रियतम के तीव्र आकर्षण से देह, मन, इन्द्रिय प्रभृति परित्याग करके विज्ञानमय क्षेत्रमें उपनीत होओगे, कब विज्ञान के परपार स्थित परमात्मा के लोकातीत स्वरूप को देख कर एकान्त मुग्ध होओगे, कितने दिनों में अभया को स्मरण करके, इस उत्तम भय के स्वरूप को अवगत होकर अभय पद में प्रतिष्ठित होओगे!

तान् विषण्णान् सुरान् दृष्ट्वा चन्डिका प्राह सत्त्वरा।
उवाच कालीं चामुण्डे विस्तरं वदनं कुरु ॥५२॥

अनुवाद—देवतागणों को इस प्रकार विषण्ण देखकर चण्डिका सत्वर होकर बोलीं, (हे देवतागणो, तुम विषण्ण मत होओ)। फिर काली से बोलीं—हे चामुण्डे! अपना वदन (मुख) विस्तृत करो।

व्याख्या—"मैं जीव" यह भाव किसी प्रकार भी अपनीत नहीं होना चाहता, किसी तरह भी निष्कल ब्रह्मसमुद्र में अवगाहन नहीं किया जाता। इसे देखकर देवतागण एकान्त विषादग्रस्त हो पड़े थे। इसी से मा हमारी ने विषण्ण देवतागणो से, "मा विषीदत तुम विषण्ण मत होओ" कहकर अभय प्रदान किया। इस प्रकार जब देवतागण द्वैतज्ञान के द्वारा उत्पीड़ित होते हैं, विषादग्रस्त होते हैं, तभी अद्वयज्ञान रूपिणी मा हमारी इसी प्रकार की अभयवाणी से देवतागणों के हृदय से विषाद शल्य विदूरित कर देती हैं।

इस मंत्र में प्राह एवं उवाच, ऐसे समानार्थ-बोधक शब्द दो रहने से, कोई कोई प्राचीन टीकाकार गणने "मा विषीदत" इस वाक्य का अध्याहार करके अर्थ के सामञ्जस्य की रक्षा की है। हमने उन्हीं के पदाङ्क अनुसरण करके पूर्वोक्त रूप व्याख्या की है। "तत्व प्रकाशिका" ने किन्तु "प्राहसत्वरा" एक समस्त पद को स्वीकार करके, प्राह शब्द का अर्थ किया है युद्ध।

अच्छा जो हो, मा ने एक तरफ जैसे अभयवाणी से देवता बृन्दों का बिषाद विदूरित किया, दूसरी ओर तैसे ही रक्तबीज के वध का भी उद्यम किया। उद्यम के प्रथम में ही चामुण्डा शक्ति को वदन (मुख) विस्तृत करने का आदेश किया। इस वदन विस्तार की प्रयोजनीयता परवर्त्ती मंत्र में वर्णित होगी।

मच्छस्त्रपात सम्भूतान् रक्तबिन्दून् महासुरान्।
रक्तबिन्दोः प्रतीच्छ त्वं वक्त्रेनानेन बेगिता ॥५३॥

भक्षयन्ती चर रणे तदुत्पन्नान् महासुरान्।
एवमेष क्षयं दैत्यः क्षीणरक्तो गमिष्यति ॥५४॥

भक्ष्यमानास्तया चोग्रा न चोत्पत्स्यन्ति चापरे ॥५५॥

अनुवाद—मेरे अस्त्राघातसम्भूत रक्तबिन्दुओं को एवं रक्तबिन्दू सम्भूत असुरों को तुम सवेगसे (विस्तृत) मुख में ग्रहण करो। इसी तरह रक्तबिन्दू सम्भूत असुर बृन्दों को भक्षण करते करते रणस्थल में विचरण करो। इस प्रकार से दैत्य रक्तबीज क्षीणरक्त होकर विनाश को प्राप्त होगा। तुम्हारे कर्त्तृक इस प्रकार भक्षित होने से फिर कोई असुर उग्रभावापन्न नहीं रह सकेगा, एवं अपर अभिनव असुर कुल भी समुत्पन्न नहीं हो सकेंगे।

व्याख्या—चण्डिका देवी ने प्रलयङ्करी कालीशक्ति को वदन विस्तारपूर्वक अस्त्र द्वारा क्षत-विक्षत रक्तबीज के रुधिर बिन्दुओं को एवं रुधिरोत्पन्न असुरों को ग्रास करने का आदेश किया। यथार्थ ही संहारिणी शक्ति जीव भाव को समूल ग्रास न करने से इस रक्तबीज-वध का उपाय नहीं होता। जीवभाव के बीज तक को ग्रास करने होगा। यद्यपि जबतक शुम्भ वध नहीं होता, तबतक जीवभाव के सूक्ष्मबीज रह जाते हैं, तथापि जो व्यक्त भाव साधकों को जीव-रूप से प्रतिभात कर डालते हैं, अद्वय ब्रह्म से पृथक किये राखते हैं, उन व्यक्त जीवभावों को सर्वतोभाव से यहाँ विलय करने होगा। यह ही चामुण्डा के प्रति मा का आदेश है। संहारिणी शक्ति यदि असुरों को इस प्रकार से ग्रास करती रहे, तो रक्तबिन्दुओं को भूतल पर पतन का अवकाश ही नहीं रहेगा; सुतरां भूपतित रक्तबिन्दू से फिर अभिनव असुरों का उत्थान भी सम्भव नहीं होगा। इसीप्रकार रक्तबीज क्षीणरक्त होकर विनाश को प्राप्त होगा।

खुलाशा कहें, पूर्व में उक्त हुआ है, 'मैं जीव' यह जो प्रतीति है, इसका यह मैं होता है बीज एवं जीवत्व होता है रक्त। कोई न कोई विशिष्ट भाव रहता है तभी तो मैं रूपी बीज जीवत्व-रूप-रक्त द्वारा अभिरञ्जित होता है। अब प्रलयङ्करी चामुण्डा मा यदि कृपा करके हमारी यावतीय विशिष्टताओं को ग्रास करें अर्थात् अनादि जन्म सञ्चित इस जीवभाव को किसी विशिष्टता के साथ सम्बन्धयुक्त न होने दें (विशिष्टता के साथ सम्बन्धयुक्त होना ही रक्तबिन्दु का

भूपतन है) तो फिर जीवभाव की वा रक्तबीज की परिवर्द्धन शक्ति न रहेगी। जीवभाव उठ खड़ा होकर, किसी भी विशिष्टता आश्रय ले कर, मैं को रञ्जित करने के पूर्व ही यदि चामुण्डा के कराल कवल में प्रवेश करे, तो फिर रक्तबीज का अस्तित्व न रहेगा। थोड़ा गंभीर रहस्य है। शारीरक भाष्य में जो युष्मत् एवं अस्मत् प्रत्यय गोचर विषय एवं विषयी का परस्पर अध्यास वर्णित हुआ है, उस अध्यास का असली स्वरूप इस रक्तबीज समर में उपनीत साधकों के सामने प्रत्यक्ष होता है। अहं प्रतीति गोचर वस्तु का स्वरूप सम्यक् प्रकाशित होने के पूर्व ही अनात्मभाव वा जीवभाव फूट उठता है। शत चेष्टाओं द्वारा भी इस अनात्म-प्रतीतिके हाथ से परित्राण नहीं पाया जाता; यह ही तो रक्तबीज का समर है। मान लो—तुम अद्वय स्वरूप में उपनीत होने को उद्यत हो। उसी समय पूर्वसंचित संस्कारो के बश तुमको विशुद्ध चित् स्वरूप से विशिष्ट चैतन्य में अवतरण करना पड़ा। वह विशिष्टता मन, बुद्धि, इन्द्रिय रूप सूक्ष्म ही हो, अथवा देह किंबा रूप रसादि विषय रूप स्थूल ही हो, तुमको किन्तु उस विशुद्ध क्षेत्र से विशिष्टता में उतरना ही पड़ता है। उस अद्वय क्षेत्र में ठहरने का उपाय नहीं। अरे, "मा को देखता हूं" "मा का ध्यान करता हूं" "परमात्मा का साक्षात्कार लाभ करता हूं"—ये सब भी तो द्वैत ज्ञान हैं। ये भी तो जीव भाव हैं। मैं परमात्मा से एक पृथक हूं—इस प्रकार थोड़ा सूक्ष्म भाव रहता है तभी तो पूर्वोक्त रूप भेद ज्ञान समूह फूट उटते हैं। ये ही तो रक्तबीज हैं। इनका विलय करने के लिये सर्व भावों का एकान्त विलय आवश्यक है। नहीं तो कोई तरह की कुछ विशिष्टता रहने ही से मैंत्व रञ्जित हो पड़ेगा। सुतरां जिस किसी भी प्रकार से हो, इस रञ्जन भाव को अर्थात् रक्त बिन्दुओं को विलय करके शुद्ध आत्मा रूप में अव्यय बीज रूप में अवस्थान करने होगा, एकाकी होने होगा। ऐसा होने ही से रक्तबीज असुर विनष्ट होता है। तब अस्मिता और ममता मात्र अवशिष्ट रहती है। आओ साधक! हम "जय काली" बोल

कर प्रलयङ्करी चामुण्डा शक्ति के शरणागत हों। वे स्वकीय सर्वग्रासी वदन मण्डल विस्तारित करके रुधिर सह रक्तबीजों को ग्रास करेंगी। तब हम जीव भाव के हाथ से सम्यक् परित्राण लाभ करके अद्वैत तत्व में उपनीत होंगे। हमारा जन्म मृत्यु रूप संसार प्रवाह चिरकाल के लिये (हमेशा के लिये) निरुद्ध हो जायेगा।

इत्युक्त्वा तां ततो देवी शूलेनाभिजधान तम्।
मुखेन काली जगृहे रक्तबीजस्य शोणितम् ॥५६॥

अनुवाद—काली को इस प्रकार आदेश करके चण्डिका देवी ने स्वयं रक्तबीज को शूलाघात किया। कालिका देवी भी तभी विस्तृत मुख से उसका शोणित समूह पान करने लगीं।

व्याख्या—मा के शूलाघात वाक्य का तात्पर्य—आनन्दमय ज्ञानालोक सम्पात है। शूल शब्द का तात्पर्य इसके पूर्व अनेक बार व्याख्यात हो चुका है। शूल ही मा का प्रधान अस्त्र है। द्वैत प्रतीति रूप असुरकुल एकमात्र विशुद्ध ज्ञानालोक व्यतीत अन्य किसी प्रकार से भी समूल विनष्ट नहीं होता। साधक! मत समझ बैठना, ज्ञान के एक मुहूर्त्त मात्र प्रकाश से ही तुम्हारा समस्त अज्ञान हमेशा के लिये विध्वस्त हो जावेगा एवं ज्ञानमयी अवस्था सहज हो जायगी; सो नहीं होता। थोड़ा-थोड़ा करके ज्ञान का प्रकाश होता है, थोड़ा थोड़ा करके ज्ञान दृढ़भूमिक हो जाता है, थोड़ा-थोड़ा करके अज्ञान विनष्ट होता हैं। तब जो सुनते हो, "हजार वर्षों का अन्धकार घर भी एक ही मात्र दीप शलाका से आलोकित हो जाता है" इसका तात्पर्य यही है कि—एक बार मात्र विशुद्ध ज्ञानालोक प्रकाश पानेसे जीव फिर कभी भी अज्ञान अन्धकार में डूबा नहीं रह सकता! दिन-दिन उस क्षणदृष्ट ज्ञानालोक की ही ओर तीव्र पुरुषकार के साथ अग्रसर होता रहता है। फिर कभी भी भ्रान्ति ज्ञान के मोह में मुग्ध नहीं होता।

अज्ञान जो धीरे-धीरे समूल विनाश को प्राप्त होता है, भगवान के वाक्य द्वारा यह विशेष भाव से प्रमाणित होता है। वे बोले हैं—"समिद्ध अग्नि जैसे ईन्धन समूह को भस्मसात् कर देती है, ज्ञानरूप अग्नि भी उसी प्रकार सर्व कर्म्मों को अर्थात् अज्ञान को भस्मीभूत कर देती है।" इस वाक्य में हमारा वर्त्तमान प्रस्ताव का लक्ष्य करने का विषय यह है कि, ईन्धन समूह के साथ अग्नि संयोग होते मात्र वह जिस प्रकार भस्म रूप में परिणत नहीं होता, सम्यक् भस्मीभूत होने में समय की आवश्यकता होती है, ज्ञानाग्नि संयोग से अज्ञान-ईन्धन भी उसी प्रकार क्रम-क्रम से विनष्ट होता है। जो इस बात को स्वीकार न करें, वे थोड़े सोच कर देखें- जब तक देह एवं जगत् का भान है, तबतक अति अल्पमात्र होनेपर भी, आभास मात्र होने पर भी, बाधितानु वृत्ति होने पर भी, अज्ञान है, उसका सम्यक् विलय नहीं हुआ, यह स्वीकार करने ही होगा। ज्ञान की किन्तु ऐसी एक समुज्वल अवस्था है, जहांपर उपनीत होने से, फिर भी देहादि अनात्म वस्तु का भान ही नहीं होता। योगवाशिष्ठ ने इसे पदार्थाभाविनी रूप षष्ठ भूमिका एवं तत्परवर्त्ती तुरीयगा रूप सप्तम भूमिका नाम दिया है। यद्यपि वर्त्तमान काल में ऐसी उच्च भूमिका के साधक एकान्त दुर्लभ हैं, तथापि कहने होगा—उक्त प्रकार का ज्ञान एकान्त असम्भव नहीं। मा की कृपा से साधकों के तीव्र पुरुषकार एवं वैराग्य के फल से उक्त रूप समुज्वल ज्ञान का प्रकाश होना खूब ही सम्भव है।

खैर, हम प्रसंगसे थोड़ा दूर आ गए हैं। आओ, आलोचना के विषयके समीप जाऐं। इसके पहले कह रहा था कि माँ शूलाघात से रक्तबीज की देहको क्षतविक्षत कर रही थीं, और प्रलयंकरी काली अपने मुहको खोल कर उन क्षतोंसे प्रवाहित लोहूको पीने लगीं। साधक! सच ही ऐसी घटना होती है। एक ओर से अद्वयज्ञान का प्रकाश क्षनभरके लिए फैल कर भेदज्ञान को—जीवत्व बोध को गहरी चोट पहुँचाता है, फिर दूसरी ओर से कालीशक्ति सर्वग्रासिनी

मूर्ति से सर्वभावों को जीवभावोंको ग्रास किया करती हैं। जीवत्वरूप लोहू रहनेसे ही तो बार बार रक्तबीजका आविर्भाव होता है। किन्तु इस बार हमारे माँ स्वयं काली मूर्तिसे उन लोहुओंको पी रही हैं; अतः इस बार रक्तबीज का वध अवश्यम्भावी और आसन्न है।

ततोऽसावाजघानाथ गदया तत्र चण्डिकाम्।
न चास्या वेदनां चक्रे गदापातोऽल्पिकामपि ॥५७॥

अनुवाद—बाद में उस रक्तबीज ने युद्धस्थल में चण्डिका देवी को भी गदाघात किया था। किन्तु उस गदाघात से देवी को अति अल्प मात्र भी वेदना नहीं हुई।

व्याख्या—इसके पूर्व में रक्तबीज ने अष्ट मातृका शक्ति को गदा का प्रहार किया था, इस बार चण्डिका देवीको भी गदाघात किया। किन्तु मा की ऐसी ही महिमा है, उससे उन्होंने बिन्दुमात्र भी वेदना का अनुभव नहीं किया। आसुरिक भाव समूह जितनी ही विशिष्टता लेकर प्रकाशित हों, "मैं जीव" यह भाव जितना पुनः पुनः व्यक्त हो उठे, उससे मा के अङ्ग में—अद्वय क्षेत्र में—विशुद्ध चिन्मय स्वरूप में किसी तरह की विशिष्टता प्रकाश नहीं पाती इसीसे तो किसी प्रकार का वेदन अर्थात् अनुभूति नहीं फुटा सकता। मा हमारी जैसी नित्यशुद्धा निरञ्जना निर्विकारा थीं ठीक तैसी ही हैं, बिन्दु मात्र विकारभाव उनको स्पर्श नहीं करता। बुद्धिमय क्षेत्र की जो कुछ विशिष्टता है, सो चित क्षेत्र में कभी भी उपस्थित नहीं हो सकती। वेदना शब्द का अर्थ विशिष्ट अनुभूति। जीव भाव जितना ही बलवान हो, जितनी ही आत्मा को जीवत्व के मोह में मुग्ध करने की चेष्टा करे, उससे वहाँ पर—उस विशुद्ध परमात्म क्षेत्र में किन्तु कोई भी संक्षोभ उपस्थित नहीं होता। इसीसे मंत्रमें उक्त हुआ है—मा के अङ्ग में अति अल्पमात्र वेदना भी प्रकाश नहीं पायी।

साधक! पहिले से ही इस वेदन किंवा अनुभूति की बात कहता आ रहा हूं। अनुभूति पकड़ कर तब साधना राज्य में अग्रसर होने

होता है। अनुभूति ही आत्मा, अनुभूति ही मा हैं। पहिले विशेष विशेष भावों की सहायता से विशेष अनुभूति अवलम्बन करके अग्रसर होने होता है। बाद में यहाँ आनेपर; इस रुद्रग्रन्थि भेद के क्षेत्र में उपस्थित होने से, अनुभूति की यह जो विशिष्टता है; सो दूरीभूत हो जाती है; केवल अनुभूति ही रहती है। यह अनुभूति निरवच्छिन्न आनन्दमय है ; इसमें कोई तरह की विशिष्टता नहीं रहती।

सुनो—यदि प्राण-प्रतिष्ठा में अभ्यस्त हुए हो, तो निश्चय ही वेदन वा अनुभूति नामक वस्तु को समझ सके हो। अच्छा, इस बार दर्शन, श्रवण, मनन प्रभृति इन्द्रिय-व्यापार, क्षिति, अप् तेज प्रभृति तत्व किंवा रूप रसादि विषय, ये सभी जो एक एक प्रकार अनुभूति मात्र हैं, इसे सम्यक् रूपसे उपलब्धि करने का सहज उपाय बोले दे रहा हूं—अनुभूति पकड़ कर विषय की ओर आने होता है, फिर विषय पकड़ कर अनुभूति की ओर जाने होता है। कुछ दिनों तक इस प्रकार से अभ्यास करने से ग्राह्य एवं ग्रहण अर्थात् विषय एवं इन्द्रियाँ अनुभूतिमय होने लगेंगे। तब दर्शन कहने से बोध का दर्शन, श्रवण कहने से—बोध का श्रवण, ऐसा अनुभव होने लगेगा। यह अवस्था थोड़ी परिपक्व होनेसे, तब इन दर्शन श्रवणादि विशेष विशेष भावों को परित्याग करके केवल अनुभूति—केवल बोध को पकड़ कर रहने की चेष्टा करनी होगी। प्रथम प्रथम इस निर्विशेष बोध को पकड़ने जाने ही से पश्चात्पद होने होगा, मानो एक भयानक वैद्यु-तिक शक्ति जोर करके उस स्थान से हटा देगी; तथापि पुनः पुनः चेष्टा करोगे, एवं "मा गोदी पर लो, मा गोदी पर लो" बोल कर कातर प्राणों से रोते रहोगे। तब मा की कृपा से उसमें क्षणकाल स्थिति प्राप्त कर सकोगे "केवलं ज्ञानमूर्त्ति" गुरु क्या वस्तु हैं, सो समझ सकोगे। पूर्वमें जो अनुभूति की विशिष्टता कही, वही है ज्ञान की ग्रन्थि। इस ग्रन्थि का भेद करने के लिये इसी प्रकार तीव्र प्रयत्न एवं मा की कृपा के ऊपर निर्भर करने होता है। इस रुद्रग्रन्थि का भेद होने से क्या होता है, सो फिर पुस्तक में लिखकर जनाने की

आवश्यकता नहीं। साधक! स्वयं ही उसे सम्यक् समझ सकेगा। संक्षेप में इतना ही मात्र बोल रखता हूं—जीवन्मुक्ति नाम से जो एक बात केवल पुस्तक में पढ़कर एवं लोगों के मुख से सुनते आ रहे हो, सो स्वयं ही उपलब्धि कर सकोगे। किन्तु ये सब और बातें हैं—

तस्याहतस्य देहात्तु बहुसुस्रावशोणितम्।
यतस्ततस्तद्वक्त्रेण चामुण्डा सम्प्रतीच्छति ॥५८॥
मुखे समुद्गता येऽस्या रक्तपातान्महासुराः।
तां श्चखादाथ चामुण्डा पपौ तस्य च शोणितम् ॥५६॥

अनुवाद—(मातृ शूलाघात से) आहत रक्तबीज के शरीर के जिस जिस स्थान से शोणितस्राव होता था, चामुण्डा उसी उसी जगह स्वकीय मुख द्वारा इस शोणित को ग्रहण करने लगीं एवं उनके (चामुण्डाके) मुख में रक्तपात वशतः जो सब असुर उद्भूत होते थे, चामुण्डा उनको भी भक्षण एवं रक्तबीज का रुधिर पान करने लगीं।

व्याख्या—जहांपर रुधिर क्षरण, वहीं है चामुण्डा का कराल मुख। जीवत्व के द्वारा जैसे ही विशुद्ध बोध उपरञ्जित होना आरम्भ हुआ, तैसे ही (झट) करालवदन मुख व्यादान करके प्रलयंकरी काली उसी भाव को ग्रास करती रहती हैं। एक तरफ जैसे प्रज्ञा का आलोक (प्रकाश) आकर पड़ता है, दूसरी ओर तैसे ही सर्वभाव—जीवभाव प्रलय के कवल में ढलने लगते हैं। इस बात को भली प्रकार समझा देने ही के लिये इन कुछेक मन्त्रों में प्रायः एक ही बात पुनः पुनः कही गई है। इसमें पुनरुक्ति नहीं ; यह घटना - यह प्रज्ञा लोक सम्पात एवं अनात्म भाव का विलय, वास्तव में पुनः पुनः ही होता है।

चण्डिका के शूलाघात से आहत रक्तबीज के शरीर से निर्गत रुधिर प्रवाह चामुण्डा के मुख में निपतित होने लगा ; कारण उन्होंने पूर्व से ही अपना कराल मुख अतिशय विस्तृत कर रक्खा था। मुख गह्वर में निपतित रुधिर से जो सब असुर उत्पन्न होते थे, चामुण्डा उनको ग्रास करने लगीं। यहाँ पर आपत्ति हो सकती हैं—पूर्व में कहा जा चुका है, रक्त बिन्दु भूमि तलपर निपतित होने ही से रक्त-बीज के तुल्य बल और विक्रमशाली असुर उत्पन्न होते हैं ; किन्तु यहाँपर कहा, चामुण्डा के मुख में निपतित रुधिर से भी असुर उत्पन्न होते थे ; यह कैसे सङ्गत हो सकता है ? इसका उत्तर यही है कि, चामुण्डा के मुख में भी भूमि की सत्ता अर्थात् क्षितितत्व का अंश है ; सुतरां चामुण्डा के मुख में भीं असुरों की उत्पत्ति खूब ही सम्भव है। और वास्तव पक्ष में तो, "रक्तबिन्दूर्यदाभूमौ" इत्यादि मंत्र में भूमि शब्द विशिष्टता मात्र को लक्ष्य करके ही उक्त हुआ है ; सुतरां कोई भी विशिष्टता पाने ही से रक्तबीज उत्पन्न हो सकता है। अथवा वहांपर भूमि शब्द का अर्थ पार्थिव देह है। ऐसा अर्थ समझ लेने से तो फिर कोई संशय नहीं रहता। जबतक पार्थिव देह है, तबतक जीवत्व बोध उदय होगा ही। पार्थिव भाव के सम्बन्ध वशतः ही विशुद्ध चिद्वस्तु विशिष्ट भावसे वा जीवभाव से प्रतिभात होती है। यद्यपि मा हमारी यहाँ प्रलयङ्करी मूर्त्ति से आविर्भूत होकर कराल मुख विस्तारपूर्व्वक रक्तबीज के रक्त को भूतल पर पतित होने नहीं देतीं, यद्यपि जीवत्व-प्रतीति को स्थूल देह के साथ सम्बन्ध विशिष्ट नहीं होने देतीं, यद्यपि जीवत्व बोध फूटते न फूटते ही ग्रास कर डालती हैं, तथापि यह जो अति अल्प जीव भाव, यह जो अति अल्प विशिष्टता प्रकाश पाती है, वह पार्थिव देह के साथ सम्बन्ध है तभी तो प्रकाश पाती है। इस प्रकार जबतक पार्थिव-देह विषयक बोध होगा, तबतक रक्तबीज का रक्त भूतल पर निपतित होगा ही। रुधिर समूह चामुण्डा के मुख में अर्थात् प्रलय कवल में निपतित होने के समय पार्थिव देह विषयक बोध के साथ सम्बन्ध विशिष्ट होकर

ही निपतित होता है, इसीसे मन्त्र में चामुण्डा के मुख में भी असुरोत्पत्ति की बात कही गई है।

देवीशूलेन वज्रेण बाणैरसिभि ऋष्टिभिः ।
जधान रक्तबीजं तं चामुण्डापीत शोणितम् ॥६०॥

अनुवाद - चामुण्डा ने रक्तबीज का रुधिर पान कर लिया, चण्डिका देवी शूल, वज्र, बाण, असि एवं ऋष्टि अस्त्र के द्वारा रक्तबीज को आहत करने लगीं।

व्याख्या अब रक्तबीज ध्वंस के मुख में आया है। एक तरफ जैसे पुनः पुनः प्रज्ञा के आलोक-सम्पात रूप मा के शूल वज्रादि अस्त्र-प्रहार हो रहे हैं; दूसरी तरफ तैसे ही भाव रञ्जना होते ना होते ही प्रलयङ्करी शक्ति सर्व्वभाव को ग्रास कर डालती हैं। मन्त्र में शूल, वज्र, बाण, असि एवं ऋष्टि; इन पाँच अस्त्रों का उल्लेख है, उनका आध्यात्मिक अर्थ—विश्वास अनुभव युक्ति शास्त्र एवं कृपा। ये ही पाँचों रक्तबीज निधन के यथार्थ अस्त्र हैं। इनमें से एक एक के ही द्वारा यह असुर निहत नहीं होता। युगपत् (एक साथ) इन सब अस्त्रों का प्रयोग एकान्त आवश्यक है। एक तरफ अस्त्र प्रयोग, दूसरी ओर संहारिणी शक्ति का आकर्षण, इस प्रकार दोनों ओर से रक्तबीज पर आक्रमण किया जाय, तभी इसका निधन अवश्यम्भावी है।

साधक ! तुम सर्वप्रथम "जीवो ब्रह्मैव ना परः" इस ज्ञान में वज्रवत् दृढ़ विश्वास की प्रतिष्ठा करो ; यही है प्रथम अस्त्र। बाद में बुद्धितत्व में अवस्थान पूर्वक स्वप्रकाश स्वरूपा चितिशक्ति की ओर पुनः पुनः लक्ष्य करना, अर्थात् विशिष्ट अनुभूति को लेकर निर्विशेष अनुभूति में उपस्थित होने की चेष्टा करना, यही है द्वितीय अस्त्र। इसके बाद युक्ति की सहायता से, विचार की सहायता से समझना कि वास्तविक सत्ता एकमात्र चितिशक्ति की ही है। दृश्य रूप से

ज्ञेय रूप से विशिष्ट रूप से जो कुछ प्रतिभात हो रहा है, सो सब पारमार्थिक सत्ता विहीन एक प्रकार का व्यवहार मात्र है। जो व्यवहारिक है उसका वस्तुत्व नहीं हो सकता; व्यवहार का पृथक अस्तित्व तीनों ही काल में नहीं, रह ही नहीं सकता। इस प्रकार एवं अन्यान्य नाना प्रकार युक्तियों की सहायता से विशिष्ट सत्ता विषयक प्रतीति को विनष्ट करने की चेष्टा करना। वेदान्त शास्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म विचार, यहीं पर उपस्थित हो सकने से अर्थात् रक्तबीज समर में उपनीत हो सकने से तब कहीं उपयोगी होता है। अन्यथा उपयुक्त अधिकार लाभ के पूर्व में इस प्रकार के विचार क्षेत्र में प्रवेश करने से प्राय हो अनर्थ घटता है; साधक की उन्नति का पथ—यथार्थ सत्य वस्तु लाभ का पथ विघ्नपूर्ण हो जाता है। इससे याद रखना साधक! मात्र रक्तबीज वध के लिये हो ब्रह्म विचार रूप अव्यर्थ अस्त्र प्रयोग आवश्यक है। अच्छा जो हो, यह ही तृतीय अस्त्र है। अतःपर शास्त्रीय प्रमाणों की सहायता से अद्वय स्वरूप के उपलब्धि की चेष्टा करना। उपनिषत् प्रभृति शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ स्वकीय अनुभवों की तुल्यता है या नहीं, इसका लक्ष्य साधक मात्र को ही करना एकान्त आवश्यक है। "तत्वमसि" प्रभृति महा-वाक्य-चतुष्टय; "एकमेवाद्वितीयम्" "नेहनानास्तिकिञ्चन" इत्यादि एकत्व-प्रतिपादक शास्त्र वाक्यों के अवलम्बन से स्वकीय अद्वय स्वरूप को सम्यक् रूप से परिग्रह करने की चेष्टा करे, यह ही चतुर्थ अस्त्र। और पञ्चम अस्त्र है कृपा। मा की विशिष्ट (विशेष रूपसे) कृपा लाभ करने के लिये जिस कातर प्रार्थना का प्रथम ही अवलम्बन किया है, उसीको शेष पर्य्यन्त धारण कर रखने की चेष्टा करना। कृपा ही शरणागत भाव का अवश्यम्भावी फल है। आत्मलाभ के लिये आत्म कृपा ही प्रधान अवलम्बन है। कृपा की उपलब्धि होने से और जो कुछ भी है सो अनायास से लाभ हो जाता है। इसीसे देखा जाता है, पूर्वोक्त पाँचों हो प्रायः व्युत्क्रम से फलदायक होते हैं। अर्थात् सर्वप्रथम में मा की कृपा का अनुभव होता है; फिर विश्वास दृढ़

प्रतिष्ठित होता है ; फिर शास्त्र वाक्यों की अर्थ प्रतीति होती है; अतः पर युक्ति वा विचारों की सामर्थ्य आती है ; सर्व शेषमें अनुभूति को लक्ष्य करके निर्विशेष स्वरूप में उपनीत होने की योग्यता लाभ होती है। जो हो, ये पञ्चविध उपाय, पूर्वोक्त शूलादि पञ्चविध अस्त्र रूप से यथा योग्य समझ लेने ही से इस मन्त्र का रहस्य अति स्पष्ट भाव से समझ सकोगे। तब हाँ एक बात है जो यहाँपर विशेष स्मरण योग्य है—"चामुण्डापीत शोणितम्"। चामुण्डा जबतक रक्तबीजका शोणित पान नहीं करें, तबतक किसी की सामर्थ्य नहीं कि उसे निर्मूल कर सके। इसीलिये प्राणपण से प्रलयङ्करी शक्ति की कृपा की ओर लक्ष्य रखने होता है। याद रखने होगा—साधकों का पुरुषकार (पुरुषार्थ) माकी कृपा के द्वारा ही सम्यक् प्रकटित होता है।

———

स पपात महीपृष्ठे शस्त्रसङ्घसमाहतः।
नीरक्तश्च महीपाल रक्तबीजो महासुरः ॥६१॥

अनुवाद—हे महीपाल ! इसी प्रकार शस्त्र सङ्घ द्वारा समाहत होकर क्षीणरक्त महासुर रक्तबीज महीपृष्ठ पर निपतित हुआ।

व्याख्या—पूर्वोक्त विश्वास अनुभव युक्ति शास्त्र प्रमाण एवं कृपा रूप शस्त्रसङ्घ द्वारा समाहत होकर रक्तबीज महीपृष्ठ पर निपतित हुआ—जड़त्व में परिणत हुआ, अर्थात् निहत हुआ। जड़त्व एवं दृश्यत्व एक ही बात है। जीव भाव अब तक मैं रूप चेतन वस्तु के साथ युक्त होकर कर्त्ता भोक्ता बना हुआ था। जो स्वरूपतः जड़ वा दृश्य है, सो ही अब तक चेतन रूप से—द्रष्टा रूप से प्रतिभात हो रहा था ; किन्तु आज चैतन्य के यथार्थ स्वरूप के प्रकटित होने से, वह दृश्यत्व में परिणत हुआ है। मैं वस्तु अब दृश्य वा जीव नहीं है। मैं तो द्रष्टा—चेतन है। अबतक विपर्यय ज्ञान था, इसीसे बीजरूपा आत्मा विपर्य्यस्त भाव से जीव रूप से प्रतिभासित होती

थीं। किन्तु अब हमारी मा ने सर्व प्रथम ही धूम्रलोचन वध करके उस विपर्यय ज्ञान को विनष्ट कर दिया है। उसीके अवश्यम्भावी फलसे आज जीव भाव का भी अवसान हुआ है।

सुनो—वास्तव में जीव बोल कर पृथक् कुछ नहीं है, दृश्य बोल कर पृथक् कुछ नहीं है, कभी था किंवा रहेगा, यह भी नहीं हो सकता। एकमात्र विशुद्ध बोधस्वरूप वस्तु ही नित्य विद्यमान है। वह पूर्ण आनन्दमय, चिर मधुमय एवं सर्वथा अमृतमय है। पूर्णज्ञान और निरवच्छिन्न आनन्दस्वरूप वस्तु में अज्ञान और निरानन्द कभी भी नहीं, रह भी नहीं सकता। इस प्रकार के ज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठित होने का नाम ही रक्तबीज बध हैं; कारण इस प्रकार ज्ञानके उदय होने से फिर जीबभाव नामक कुछ भी नहीं रहता उस समय फिर बिजरूपी मैं बस्तु जीबत्व द्वारा अभिरञ्जित नहीं होती। अज्ञानताबशतःही इस प्रकार की जड़ चैतन्य संमिश्रणरूप प्रतिति होती है। साधक! इतने दिनों में तुम्हारा अज्ञान बिनष्ट हुआ है, चैतन्य स्वकीय स्वरूप में प्रतिष्ठित हुआ है; सुतरां जीबरूप से अब कुछ भी प्रतिभात नहीं होगा।

महर्षि मेधसने यहाँ पर राजा सुरथ को महीपाल कहकर सम्बोधन किया। साधक! तुम भी महिपाल होओ। चैतन्यस्वरूप तुम्हारे आश्रयमें होकर ही तो मही बा जड़त्व प्रकाश पाता है, तुमही तो मही को पालन करते हो, रक्षा करते हो, अर्थात् अज्ञानको परिपुष्ट करते हो, इसे अच्छी तरह समझ सकने से देखोगे—मही नामक फिर कुछ भी नहीं; एकमात्र चैतन्य स्वरूपबस्तु तुमही स्वयंनित्य उद्भासित होरहे हो, कर्त्तृत्व भोक्तृत्व रूप व्यबहार तुममें किसी काल में भी नहीं थी, अभी भी नहीं, भबिष्यत में भो नहीं रहेगा। साधक! कब तुमभी सुरथकी तरह महीपालत्व का मिथ्याभिमान परित्याग करके यथार्थ महीपाल होओगे? कब तुम्हारा रक्तबीज असुर निहत होगा? कब तुम इस प्रकार निरबच्छिन्न आनन्दमयसत्ता में प्रतिष्ठित होओगे?

ततस्ते हर्षमतुलमवापुस्त्रिदशा नृप ।
तेषां मातृगणो जातो ननर्त्ता सृङ्मदोद्धतः॥६२॥

इतिश्रीमार्कण्डेय पुराणें सावर्णिक मन्वन्तरे देवी-महात्म्ये
रक्तबीज वधः ।

अनुवाद। हे नृप ! उससमय देवतागण परमानन्द को प्राप्त हुये एवं मातृगणभी रक्तबीजके असृक्पान-जनित आनन्दसे उद्धत नृत्य करने लगीं ।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय
देवी–महात्म्य प्रसंगमें रक्तबीज वध ।

व्याख्या। वास्तविकही आज देवतागणों का आनन्द अतुलनिय है वहुकाल के सञ्चित जीवत्वरुप मलिनता के संसर्ग से देवतागण विमुक्त हुये हैं, जड़त्वका संस्पर्श कटगया है। शुभ्र आत्मज्योतिः समुद्भासित हो उठी है; सुतरां विशिष्ट चैतन्य समुह निर्विशेष अखण्ड आनन्दमय सत्ता के सम्वन्ध को लाभ करके अतुल हर्ष को प्राप्त हुए। और ब्रह्माणी प्रभृति मातृशक्ति गणभीं असृक्मदोद्धत होकर नृत्य करनेलगी। असृक् शव्दका अर्थ रक्त; सोई मद अर्थात् हर्ष वा आनन्द है। जीवभावरूप असृक् अर्थात् भावरञ्जना समुह आनन्दमयी चितिशक्ति के सम्बन्ध से विशिष्ट हुआ, मातृशक्त्तिगणों की प्रलयलीला सार्थक हुई है; इसीसे वे उद्धत भाव से ताण्डव नृत्य करने लगीं, अर्थात् विभिन्न शक्ति समुह निर्मल वोध प्रवाह रुपसे अभिव्यक्त होने लगीं।

आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें ही जीवभाव अवस्थित है अर्थात् ब्रह्म ही मानो जीवरुपसे प्रकटित हो रही हैं; साधक अबतक ऐसे ज्ञानमें विचरण करनेमें अभ्यस्त था; किन्तु आज मा की कृपा से ऐसे स्थान पर आ उपस्थित हुआ है, जहाँ पर फिर जीवत्व नामक कुछ भी खोजने से नहीं पाया जाता। जीवभावीय परिच्छिन्नता के द्वारा आनन्द का जो एक सीमावद्ध भाव था, इस रक्तबीज-वधसे उसका सम्यक्

अवसान होगया है। रक्तबीज वध होने ही से आनन्द की परिच्छिन्नता विदूरित होती है। पृथक पृथक रूपसे व्यष्टि भाव के भीतर होकर बिन्दु बिन्दु आनन्द का सन्धान नहीं लेने होता। सर्व्व विध विशिष्टता परित्याग पूर्वक आनन्द स्वरूप आत्मा ही सर्वथा प्रकाशित होने लगती हैं। उस समय तो विश्वमय केवल आनन्द! असीम आनन्द! निरवाच्छन्न आनन्द! आनन्द व्यतीत कहीं भी कुछ भी नहीं? एक आनन्दस्वरुप मैं (वा अहं) परमप्रियतम मैं, अमृतमय मैं सर्वत्र उद्भासित होरहा है। मेरे (मैं के) आनन्द का आदि नहीं, अन्त नहीं' उद्वेलन नहीं, मैं—महान्—प्रशान्त, धीर स्थिर हूँ। साधक को ऐसी अनुभूति प्राप्त होती है। उस अवस्था में जीव जगत्, जन्म मृत्यु, रोगशोक, चन्द्र सुर्य, आकाश नक्षत्र, सभी एक घन आनन्दमय सत्ता के द्वारा परिपूर्ण हैं वोध होने लगता है; सुतरां देवता गणोंको अर्थात् इन्द्रयाधिष्ठित चैतन्यवृन्द को अतुल आनन्द अपस्थित होता है; एवं मातृगण—ब्रह्माणी प्रभृति शक्तिगण आनन्दसे उद्दाम नृत्य करने लगती हैं। आओ साधक! तुमभी इस आनन्द का सन्धान लेकर आनन्दमय होओ—धन्य होओ। सत्य में और प्राण में प्रतिष्ठित हुए हो: अब आनन्दमें प्रतिष्ठत होकर अपने निरवच्छिन्न आनन्दमय स्वरूप को उपलब्धि करके जगतके द्वार द्वार पर आनन्द वितरण करके घूमो। श्री गुरू का मङ्गलमय आशीर्वाद तुमलोगों को धन्य करके इसप्रकार विश्वमङ्गलमें प्रणोदित करे! निरानन्द जगत्में फिरसे आनन्द की हंसी खिल उठे!

इति साधन-समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्यामें रक्तबीज वध।

साधन-समर
वा
देवी माहात्म्य।

रुद्र ग्रन्थिभेद।

निशुम्भवध।

राजोवाच।

विचित्र मिदमाख्यातं भगवन् भवता मम।
देव्याश्चरितमाहात्म्यं रक्तबिजवधाश्रितम् ॥१॥
भूयश्चेच्छाम्यहं श्रोतुं रक्तबिजे निपातिते।
चकार शुम्भो यत् कर्म्म निशुम्भश्चातिकोपनः॥२॥

अनुवाद। राजा (सुरथ) बोले—हे भगवन्! आपने रक्तबीजवध प्रसङ्ग में देवी को इस बिचित्र चरित-माहात्म्य का जो वर्णन किया (उससे) पुनः श्रवण करने की इच्छा होती है—रक्तबीज के निहत होने पर अति कोपन शुम्भ एवं निशुम्भ ने किस प्रकार कार्य किया था।

व्याख्या। यथार्थमें रक्तबीज वध बड़ा ही बिचित्र है। देवीका यह अभूतपूर्व चरित-महत्तम श्रवण करके जीवभाव-विलय कामी-साधकगण निश्चय ही मुग्ध होगें। जिस चरित में एका अद्वितिया मा हमारी बहुशक्ति रूपसे प्रकट होकर जीवभाव को प्रलय कवलित करती हैं, जिस-चरित में मा हमारी स्वयं निर्विकल्प होते हुए भी शुलादि अस्त्र प्रयोग से असुर कुल को बिमथित करती है,जिस चरित में मा हमारी अनादि जन्म सञ्चित संस्कार राशि को उन्मूलित कर देती हैं, उस अपूर्व चरित को जितना ही श्रवण किया जाय, उतना

ही विस्मय विह्वल होने होता है। इसीसे तो राजा सुरथ ने "विचित्र-मिदमाख्यातंदेव्याश्चरितमाहात्म्यम्" कहकर इसकी विचित्रता प्रतिपादन की है। केवल मा का यही चरित माहात्म्य ही विचित्र हो सो नहीं इसके वक्ता विचित्र इसके श्रोताभी विचित्र हैं। और भी विचित्र वे हैं—जो इसकी उपलब्धि करते हैं। इसीसे उपनिषत् कहती हैं "आश्चर्य्योवक्ता कुशलोऽस्यलब्धा"। भगवान ने भी स्वयं कहा है—"आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्य्यवद् वदति तथैव चान्यः"। यथार्थ में इस तत्वके श्रोता वक्ता उभय ही विचित्र हैं। वक्तव्य विषय किन्तु तदपेक्षा भी और विचित्र है—आश्चर्य है। इतनी सहज सरल स्वप्रकाश वस्तु को प्राप्ति करने के लिये, कितनी विचित्रतामयी घटनावली में होकर जीव को जाने होता है, उसको सोचने पर भी विस्मित नहीं होने होता हैं क्या? जिन को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है, जो नित्य प्रकटित हैं, विलकुल सहज हैं, उनको समझने में, उनको प्राप्त करने में इतनी अवस्थाओं में, होकर अग्रसर होने होता है—इसे सोच कर देखने में विस्मित नहीं होने होता है क्या? और, मैं हूँ, यह कितना सहज है, कितना स्वाभाविक है, कितना प्रकाशशील है? आनन्दमयी मा हमारी ऐसे ही स्वाभाविक, ऐसे ही स्वप्रकाश हैं। अथच स्वकिय स्वरूप को उद्भासित करने के लिये हमको लेकर उन्हें कितनी लीला वैचित्र प्रकाश करनी होती है। धन्य है उनको जो-अति सुप्रकट होते हुए भी चिरलुकायित हैं, इसी नित्य सिद्ध वस्तु को प्राप्त करनेके लिये कितने सहस्र ग्रन्थ कितने प्रकार के उपदेश, कितनी रकम की शिक्षा और साधन प्रणाली जगतमें प्रचलित हुई हैं, उनके सोचने पर भी विस्मित होने होता है। धन्य हैं वे, और धन्य हैं उनके अचिन्तनीय लीला रहस्य!

अच्छा जो हो, रक्तबीज के निधन पर भी जो कुछ अवशिष्ट रहता है, किस प्रकार उसका अबसान होता है, इसके जानने के लिये साधकों का कौतूहल परिवर्द्धित होता है; इसीसे महाराज सुरथ

"भूयश्चेच्छाम्यहं श्रोतुं" कहते हुए निशुम्भ और शुम्भ के निधन रहस्य को श्रवण करने के लिए आग्रह प्रकाश कर रहे हैं। राजा सुरथ राज्य भ्रष्ट होकर प्रथम जब महर्षि मेधस के निकट उपस्थित हुए, तब उन्होंने जो "भगवन्" सम्बोधन किया था, वह गुरु के सामने समुदाचारमात्र की सूचना कर रहा था। और आज यहाँ पर जो "भगवन्"शब्दका प्रयोग किया है, सो यथार्थ भगवद् दर्शन की सूचना कर रहा है। ठीक ऐसे ही शिष्य जितना उन्नत होता जाता है, उतनी ही गुरु में भगवत् सत्ता विशेष रूपसे दर्शन करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है, अथवा गुरु में भगवन् ज्ञान जितना वेशी । यमें प्रतिष्ठित होता जाता है, शिष्य उतना ही : न्नत होता जाता है।

ऋषिरुवाच

चकार कोपमतुलं रक्तबीजे निपातिते।
शुम्भासुरो निशुम्भश्च हतेष्वन्येषु चाहवे ॥३॥

अनुवाद। ऋषि बोले—रक्तबीज और अन्यान्य असुरगणों के निहत होने पर, शुम्भ और निशुम्भ असुर ने अतुलनीय कोप प्रकाश किया था।

व्याख्या। शुम्भ निशुम्भ के—अस्मिता और ममता के जो प्रधान अवलम्बन थे, एक एक करके वह सभी विलय को प्राप्त हो चुके हैं; आश्रय करके खड़ा हो सके, ऐसा अब कोई नहीं है। इस अवस्था में इनको नैराश्य अवसाद ओर अवर्णनीय दुःख उपस्थित होना उचित है; किन्तु सो नहीं हुआ। अतुलनीय क्रोध उपस्थित हुआ। यह क्रोध अतुलनीय है । जो क्रोध आत्मस्वरूप प्रकाश का हेतु है, जगत् में उस क्रोध की तुलना कहाँ ? भगवान ने कहा है—"कामात् क्रोधो भीजायते" कामना से ही क्रोध का आविर्भाव होता है। शुम्भ और निशुम्भ अम्बिकाकी कामना कर रहे है, और

नाना कारणों से उनकी वह कामना पूर्ण नहीं हो रही है पुनः पुनः भग्नमनोरथ होने होता है, इसी से क्रोध का आविर्भाव हुआ यह क्रोध ही उनको सर्वतो भाव से विलय करा देगा। कामना से जिस क्रोध का आविर्भाव होता है, वह क्रम क्रम से किसप्रकार के परिवर्त्तनोंमें होकर परिणाम में विनाश के रूपमें आकर पर्यवसित होता है, सोभी भगबान ने स्पष्ट भाव से ही कहा है—"क्रोधाद्भवति सम्मोहः"। क्रोध से सम्मोह उपस्थित होता है। आत्मा के स्वप्रकाशत्व आनन्दमयत्व के देखने को अस्मिता एकान्त मुग्ध हो पड़ता है! निज अस्तित्व विसर्ज्जन देकर भी आत्मा को प्राप्त करने को एकान्त लालायित होता है। इसी का नाम है सम्मोह। "सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः" मोह से ही स्मृति विभ्रम उपस्थित होता है। परम प्रेममय परमात्मस्वरूप में एकान्त मुग्ध होने से अपनी पृथक अस्तित्व विषयक स्मृति विलुप्त हो जाती है। "स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः" स्वकिय सत्ता की विस्मृति होते ही से बुद्धिनाश होती है। बुद्धि इन्द्रियाहृत विषय समूह की प्रकाशक मात्र है। जब चित्त में और कई वृत्ति प्रवाह नहीं चलता, प्रकाश्य रूपसे कुछभी नहीं रहता तब प्रकाशक जो बुद्धि है, उसका भी अवसान हो जाता है। इस प्रकार स्मृतिभ्रंश से वुद्धि नाश होती है। "वुद्धिनाशात् प्रणश्यति"। बुद्धिनाश होने से ही प्रणाश अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे नाश उपस्थित होता है—अस्मिता को जो आत्मातिरीक्त पृथक सत्ता है, सो सम्यक् विलुप्त हो जाति है। पूर्व में कह चुका हूँ—बुद्धि और अस्मिता अभिन्न है; सुतरां बुद्धिनाश एवं अस्मितानाश एक ही वात है। क्रोधसे ही इस प्रणाश वा वुद्धि नाशकी सूचना होती है। इसीसे ऋषिने कहा है—शुम्भ निशुम्भ ने अतुलनिय क्रोध प्रकाश कियाथा। जिस कोपमें मैंत्व विलय हो जाती है; जगत्में उसकी तुलना नहीं होती। अच्छा जो हो' "मैं जीव" इस भाव के विलय होने के बाद ही आत्मा को आत्मसात् करने के लिए अस्मिता क्षेत्र में एकबार शेष उद्यम प्रकाश पाता है। उसीका वहीर्लक्षण है क्रोध। फल है किन्तु बिपरीत—

आत्मा अस्मिता के आत्मसात् न हो कर के, अस्मिताही आत्माके आत्मसात् होगी (तरवूजपर छुरी वा छुरी पर तरवूजवालि गती होती है) क्रम से हम यही देखेंगें।

हन्यमानं महासैन्यं विलोक्यामर्षमुद्वहन् ।
अभ्यधावन्निशुम्भोऽथ मुख्ययासुरसेनया ॥४॥
तस्याग्रतस्तथापृष्ठे पार्श्वयोश्च महासुराः ।
सन्दष्टौष्ठपुटाः क्रुद्धा हन्तुं देवीमुपाययुः ॥५॥

अनुवाद। माहसैन्यगणों को निहत देखकर अत्यन्त क्रोधान्वित निशुम्भ प्रधान असुर-सैन्य समभिव्यहार से युद्धार्थ अभिधावित हुआ उसके आगे पीछे उभय पार्श्व मैं क्रुद्ध महासुरगण ओष्ठ दंशन करते हुए देवी की हत्या करने के लिए चल पड़े।

व्यख्या। शुम्भ निशुम्भ दोनो भ्राताओं में निशुम्भने ही प्रथम युद्ध यात्रा की थी। अस्मिता और ममता इन दोनों में ममता ही आगे आत्मप्राप्ति के लिए अग्रसर होती है—"मेरीआत्मा" कहकर अम्बिका को ग्रहण करने के लिए उद्यत होती है। निशुम्भ—ममता के अग्रभागमें आत्मप्राप्ति की वासना, पृष्टदेश में जगद्भोग की वासना, उभयपार्श्व में अनन्त ऐश्वर्य विकाश की वासना, ये ही तो मुख्य असुर है, ये असुर सैन्यगण क्रोध से ओष्ठ चबाते हुए देवी के साथ युद्ध करने के लिए दौड़े। यहाँ पर आशंका हो सकती है कि इस के पूर्व रक्तबीजबध में जोवभाव पर्यन्त का विलय होचुका है,फिर सामने पीछ पार्श्व में ये वासना रूपी असुर सब कहाँ से आगये ? उसका समाधान यह है कि—मधुकैटभ से शुरू करके रक्तबीजवध पर्यन्त जिन असुरों के निधन की बात कही गई है, उसमें जीव भाविय यावतीय संस्कार विलय वही रहस्य व्याख्यात हुआ है। अब ईश्वर भावीय संस्कार नाश की बात कही जावेगी। सुतरां निशुम्भ के

आगे पश्चाते एवं पार्श्वदेश में जो सब असुर सैन्य की बात कही गई है, उसको ईश्वर भावीय संस्कार श्रेणी समझ लेने से फिर कोई संसय नहीं उठेगा। साधक! विशेषभाव से याद रखना—इस निशुम्भ और शुम्भ वध में ईश्वरत्व विषयक संस्कार क्षय वर्णित होगा। परमात्मस्वरूप में पहूँचने के लिए जैसे जीवभावीय संस्कार समूह अन्तराय है, ईश्वरत्व के संस्कार भी ठीक उसी प्रकार प्रतिबन्धक हैं। जीवत्व एवं ईश्वरत्व इन दोनों ही का विलय करने ही से अम्बिका को प्राप्त किया जाता है। यथार्थ ही जो मुक्ति कामी हैं, यथार्थ ही जो इहामुत्रफलभोगविरागी हैं, अर्थात् ईश्वरत्व पर्यन्त की उपेक्षा करते हैं, केवल वे ही इस अद्वय अमृतमय आत्मस्वरूप के साक्षात्कार करने में समर्थ हैं।

अच्छा जो हो, निशुम्भ सदलबल से युद्धार्थ उपस्थित हुआ। "मेरी आत्मा" कहता हुआ आत्मा के साथ आत्मियता करके अपनी विशिष्टता अक्षुन्न रहने को उद्यत हुआ। उद्देश्य यही है कि आत्माको आत्मीय कर सकने से ही ईश्वरत्व प्राप्त होगा; स्वाधीन-भावसे मुक्त प्राणोंसे जगतरूप ऐश्वर्य विलास संभोग किया जायगा। यही निशुम्भ के युद्धाभियान का रहस्य है।

साधक! यहाँ तक आ पहुंचने से, जान सकोगे—ईश्वरत्व क्या एवं प्रेम भक्ति ही क्या है; साधारणतः तुम जहाँ पर प्रेमभक्तिकी आलोचना करते हो, वह यथार्थ प्रेमभक्ति का स्थान नहीं है। और जब तक तुम निशुम्भ की तरह "मेरी आत्मा" कहते हुये आत्माके साथ आत्मियता नहीं कर सकोगे, जबतक आत्मस्वरूप का आभास नहीं पाओगे, तब तक प्रेम भक्ति के विषय की आलोचना करने का अवसर कहाँ? 'मेरी आत्मा" इस वाक्य के बोलने और समझने की सामर्थ्य तभी होती है, जब मेरा कहने को और कुछ नहीं रहता। (सबकी ममता त्यागि बटोरी, बाँधहि मोहि प्रीति की डोरी।)। सर्व-भाव के विलय न होने तक, चित्तका भावस्रोत निरुद्ध न होने तक, मेरे भगवान्, मेरी मा, मेरी आत्मा प्रभृति आत्मीयता बोधक वाक्य

प्रयोग की सार्थकता उपलब्धि नहीं होती। साधक का जब एकमात्र आत्माही लक्ष्य हो पड़ता है, और कुछ भी बोधमय क्षेत्र में फूटने का अवसर नहीं पाता, तब ही आत्माके साथ आत्मीयता करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। एवं तभी यथार्थ प्रेम भक्ति के अपूर्व रसास्वादन की योग्यता प्राप्त होती है।

देखो साधक! निशुम्भका प्रायः सर्वस्व विनष्ट हो चुका है, तथापि "अपनी अम्बिका को मैं चाहता हूं" कहता हुआ वह किस प्रकार तीव्र वेगसे अग्रसर हो रहा है। ठीक इसी प्रकार तुम आकुल आग्रह से अग्रसर होओ। ईश्वरत्व की लालसा मत रखना। लाभ हानिका विचार मत करना, केवल प्रेमसे आत्म विस्मृत (आत्मभोला) होने की चेष्टा करो। तुम भी निशुम्भ की तरह "मेरी आत्मा, मेरी मा" कहते हुए अग्रसर होओ, निश्चय, माको पाओगे 'मेरा' शब्द बिलकुल भूल जाओगे एवं केवल आत्मस्वरूपमें ही प्रतिष्ठित होओगे। (हमारा का 'ह' और 'र' बाद होकर केवल 'मा' अक्षर बोधक आत्मतत्वा 'मा' ही रह जायेगा।)

आजगाम महावीर्यः शुम्भोऽपि स्वबलैर्वृतः।
निहन्तुं चण्डिकां कोपात् कृत्वा युद्धन्तु मातृभिः ॥६॥

अनुवाद। महावीर्य शुम्भने भी स्वकीय सैन्य से परिवृत होकर युद्धमें मातृगणों के साथ चण्डिका को निहत करने के लिये सक्रोध से (समर क्षेत्र में) आगमन किया।

व्याख्या। ममता के साथ साथ अस्मिताने भी युद्ध यात्रा की। पूर्व ही बता चुका हूं—ममता और अस्मिता परस्पर सहकारी हैं। ईश्वरत्व की—नानाविध ऐसी विभूति के संस्कार रूप असुर सैन्यदल से परिवेशिष्टत होकर स्वयं शुम्भ भी निशुम्भके साथ सक्रोध से युद्ध क्षेत्रमें आ पहुँचा। शुम्भ अम्बिका के पाणिग्रहण का अभिलाषी

है। अम्बिका के शरीर से निर्गत अष्टमातृ शक्ति सह चण्डिका को निहत कर सकने से ही अम्बिकादेवी एकाकिनी हो जावेंगीं, एवं ऐसा होने ही से शायद शुम्भ की वह अभिलाषा पूर्ण हो जावें, इसीसे मन्त्र में "निहन्तुं चण्डिकां कोपात् कृत्वा युद्धन्तु मातृतिः" ऐसा उल्लेख है।

सुनो—अस्मिता से पृथक आत्मा नामक एक जन हैं, वेही यथार्थ ईश्वर हैं, उनको आयत्त (वशमें) करलेने ही से यथार्थ ईश्वरत्व प्राप्त होगा, ऐसा सोचकर ही अस्मिता का इतना आग्रह है, इतना दृढ़ प्रयत्न है। अस्मिता अपने ही को आत्मा वा ईश्वर कहकर जानने की चेष्टा करता है; किन्तु बीच-बीच में विशुद्ध आत्मस्वरूप का आभास देखने में आता है इसलिये स्वकीय स्वरूप की अपूर्णता विशेष भाव से अनुभव करता है; इसीसे आत्माको प्राप्त करके उस अपूर्णता को दूर कर स्वयं पूर्ण होना चाहता है। उसका अभिप्राय ही यह है कि, मुझे छोड़कर और जो एकजन "मैं" की सत्ता देखनेमें आती है, उसे किसी भी प्रकार से पृथक भाव से नहीं रहने दिया जायगा; या तो यह मैं उस मैं में मिलकर एक हो जाय, नहीं तो वह मैं इस मैं में हमेशा के लिये मिल जायगा। दो मैं की सत्ता किसी प्रकार भी सह्य नहीं की जायगी। अस्मिता क्षेत्र में पहुँचे हुये मुमुक्षु साधक के बिना ये सब बातें समझ सकोगे क्या ? जब तक आत्मस्वरूप का आभास नहीं पाया जाता तबतक अस्मिता ही आत्मारूप से अवभासित होती रहती है। वह तो वास्तविक आत्मा नहीं, यह पहिले किसी प्रकार भी समझ में नहीं आता। क्रम से जितना आत्मसान्निध्य प्राप्त होता है, उतना ही उसे आयत्त करने को आग्रह आता जाता है।

ततो युद्धमतीवासीद्देव्या शुम्भ निशुम्भयोः।
शरवर्षमतीवोग्रं मेघयोरिव वर्षतोः ॥७॥

अनुवाद। बादमें देवी के साथ शुम्भ और निशुम्भ का भीषण युद्ध आरंभ हुआ। जलवर्षण कारी दो मेघों की तरह वे दोनों प्रबल वेग से शर वर्षण करने लगे।

व्याख्या। ममता "हमारी आत्मा कहकर आत्माको आत्मीय करने की प्राणपण से चेष्टा करने लगा; और अस्मिता "मैं ही आत्मा हूं" कहकर यथार्थ आत्मसत्ता का निरास करने का प्रयास करने लगा। यह ही 'शुम्भ निशुम्भ के समर का रहस्य है, जो "तत्वमसि" प्रभृति महावाक्यके मनन एवं निदिध्यासन करने के अभ्यासी हैं, वे इस अस्मिता ममता के सूक्ष्म अथच भीषण आक्रमण को लक्ष्य कर सकेंगे। यथार्थ ही जिसको चरमतत्व एवं परमधाम बोलकर समझा गया है, उसे जबतक अपने में न लाया जासके, तबतक साधक को किसी प्रकार भी शान्ति वा विश्राम नहीं। इसी लिये साधकगण इस क्षेत्र में आकर आत्म प्राप्ति करने के लिये विपुल अध्यवसाय प्रयोग करते हैं। पातञ्जल योगसूत्रमें उल्लिखित है "तीव्रसंवेगानामासन्नः" तीव्र संवेग सम्पन्न साधकगणों के पक्षमें ही आत्मलाभ आसन्न होता है। और वास्तविक अनुभूति क्षेत्रमें भी देखा जाता है कि ऐसा तीव्र संवेग एकान्त ही स्वाभाविक भावसे आउपस्थित होता है। नदी जहाँ पर समुद्रके सन्निहित है, वहाँ पर श्रोत का वेग भी बड़ा प्रबल होता है। साधक जितना आत्मसान्निध्य प्राप्त करता है, उसका अध्यवसाय भी उतना ही प्रबल होता है। यह ही शुम्भ निशुम्भ कर्त्तृक अति उग्र शर वर्षण का रहस्य है। मन्त्रमें मेघ के साथ इसको उपमा दी गई है। इसका भी कुछ उद्देश्य है। मेघ जैसे जल अनवरतः वर्षण करके अपनी सत्ता खो बैठता है, अस्मिता ममता भीं उसी प्रकार तीव्र वेग से अध्यवसाय प्रयोग रूप शरवर्षण करके शीघ्र ही अपनी सत्ता खो बैठेंगे। तब तो फिर एक मात्र आत्मसत्ता ही विद्यमान रहेगी। अस्मिता और ममता नामक कुछ भी नहीं रहेगा। क्रमसे हम वही देखेंगे।

चिच्छेदास्तांच्छरांस्ताभ्यां चण्डिकाशु शरोत्करैः ।
ताड़यामास चाङ्गेषु शस्त्रौघैरसुरेश्वरौ ॥८॥

अनुवाद। दोनों असुरों के छोड़े हुये वाणों को चण्डिका देवी भी शीघ्र शर समूह द्वारा छिन्न करने लगीं, एवं नानाविध अस्त्र-शस्त्रके प्रयोग से दोनों असुराधिपतियों के अङ्गों को क्षत विक्षत करने लगीं।

व्याख्या। शुम्भ और निशुम्भ ने बहुत संख्यक शरनिक्षेप किये किन्तु सभी व्यर्थ हुए; क्योंकि चण्डिका मा हमारी स्वकीय शर प्रयोग से उन सबको छिन्न करने लगीं। अधिकन्तु चण्डिका के अस्त्राघात से दोनों असुरों के अङ्ग क्षत विक्षत होने लगे। इन शर प्रयोगों का रहस्य यद्यपि पूर्व में अनेकबार कहा जा चुका है, तथापि यहाँ पर पुनरुल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। "प्रणवोधनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य-मुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥" इस उपनिषत् प्रति-पाद्य शरनिक्षेप की चरम उत्कर्षता यहीं पर है—इस शुम्भ-निशुम्भ समर में ही परिलक्षित होती है। साधक जितना ही प्रणवधनु अव-लम्बन करके ब्रह्मलक्ष्य से आत्मशर के निक्षेप करता है, उतनी ही साधक की अपनी पृथक सत्ता क्षीण होती जाती है। यथार्थ सत्ताका सन्धान जितना ही मिलता है, जीवभावीय पृथक सत्ताकी मूल उतनी ही विनष्ट होती जाती है। असुराधिपति दोनों के शर व्यर्थ होना एवं क्षत विक्षत अङ्ग होनेका यही तात्पर्य है। चण्डिका के शर प्रयोग से चिति सत्ता का पुनः पुनः क्षण स्थायी प्रकाश समझ लेनेसे ही यह रहस्य सम्पूर्ण उपलब्धि योग्य होगा। निष्कर्ष यह हुआ कि आत्मा मा, नित्यस्वस्थ नित्य-निर्विकार हैं, उनको "हमारी" करने की जितनी चेष्टा की जायगी, मैंत्व उतना ही क्षीण होता जायगा। आत्मा का वह नितान्त निर्मल स्वरूप का आभास जितना ही उज्ज्वलतर रूपसे साधक के सन्मुख प्रकाशित होता जायगा; अस्मिता वा ममता भी उतनी ही क्षीणसे क्षीणतर होती जायगी। साधक, इस तत्वके प्रति विशेष

लक्ष्य रख सकने से ही इस शुम्भ-निशुम्भ के युद्ध रहस्य को समझ सकोगे।

निशुम्भो निशितं खड़्गं चर्म्म चादाय सुप्रभम्।
अताड़यन् मूर्द्धिणसिंहं देव्या वाहनमुत्तमम्॥ ६॥

अनुवाद। (उस समय) निशुम्भने शाणित असि एवं अति उज्वल चर्म (ढाल) के ग्रहणपूर्वक देवी के उत्तम वाहन सिंहके मस्तक पर आघात किया।

व्याख्या। महिषासुर युद्धमें भी एकबार सिंह के मस्तक पर इस प्रकार आघात देखा गया था। निशुम्भने भी शाणित असि एवं चर्म ग्रहण करके सिंहके मस्तक पर उसी प्रकार आघात किया। मातृशक्ति परिचालक यन्त्रको अर्थात् जीवरूपी सिंहको अकर्म्मन्य कर देना ही निशुम्भका अभिप्राय है। जीव-सिंहको उद्यम विहीन कर सकने ही से अम्बिका निशुम्भकी अधीनता स्वीकार करलेंगीं; यही उसका उद्देश्य है।

एक यहाँ पर आपत्ति उठ सकती है कि, यहाँ पर फिर जीव सिंह कहाँ से आया? रक्तबीज बधमें ही तो जीव भावका विलय हो चुका है। विशेष बात—बुद्धिमें प्रतिविम्बित जो चित् है, वही तो जीवका यथार्थ स्वरूप है; सोई यहाँ पर शुम्भासुर रूपसे वर्णित हो रहा है, तो फिर देवीका बाहन सिंह कहाँ से आवेगा? यह आपत्ति भी ठीक है। इसका उत्तर भी यही है कि, यद्यपि वास्तव दृष्टि से चिदाभास से अतिरिक्त जीव नामक कुछ नहीं है; तथापि जबतक अस्मिता ममता है, तबतक ऐसी एक शक्ति रहती है, जो इन दोनों को भी विलय करने की चेष्टा करती है। वह जो शक्ति है, यद्यपि उसमें 'मैं जीव' कहने को कोई तरह का अभिमान नहीं है, तथापि वह भी आत्माका ही एक विशिष्ट प्रकाश है, इसे किसी प्रकार अस्वीकार भी नहीं

किया जाता। और वह विशिष्टता ही यहाँ पर देवी का बाहन, सिंह है।

इस मन्त्रमें बाहनका एक विशेषण है—उत्तम। इसके पूर्व देवी का जो बाहन था, सो अपेक्षाकृत स्थूलाभिमानी थी, किन्तु यह आनन्द-मय कोषका अति सूक्ष्मतम शक्ति प्रवाह है। यहाँ पर किसी प्रकार की स्थूलत्व की अभिव्यक्ति नहीं है। इसीसे इसे उत्तम वाहन कहा गया है। सुनो, सुषुप्तिकाल में जीव आनन्दमय कोषमें अवस्थान करता है, उस समय स्थूल किंवा सूक्ष्म विषयक कोई ज्ञान ही नहीं रहता, किन्तु अज्ञान-विषयक जो ज्ञान रहता है, उसे पकड़ सको तो देवी के इस उत्तम वाहन सिंह का रहस्य समझा जा सकता है।

———

ताड़िते वाहने देवी क्षुरप्रेणासिमुत्तमम्।
निशुम्भस्याशु चिच्छेद चर्म्म चाप्यष्ट चन्द्रकम्॥१०॥

अनुवाद। वाहनके आहत होने से देवी ने क्षुरप्र नामक अस्त्र द्वारा निशुम्भकी उत्तम असि और अष्टचन्द्र-चिन्हित चर्म (ढाल) को छेदन कर दिया।

व्याख्या। देवी ने अपने उत्तम वाहन सिंह को आहत होते देख कर क्षुरप्र नामक अस्त्रके प्रयोग से निशुम्भकी उत्तम असि एवं अष्ट-चन्द्र चिन्हित चर्म्म को छिन्न कर दिया। क्षुरप्र—क्षुर सदृश (छुरा जैसा) एक प्रकार शणित अस्त्र विशेष। इसका आध्यात्मिक अर्थ आत्म स्वरूप-प्रकाशक शक्ति विशेष। जिस प्रकाश शक्तिके प्रभाव से ईश्वर भावीय विक्षेप समूह निवारित होते हैं। सोई यहाँ पर क्षुरप्र नामक अस्त्ररूपसे वर्णित हुआ है। द्वितीय खण्डमें चिक्षुरके निधन में जो विक्षेप निवृत्तिकी बात कही गई है वह जीव भावीय विक्षेप है। और इस अस्मिता क्षेत्र में जो विक्षेप निवृत्ति की बात कही गई है उसे ईश्वर भावीय विक्षेप समझने होगा; कारण इस अस्मिता क्षेत्र में

जीवभावीय विक्षेप की तो कोई सम्भावना नहीं। अच्छा जो हो, देवी ने क्षुरप्र अस्त्र प्रयोग से निशुम्भकी उत्तम असि एवं चर्म्म उभय छिन्न कर दिये। असि—शब्दसे यहाँ पर भेद ज्ञान अर्थात् ईश्वर भावीय विक्षेप शक्ति एवं चर्म्म शद्बसे आत्मस्वरूप आवरक शक्ति विशेष जाननी होगी।

मन्त्रमें चर्म्म को अष्ट चन्द्र चिन्हित कहा गया है, और भी एक रहस्य है। इसके पूर्व जो अष्ट पाशोंका बिलय वर्णित हुआ है उनका शेष चिन्ह स्वरूप जो सूक्ष्मतम वीज है सोई यहाँ पर अष्टचन्द्र चर्म नामसे उक्त हुआ है। साधारण भाषामें चर्म्म अस्त्रको ढाल कहा जाता है। यह आवरण शक्ति का ही नामान्तर मात्र है। स्वप्रकाश आत्मशक्ति जब निशुम्भ को ममत्वको विलय करने के लिये उद्यत होती है तव वह सूक्ष्मतम बीजरूपी आवरणशक्ति के प्रभावसे अपने को आवृत करके राखने की चेष्टा करता है; यही ममता का स्वभाव। माने इसबार उसे भी विनष्ट कर दिया।

——

छिन्ने चर्म्मणि खड्गे च शक्तिं चिक्षेप सोऽसुरः।
तामप्यस्य द्विधा चक्रे चक्रेणाभिमुखागताम् ॥११॥

अनुवाद। चर्म्म एवं खड्ग के छिन्न होने से, उस असुर ने शक्ति अस्त्रको निक्षेप किया। अपने अभिमुखी आते देख उस अस्त्र को भी देवीने चक्र अस्त्रके प्रयोग से द्विधा कर डाला।

व्याख्या। असि और चर्म्म छिन्न हो गया देखकर निशुम्भ ने शक्ति अस्त्रका प्रयोग किया। देवी ने उसे भी द्विखण्डित कर डाला। पूर्वोक्त आवरण और विक्षेप शक्ति जिसमें से उद्‌भूत होती है, वह मूल अज्ञान स्वरूप पदार्थ भी तो शक्ति विशेष है, इसका कहना ही क्या है। अज्ञान की शक्ति स्वरूपता वेदान्त शास्त्रमें भी विशेषभावसे स्वीकृत हुई है। अच्छा जो हो, अज्ञानरूप मूल शक्ति से प्रकाशित

आवरण और विक्षेप नामक शक्तिद्वय जब विनष्ट हो जाती हैं, तब निशुम्भ शेष चेष्टावत् अपना समस्त अध्यवसाय प्रयोग करके उस मूल-अज्ञान शक्ति को ही पकड़कर रखने की चेष्टा करता है। मन्त्र में यही शक्ति अस्त्र प्रयोग रूपसे वर्णित हुआ है। माने चक्र अस्त्र प्रयोग से उसे भी व्यर्थ कर डाला। चक्र शब्द का अर्थ सुदर्शन चक्र अर्थात् जगत् चक्र। पूर्वमें यह चक्र रहस्य विशेषभावसे व्याख्यात हो चुका है। अच्छा जो हो, ममता जब ही 'हमारी आत्मा' कहकर आत्माको परिग्रह करने के लिये अग्रसर होती है तब ही मा हमारी इस जगत् चक्रको सम्मुखीन करके उसे प्रतिनिवृत्त कर देती हैं। तात्पर्य यह है कि, साधक जब अज्ञानवशतः "हमारा" कहकर आत्मा को पकड़ने की चेष्टा करता है, तब भी ठीक आत्माको नहीं पकड़ा जाता। आत्माकी विभूति समूह अर्थात् ईश्वर भावीय संस्कार समूह आकर सन्मुख उपस्थित होते हैं एवं उन्हीं का ऊपर ममत्व जन्मता है। किन्तु अनात्म भावोंके प्रति जो ममत्व है, सो तो इसके पूर्व ही सम्पूर्ण विलुप्त हो चुका है, पर वैराग्य के प्रभावसे जीव भावीय एवं ईश्वर भावीय यावतीय विभूतियां ही तो त्याग वा ग्रहणके सम्पूर्ण अयोग्य हैं, यह सम्यक् रूपसे उपलब्धि हो चुकी है। ममता अब तो एकमात्र आत्माही को चाहती है, अन्य और कोई भी प्रलोभन उसे अब मुग्ध नहीं कर सकता; इसीसे मा जितना जगत चक्र वा आत्म विभूतिका प्रलोभन दिखाकर ममत्व की अग्रगति को निरुद्ध करने की चेष्टा करती हैं ममत्व उतना ही और उल्लास से तीव्र उत्साह से आत्माभिमुखी अग्रसर होनेकी चेष्टा करता है। यद्यपि ममत्व का यह प्रयास अर्थात् आत्माको आत्मीय करने का प्रयत्न प्राय निष्फल ही होता जाता है, तथापि इस प्रकार की प्रचेष्टा की भी एक विशेष उपकारिता है। साधक मूल अज्ञान शक्ति के प्रभाव से जितनी बार आत्माको आत्मीय करने की चेष्टा करता है, उतनी बार ही थोड़ा-थोड़ा (कुछ न कुछ) ममत्वबोध क्षीण होता जाता है। सुतरां जो मा के चक्र अस्त्र प्रयोग से निशुम्भ की शक्ति हीनता का विषय वर्णित

हुआ है, वह साधक मात्र का ही अनुभव योग्य विषय है। उन्नत स्तर के अनुभूति सम्पन्न साधकगण स्वकीय अनुभव का विश्लेषण करने ही से इस रहस्य का सन्धान पावेंगे।

——

कोपाध्मातो निशुम्भोऽथ शूलं जग्राह दानवः।
आयान्तं मुष्टिपातेन देवी तच्चाप्यचूर्णयत् ॥१२॥
आविध्याथ गदां सोऽपि चिक्षेप चण्डिकां प्रति।
सापिदेव्या त्रिशूलेन भिन्ना भस्मत्वमागता ॥१३॥
ततः परशुहस्तं तमायान्तं दैत्यपुंगवम्।
आहत्य देवी वाणौघैरपातयत भूतले ॥१४॥

अनुवाद। बादमें निशुम्भ दानव ने कोपप्रज्वलित होकर शूल ग्रहण किया। देवी ने भी उस शुल को भी आते से आते ही मुष्टिपात द्वारा चूर्ण कर डाला निशुम्भ ने तब गदा घुमाकर चण्डिका के ऊपर निक्षेप की। देवी के त्रिशूलाघात से वह गदा भी विदीर्ण एवं भस्मीभूत हो गई। वाद में परशु हाथ में लिये आते हुए उस दैत्यपुङ्गव को देवी ने वाण समूहों के द्वारा आहत करके भूतलपर गिरा दिया।

व्याख्या। इन तीनों मन्त्रोंमें भी निशुम्भ एवं चण्डिकादेवी का परस्पर अस्त्र प्रयोग वर्णित हुआ है। निशुम्भ ने शूलास्त्र फेंका, देवीने मुष्टिपात से उसे चूर्ण करदिया। फिर निशुम्भ जब परशुका आघात करने को उद्यत हुआ, तब देवी ने बाणों के प्रयोग से उसे मुर्च्छित करके भूतल पर गिरा दिया। शूल—स्वरूप बिषयक ज्ञान, गदा—व्यक्तवाक्य प्रयोग—स्तोत्र आदि पाठ महत्व कीर्त्तन प्रभृति,परशु—द्वैत प्रतीति। इन सब अस्त्र शस्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या पुनः पुनः उल्लेख करना निष्प्रयोजन है। खास बात यह है कि ममता बारम्बार नाना प्रकार के उपायों से अपनी बिशिष्टता रक्षा करता हुआ

आत्मा को आत्मीय करनेकी चेष्टा करता है। "मैं बना रहूँ, और मेरा कहने के लिये भी तुम्ही एकमात्र रह जाओ" यह जो भाव है, यह हो निशुम्भ के नाना प्रकार अस्त्र प्रयोग रूपसे बर्णित हुआ है। साधक ! जीवनमें यदि किसी को यह भाव सत्य सत्य ही आवे तो वह धन्य हैं यह मुक्त कण्ठसे कहा जा सकता है, प्रेम भक्ति अनुशीलन को यही तो चरम अवस्था है, यह बात सत्य है, किन्तु यहाँ पर रहने से भी नहीं चलेगा, और भी अग्रसर होने होगा। इसीलिये निशुम्भ कितनी ही चेष्टा करे, कितनी ही प्रेम भक्ति का अनुशीलन करके आत्मरस आस्वादन की चेष्टा करे, स्वकीय विशिष्टता रक्षा करने का कितना ही प्रयास पावे, मा तो उसे व्यर्थ करही देंगी; इसीसे देखा जाता है चण्डिका देवी भी नाना अस्त्र प्रयोग करके, अर्थात् पुनः पुनः अद्वय ज्ञान के आलोक सम्पात से ममता की उस विशिष्टता को विनष्ट करने की चेष्टा कर रही हैं। उसी के फलसे अर्थात् आत्मा की स्वप्रकाशत्व-शक्ति के प्रभाव से ममता का विशिष्ट प्रकाश क्रम से क्षीणबल होता हुआ मूर्च्छित होता है—द्वैतप्रतिति कुछ काल के लिये विलय प्राप्त हुई है। ममता की जो एक पृथक सत्ता है, उसका अनुभव न करसकना हो मूर्च्छित होना है। वैष्णव शास्त्र में भी प्रेम धर्म अनुशीलन के परिणाम स्वरूप ऐसी मूर्च्छा की बात बर्णित हुई है। भक्ति शास्त्र-वर्णित अष्ट सात्विक भावों का शेष भाव—यह मूर्च्छा है। जब "हमारे हमारे" कहते हुए आत्मा को पकड़ने जाने में 'हमारा' बोध बिलुप्त हो जाता है, केवल आत्म स्वरूप ही उद्भासित होने लगता है, तबही यथार्थ प्रेम की उदय होता है साधक ! यहाँ पर मूर्च्छा शब्द से चैतन्य का विलोप मत समझ बैठना। स्वयं चैतन्य स्वरूप के समीपस्थ होने से जीव कभी भो चैतन्य हीन नही हो सकता। यदि ऐसा देखो—कि कोई भगवान का नाम स्मरण वा कीर्त्तन करते करते अचैतन्य (बेहोश) हो पड़ा है. तो समझना-वह अभी भी चैतन्य वस्तु का स्वरूप समझ ही नहीं सका है। उसके निकटस्थ होना तो दूर की बात है। जो चैतन्यमय को स्मरण करने में अचैतन्य हो पड़ता है, वह अभी

मनोमय क्षेत्र को परित्याग करके कुछ भी ऊपर नहीं उठ सके हैं, यह स्थिर सिद्धान्त जानना।

——

तस्मिन्निपतिते भूमौ निशुम्भे भीमविक्रमे।
भ्रातर्य्यतीव संक्रुद्धः प्रययौ हन्तुमम्बिकाम्॥१५॥

अनुवाद। भीम विक्रम भ्राता निशुम्भ के पृथ्वी पर मूर्च्छित होने से शुम्भ ने अतिशय क्रुद्ध होकर अम्बिका के हत्या करने को गमन किया।

व्याख्या। निशुम्भ ठीक ही भीमविक्रम है। साधक, यह ममत्व ही एक दिन स्थुल में—संसार के कामिनी काञ्चन में आकृष्ट था। कितनी चेष्टा, कितने कठोर प्रयत्न से एवं कितने दीर्घ काल से उसे उस आकर्षण से छुड़ाकर धर्म के भीतर लाये थे, तब इसी ममता ने धर्म को ही हमारा कहकर ग्रहण किया था। फिर बहुत दिनों में—बहुजन्मों के बाद मा को कृपा से, श्री गुरु की अहैतुकी अनुप्रेरणा से उस धर्म संस्कार को भी छुड़ाकर ममता को यथार्थ साधना राज्य में ला उपस्थित किया, उसने वहाँ पर भी साधना ही को हमारा कहकर समझ लिया। अब बहु सुकृति के फल से इतने दिनों में उसने आत्म-स्वरूप का सन्धान पाकर आत्मा को हमारा सर्वस्व है कहकर समझा है। देखो साधक, यह ममता कहाँ से कहाँ आपहुँचा है; समस्त प्रलोभनों का परित्याग करके, स्थूल सूक्ष्म यावतीय भावों का परित्याग करके कारणतत्त्व में आ उपस्थित हुआ है; कितनी निम्न अवस्था से कितनी उच्च अवस्था में आपहुँचा है, तथापि ममता का जो स्वभाव है, उसे परित्याग नहीं कर सका। ममता अब आत्माव्यतित और कुछ नहीं चाहता, जगत् संसार समस्त परित्याग करके आत्मलाभ प्रयासी हुआ है। किन्तु यह भी भेदज्ञान मात्र है; इसलिये मा हमारी इस को भी निधन करेंगी।

साधक ! एक बात का यहाँ पुनः पुनः स्मरण करा देना आवश्यक है कि, इस रुद्रग्रन्थि के स्तर में प्रवेश करने पर जिन सब जगहों में भेद ज्ञान का उल्लेख है, उसमें स्वगत भेद मात्र ही लक्षित हुआ है; सजातिय किंवा विजातिय भेद की तो कोई बात ही इस स्तर में नहीं हो सकती। अच्छा जो हो, अब निशुम्भ मा के अद्वय स्वरूप प्रकाश से कुछ काल के लिए मूर्च्छित हो गया; अर्थात् ममत्व का अब विकाशभाव नहीं रहा। इसलिये शुम्भ अस्मिता स्वयं ही अति शीघ्र अम्बिका के हनन करने को उद्यत हुआ। आत्मा का हनन कर सकने ही से अस्मिता और ममता, उभय भ्राता ही निरुपद्रव से अवस्थान कर सकेंगे। किन्तु हाय वह तो असम्भव है।

स रथस्थस्तथात्युच्चै गृहीतपरमायुधैः।
भुजैरष्टाभिरतुलै र्व्याप्याशेषं वभौ नभः ॥१६॥

अनुवाद। वह शुम्भासुर रथ पर आरोहण करके अतुलनीय अष्ट संख्यक हस्त द्वारा नाना रूप श्रेष्ठ अस्त्र धारण पूर्वक आकाश मण्डल परिव्याप्त करके शोभा पाने लगा।

व्याख्या। शुम्भ रथस्थ। रथ—देह। देह त्रिविध—स्थूल सूक्ष्म ओरे कारण। शुम्भ का रथ कहने से यहाँ पर कारण-देह ही समझनी होगी, क्योंकि, स्थूल वा सूक्ष्म देह में जो आत्माभिमान था, वह तो अनेक पूर्व ही विनष्ट हो चुका है।

अष्टभुज—अष्ट सात्विक भाव। आकाश मण्कल—विज्ञान मय व्यापक आकाश। अस्मिता कारण देह के आश्रय से अष्ट सात्विक-भाव समन्वित होकर विज्ञानमय आकाश परिपूर्ण करके शोभा पाने लगा। प्रेम भक्ति के अनुशीलन से पुलक अश्रु कम्प प्रभृति आठ विध सात्विक लक्षणों का प्रकाश होता है। याद रक्खो साधक ! ये स्थूल में नहीं अप्राकृत क्षेत्र में हैं। अच्छा जो हो, "व्याप्याशेषंवभौनभः"

यह ही शुम्भ का अर्थात् अस्मिता का यथार्थ स्वरूप है। अस्मिता क्षेत्र में पहुँचने पर साधक की ठिक ऐसी ही अवस्था उपस्थित होती है—अति स्वच्छ चैतन्यमय सर्वव्यापक आकाश मैंत्वमय होकर प्रकाश पाने लगता है। उस समय स्थूल और सूक्ष्म देह विषयक प्रतीति ही नहीं रहती। अतुलनीय अनिर्वचनीय आनन्द का वह मैंत्वमय बोध मानो बिलकुल ही डुब जाना चाहता हैं, इसीसे सात्विक लक्षण समूह प्रकाश पाने लगते है। यहीं पर आ उपस्थित होने से आत्मा का—हमारी अम्बिका मा का परम रूप दूरसे प्रत्यक्ष होने लगता है, सर्व भावों के साथ अन्वित मैं कभी भी अम्बिका के इस स्वरूप को प्रत्यक्ष नही कर सकता। सर्वभावों से एकान्त विरक्त बिना हुए— उलङ्ग (नग्न) मैं बिना हुये, भावातिता दिगम्वरो मा के अङ्क में आरोहण नहीं किया जाता। किन्तु वह और बात है—

——

तमायान्तं समालोक्य देवी शङ्खमवादयत्।
ज्याशब्दश्चापि धनुषश्चकारातीव दुःसहम् ॥१७॥
पूरयामास ककुभो निजघन्टास्वनेन च।
समस्त दैत्यसैन्यानां तेजोवधबिधायिना ॥१८॥

अनुवाद - उसको (शुम्भ को) आते देख कर देवी ने शङ्ख ध्वनि और धनु की अतीव दुःसह, ज्या ध्वनि कीं। एवं समस्त दैत्य सैंना की तेजोनाशक स्वकीय असाधारण घण्टा ध्वनि द्वारा सम्पूर्ण दिक् मण्डल परिपूर्ण कर लिया।

व्याख्या—सर्व्वतोव्यापी अस्मिता को देखकर देवी चण्डिका ने शङ्ख, घण्टा एवं ज्याध्वनि की। शङ्ख-घण्टा ध्वनि—अनाहतनाद। धनु की, ज्या ध्वनि—प्रणव-नाद। नाद यहाँ पर वैखरी नहीं, मध्यमा पश्यन्ती प्रभृति सूक्ष्मनादो ही की बात यहाँ पर कही जाती है। जबतक द्वैत प्रतीति है, तब तक नाद भी रहेगा ही। तब हाँ

प्रभेद है स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व लेकर। अच्छा जो हो, दैत्य सैन्यकगणों के तेजो वीर्य को विनाश करने के लिये ये सूक्ष्म नादत्रय विशेष अवलम्बन स्वरूप होते हैं। जब ही आसुरिक भावों के द्वारा उत्पिड़ित होना पड़े, तब ही अनाहतनाद में अभीनिवेश स्थापन पूर्वक एकतान से प्रणवादि मन्त्र जप करने लगने से वह अत्याचार प्रशमित हो जाता है। देवी माहात्य के प्रारम्भ से ही यह बात कही जा रही है। स्थूल असूर—काम क्रोधादि वृत्ति, किम्वा सूक्ष्म असुर—अस्मिता प्रभृति, सभी अनाहतनाद समन्वित प्रणव ध्वनि से अभिभूत हो पड़ते हैं। उनका तेजो वीर्य ह्रास पाता है। पूर्व में कहा जा चुका है, मा स्वयं ही युद्ध करती हैं, इन सब मन्त्रों में भी वही स्पष्ट भाव से उल्लिखित हुआ है। ध्यानादि करना आरम्भ करने किंवा आसुरिक वृत्तिनिचय के दमन करने की चेष्टा करने में शरणागत साधकगण निश्चय ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं—अन्तर से मा ही समयानुरूप साधना करतो रहती हैं (वा करने लगती हैं), अर्थात उपाय सब मानो अपने आपही आकर उपस्थित होते रहते हैं, याद रक्खो साधक! यही देवी का प्रतीकार बा मातृ समर हैं।

——

ततः सिंहो महानादैस्त्याजितेभमहामदैः ।
पूरयामास गगनं गान्तथोपदिशो दश ॥१९॥
ततः काली समुत्पत्य गगनंक्ष्मामताड़यत् ।
कराभ्यां तन्निनादेन प्राक्स्वनास्ते तिरोहिताः ॥२०॥

अनुवाद—बाद में सिंह हस्थियों की महामदनाशक गर्जन करने लगा, उससे आकाश, पृथवी एवं दशोदिक् परिपूर्ण हो गई। और काली आकाश में उत्पतित होकर करद्वय द्वारा पृथ्वी को बिताड़ित

करने लगी; उस ताड़न ध्वनि से पूर्वोत्थित शब्द सब तिरोहित हो गये।

व्याख्या—अनाहत-नाद एवं प्रणवध्वनि के साथ सिंहनाद वा जीव की उल्लास सूचक जय ध्वनि ने मिलित होकर धरणी और गगन मण्डल को परिपूर्ण कर लिया। अर्थात् क्षितितत्व से लेकर व्योम तत्व पर्य्यन्त समस्त तत्व ही विक्षोभित हो उठे। यहाँ पर भी स्थूल क्षित्यादि पञ्च भूतों की बात नहीं कही गई है। अस्मिता को विशेष विशेष व्यूहरूप क्षिति प्रभृति की अति सूक्ष्मतम अवस्था को लक्ष्य करके ही मन्त्र में धरणी और गगन मण्डल वाक्य कहा गया है। इस मन्त्र में सिंहनाद शब्द का एक विशेषण है "त्याजितेभमहामदैः।" हस्तीका महामदनाशक, ईभ—हस्ती अर्थात् मन। उसका जो महामद —मत्तता अर्थात् चञ्चलता, सो जीव-सिंह के भीषण निनाद से 'त्यजित' अर्थात् विदुरित हो गई।

साधक, जब देखो—सूक्ष्मतम अनाहत-नाद के साथ परम सूक्ष्म प्रणवध्वनि उठरही है, तब तुम भी महोल्लास से जयध्वनि करके मनोरूप मत्त हस्ती कीं दुर्दमनीय चञ्चलता को विशीर्ण करदेना। तुम्हारी आशा पूर्ण होगी। अच्छा जो हो, जब इस प्रकार विभिन्ननाद समन्वय ने धरणी एवं गगन मण्डल को परिपूर्ण करलिया, तब काली संहारिणी शक्ति ने स्वकीय करद्वय द्वारा क्षिततल सन्ताड़ित किया। अर्थात् क्षितितत्वीय बोध को बिलय करदिया—बोध का जो क्षितितत्वात्मक विकाश वा स्फुरण है, उसे प्रहत किया। उस ताड़ित ध्वनि से पूर्व कथित समस्त ध्वनि तिरस्कृत हो गईं। कारण क्षिति तत्व का आश्रय करके ही यावतीय भाव वा ध्वनियों का विकाश होता है; जब वह क्षिति तत्व ही काली के करप्रहार से स्वयं विशीर्ण होगया, तो फिर तदाश्रित विशेष विशेष भाव वा ध्वनि समूह अपने आपही निरस्त हो जायेंगे। इसीसे मन्त्र में "प्राकस्वनास्ते तिरोहिताः" ऐसा उल्लेख देखा जाता है। साधक! यहाँ पर क्षितितत्व शब्द से अस्मिता का स्थूल बोधात्मक स्फुरणमात्र समझना; तभी ये सब बातें

अनायास में हृदयङ्गम कर सकोगे।

——

अट्टाट्टहासमशिवं शिवदूती चकार ह ।
तै शब्दैरसुरास्त्रेसुः शुम्भः कोपं परं ययौ ॥२१॥

अनुवाद—शिवदूती ने अमङ्गल जनक अट्टहास्य किया। उस शब्द से असुरगण सन्त्रस्त होगये, एवं शुम्भ अतिशय कोपान्वित हुआ।

व्याख्या। शिवदूती—जिन्होंने पहिले ईशान को दूत रूप से नियुक्त करके शुम्भ को युद्ध से प्रतिनिवृत्ति करने का प्रयास किया था उन्ही चण्डिका देवी ने असुरपक्ष का अमङ्गल जनक अट्टहास्य किया। उस भीषण हास्य ध्वनि से असुरगण वित्रस्त एवं शुम्भ कोपान्वित हुआ। हास्य—आनन्दमय आत्मरूप का विकाश। विद्युद्रेखा-वत्—कोंधा की न्याई उस वाक्य मन के अगोचर परमात्मसत्ता का क्षणिक विकाश ही शिबदूती का हास्य है। यह हास्य ही असुर गणों के पक्ष में अशिव अर्थात् बड़ाही अमङ्गल जनक है, क्योंकि यह हास्य ही असुरभावसमूह को बिलय करदेता है। परमात्मा के इस-प्रकार क्षणिक विकाश ही से वह सब एकान्त सन्त्रस्त भिती-बिहवल हो पड़ते हैं; कारण क्षणकाल के लिये अपनी विशिष्ट सत्ता को खो बैठते हैं। वह कैसी भीतिदायक अवस्था है? असुरगण जब इसप्रकार स्वकीय सत्ता खोने लगते हैं, उस समय प्राणप्रण से अपनी बिशिष्टता को पकड़ रखने की चेष्टा करते हैं।

साधक! इसप्रकार एक एकबार माकी हाँसी प्रकाश पाने से ही जीवकी पृथक सत्ता विषयक प्रतीति विलुप्त होने लगती है, एवं आसुरिक भाव समूह भी संत्रस्त होते हैं। पक्षान्तर में समुदय आसु-रिक भावों के केन्द्र स्वरूप सुम्भ का अर्थात् अस्मिता का क्रोध उद्दीपित हो उठता है; जो आत्म प्रकाश उसकी विशिष्टसत्ता के

विनाश करने को उद्यत है उसे ध्वंस करने के लिये तब वह बद्धपरिकर होता है।

दुरात्मं तिष्ठ तिष्ठेति व्याजहाराम्बिका यदा।
तदा जयेत्यभिहितं देवैराकाशसंस्थितैः ॥२२॥

अनुवाद—"हे दुरात्मन् ? तिष्ठ तिष्ठ"; अम्बिका जब शुम्भ को यह वाक्य कह रही थीं, उस समय आकाशस्थित देवतावर्ग जयध्वनि कर उठे।

व्याख्या—मा ने शुम्भ को "दुरात्मन्" कहकर सम्बोधन किया। अस्मिता आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र होते हुए भी आत्मस्वरूप में परिचित होना चाहता है, यही है अस्मिता का दुष्टभाव; इसीसे माने उसे 'दुरात्मा' कहा "तिष्ठ तिष्ठ"—ठहर ठहर, क्षणकाल अपेक्षाकर शीघ्र ही तु बिलय प्राप्त होगा—मा के वाक्य से यही भाव प्रकाश पा रहा है। माने जब इस प्रकार अचिर काल ही में शुम्भ के विनाश की सूचना की, तब विज्ञानमय आकाशमण्डल में अवस्थित विशिष्ट चैतन्यवर्ग रूपी देवतावृन्द महोल्लास से जयध्वनि कर उठे। अचिर ही में वे असुरों के अत्याचार से विमुक्त होंगे,और उनको अस्मितारूप दुर्जय असुर के अधीन नहीं रहने होगा। अमृतमय आत्मसत्ता सम्भोग के शुभ दिन प्राय आगत हैं; इसी के उल्लास से ही देवगणों की जयध्वनि है।

साधक ! साधना के मार्ग में अग्रसर होते होते ऐसे शुभलक्षण देखने ही से जानना—तुम्हारी आशा पूर्ण होने में अब विलम्ब नहीं। देवतागण जबतक आत्माभिमुखी न होते हैं। तुम्हारे इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यवृन्द जबतक महोल्लास से अमृत-सम्भोग के अभिलासी न हो, तबतक आत्म लाभ की आशा विड़म्बना मात्र है। जब देखो,—इन्द्रिय मन प्राण बुद्धि एकसुर से सम्मिलित होकर महोल्लास से

आत्माभिमुखी धावित होरहे हैं, तवही जानना तुमको मातृलाभ अवश्यम्भावी है। केवल मा मा बोलकर रोते रहो, और बोलो—"काछे ऐसे हाते धरे,नियेजाओमा कोले करे। आमि दू बाहू तूले मा मा बोले, घरेर छेले जाईमा घरे।" अर्थात्—पास आओ मा! हाथ पकड़कर गोदी में लेकर लेचलो। मैं फिर दोनों हाथ उठाकर (ताली बजाता) मा मा बोलता हुआ घरकी सन्तान मैं मा घर चलूं। (करावलम्ब मम देहि मातः अन्कस्थ कुरुमा निकटस्थ होवो ? माताहि पुत्रः व्यवधान नास्ति, सच्चित्स्वरूपं सुखरूप होवो. स्वात्मरमणं निज-बोधरूपं आनन्द मूर्त्ते प्रतिष्ठा होवो) सरल प्राणों से इसप्रकार कह उठने से ही मा आवेंगी, देवतावर्ग तुम्हारे सहाय होंगे। तुम्हारी मैंत्व का विलय होगा मातृवक्ष में हमेशा के लिये मिल जाओगे।

शुम्भेनागत्य या शक्तिर्म्मुक्ता ज्वालाति भीषणा।
आयान्ती वह्निकूटाभा सा निरस्ता महोल्कया ॥२३॥
सिंहनादेन शुम्भस्य व्याप्तं लोक त्रयान्तरम्।
निर्घातनिःस्वानो घोरो जितवानवनीपते ॥२४॥

अनुवाद - शुम्भ ने देवी के निकट आगमन पूर्वक अति भीषण अग्नि शिखा-विशिष्ट शक्तिअस्त्र प्रयोग किया। अग्नि शिखा की तरह आता हुआ वह अस्त्र आते न आते ही देवी के महोल्का अस्त्र द्वारा निरस्त होगया। शुम्भ ने तब सिंहनाद से त्रिलोक परिपूर्ण किया; किन्तु हे अवनिपते ? देवी की भीषण बज़्ध्वनि ने उसकी उस ध्वनि को भी अभिभूत करदिया।

व्याख्या—इस मन्त्र में शुम्भ का भाग्यविपर्यय विशेषभाव से वर्णित हुआ है। उसका शक्ति-अस्त्र एवं भोषण सिंहनाद दोनों ही व्यर्थ होगये। अस्मिता स्वकोय शक्ति प्रयोग करके आत्मा को

सर्वभावों के भीतर लाकर विशेष भाव से भोग करना चाहता है, यही शुम्भ के शक्ति-अस्त्र प्रयोग का रहस्य है। यह शक्ति भीषण अग्नि शिखाकी न्याय प्रतीयमान होती है; कारण, जब इस अस्मिता का प्रकाश होता है, तब सर्वव्यापी एक मैंत्वमय घनसत्ता आत्म स्वरूप आच्छादन कर डालती है। किन्तु आत्मा का स्वप्रकाशभाव तदपेक्षा भी घन एवं समुज्वल है, इसीसे क्षणभर के लिये वह आत्मस्वरूप का आभास अस्मिता के उपर निपतित होकर उसको निरस्त करदेता है। यही मा के महोल्का प्रयोग का रहस्य है। जब जब अस्मिता अपनी विशिष्ट सत्ता को तीव्र अध्यवसाय से प्रकाश करने की चेष्टा करता है तब तब ही (मा का) आत्मा का स्वप्रकाश स्वरूप क्षणभर के लिए उद्भासित होता हैं; सुतरां उसके सब शक्तिप्रयोग व्यर्थ होजाते हैं।

शक्ति अस्त्र को व्यर्थ होते देखकर शुम्भ ने भीषण सिंहनाद किया। मा की वज्रध्वनि से वह भी व्यर्थ होगया। यथार्थ में शुम्भ की मैंत्व-ध्वनि द्वारा त्रिलोक परिपूर्ण होजाता है। अस्मिता देखता है—"मैं को छोड़कर और कहीं भी कुछ भी नहीं है, सर्वभावो से मैं ही हूँ।" यही तो शुम्भ का सिंहनाद है। किन्तु हे अवनीपते सुरथ ! अब प्रकृति विपर्य्यस्त हुई है, निर्घात निःस्वन उत्थित हुआ हैं। अन्तरिक्ष में वज्रध्वनिवत् आकस्मिक भीषण निःस्वन उठने से, शुम्भ का वह सिंहनाद निर्जित हो गया है। यह आकस्मिक वज्रध्वनि और कुछ नहीं है विद्युद् विकाशवत् क्षणस्थायी आत्मविकाश मात्र है। आत्मा के ही विकाश से अस्मिता दुर्ब्बल हो पड़ता है, निजके अस्तित्व में संशय आता है, "मैं हूँ" अर्थात् अस्ति नामक जो एक प्रतीति हो रही है, यह अस्तित्व मेरा है न आत्मा का है, ऐसे ज्ञान का आभास आने लगता है। जितने परिमाण में यह ज्ञान प्रकाश होता जाता है, उतने ही परिमाण में अस्मिता दुर्ब्बल होता जाता है। क्षण भर के लिए भी नित्य-अस्तित्व का विकाश होने से, प्रतिबिम्बस्वरूप का अस्तित्व क्षीणबल विना हुए नहीं रह सकता। जो साधक हैं, सो इन सब बातों को रोम रोम में अनुभव कर सकेंगे।

शुम्भमुक्ताञ्छरान् देवी शुम्भस्तत् प्रहिताञ्छरान् ।
चिच्छेद स्वशरैरुग्रैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥२५॥
ततः सा चण्डिका क्रुद्धा शूलेनाभिजघान तम् ।
स तदाभिहतोभूमौ मूर्च्छितो निपपात ह ॥२६॥

अनुवाद—देवी शुम्भनिक्षिप्त शतसहस्र वाण समूहों को एवं शुम्भ भी देवी कर्त्तृक निक्षिप्त सहस्र सहस्र वाण समूह को स्वकीय अत्युग्र शर प्रयोग से छिन्न करने लगे। बाद में चण्डिका देवी ने क्रुद्ध होकर शुम्भ को शूल द्वारा आघात किया, शुम्भ आहत होकर मूर्च्छित अवस्था में भूतल पर निपतित हुआ।

व्याख्या—आत्मा एवं अस्मिता में युद्ध। विम्व एवं प्रतिविम्व का समर, साधक! लक्ष्य करो—तुम्हारा सर्वभावों के साथ अन्वित यह जो मैं है वह किसी भी तरह अपने स्वरूपको नहीं खोना चाहता नाना भावों से, नाना आश्रयों से अपने 'मैंत्व' की रक्षा करने का प्रयास करता है। यही शुम्भ का शत सहस्र शर निक्षेप है। और देवी चितिशक्ति भी मुहुर्मुहू स्वकीय स्वरूप को प्रकटित करके अस्मिता के उन विशिष्ट आश्रय समूहों को विनष्ट करती हैं, यह ही मा के साथ शुम्भ का समर रहस्य है।

बाद में चण्डिका देवी के शूलाघात से शुम्भ मूर्च्छित हुआ। शूलाघात शब्द का तात्पर्य्य ज्ञानमय सत्ता का विकाश, यह पहले भी अनेकवार कहा गया है। 'मैं' जो 'ज्ञ' स्वरूप वस्तु हूँ, इसमें ज्ञाता ज्ञेयादि विशिष्ट कोई भाव नहीं है, ऐसी उपलब्धि को लक्ष्य करके ही यहाँ पर शूलाघात शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस मुहूर्त्त में ऐसी अनुभव प्रकाश पाता है, उसी मुहूर्त्त में अस्मिता मूर्च्छित वा अदृश्य होती है। क्षणभर के लिये अस्मिता का विभूत्व व्यापकत्वादि धर्म तिरस्कृत रहता है—ऐसा हमारी माँ का आत्मविकाश है। उनके विकाश से सर्वभाव विलय को प्राप्त होते हैं, कुछ भी नहीं रहता, रहता क्या है, सो भी भाषा में ठीक ठीक नहीं कहा जाता, क्योंकि

वह 'मैं' वर्जित 'मैं' है ! अथवा मैं का यथार्थ स्वरूप है ? वही तो यथार्थ-मैं है, वही तो 'सोऽहं," वही तो आत्मा है; वहाँ पर चन्द्र सूर्य का विकाश नहीं, वहाँ पर ग्रह नक्षत्र का विकाश नही है; वहाँ पर विद्युत प्रकाश नहीं पाती अग्नि भी वहाँ पर प्रकाशहीन है, ऐसा ही 'ज्ञ' स्वरूप, केवलानन्द स्वरूप वह आत्मा—मैं हैं। इसका विद्युत्वत विकाश होते ही अस्मिता कुछ क्षण के लिए मूर्च्छित हो पड़ता है।

ततो निशुम्भः संप्राप्य चेतनामात्तकार्म्मुकः।
आजघान शरैर्देवीं कालीं केशरिणं तथा ॥२७॥
पुनश्च कृत्वा वाहूनामयुतं दनुजेश्वरः।
चक्रायुधेन दितिजश्च्छादयामास चण्डिकाम् ॥२८॥

अनुवाद—बाद में निशुम्भ होश में आकर धनुर्धारण पूर्वक शर समूहों के द्वारा कालो को एवं केशरी को आहत करने लगा। पुनः दुनुजाधिपति दितितनय निशुम्भ ने अयुतवाहू प्रसारित करके चक्रा-युध द्वारा चण्डिका को आच्छन्न कर लिया।

व्याख्या—निशुम्भ अबतक मूर्च्छित ही था। मा के शूलाघात से शुम्भ के मूर्च्छित होनेपर निशुम्भ की मूर्च्छा भंग हुई; वह धनुर्धारण पूर्वक काली एवं केशरी को लक्ष्य करके शर निक्षेप करने लगा। अस्मिता और ममता ठीक ऐसे ही भाव से साधक को उत्पीड़ित करते रहते हैं। एक के निर्जित होने पर दूसरे का प्रभाव विस्तृत होता है। "हमारी आत्मा" कहकर आत्माभिमुखी अग्रसर होना ही ममता के शर प्रयोग का रहस्य है। निशुम्भ का विशेष क्रोध संहार शक्ति के ऊपर एवं देवी के वाहन सिंह पर है। कारण इस संहार शक्ति ही के लिए तो; कहीं भी कुछ भी नहीं है; ये काली ही तो "हमार" नामक कहने को कुछ नहीं रक्खा है, सर्वस्व ग्रासकर लिया,

है। और केशरी भी एकान्तभाव से जीवभाव का हननेच्छु है; सुतरां इन दोनों पर निशुम्भ का शर प्रयोग रूप आक्रमण चलने लगा।

इस मन्त्र में निशुम्भ को दनुजाधिपति एवं दितिज कहा गया है। दनु एवं दिति एक ही के विभिन्न नाम हैं—ये हैं कश्यप-पत्नी। खण्डनार्थक 'दो' धातु से दनु एवं दिति शब्द निष्पन्न हुआ हैं। जो शक्ति अखण्ड बोध को खण्डित करती है, अर्थात् भेद ज्ञान को धारण करती है, सोई दिति वा दनु है। कश्यप शब्द का अर्थ है पश्यक अर्थात् द्रष्टा। व्याकरण विधि के अनुसार अक्षर विपर्यय होकर पश्यक शब्द कश्यप रूप से प्रयुक्त होता है। यह हमारो ही स्वकपोल कल्पित व्याख्या नहीं है, वैदिक निरुक्तकार ने स्वयं ऐसी व्याख्या की है। कश्यप के दो पत्नी थीं—दिति एवं अदिति। सर्व भाव प्रकाशक ब्रह्म की द्विविध शक्ति है; एक बहिर्मुखी दूसरी अन्तर्मुखी। दनु वा दिति की सन्तानों को दानव वा दैत्य एवं अदिति को सन्तानों को आदित्य वा देवता कहा जाता है। एक दल बहिर्मुख, दूसरा दल अन्तरमुख है। एक दल आत्मभाव को खण्डित करता है, दूसरा दल आत्म सत्ता में युक्त रहता है।

अच्छा जो हो, "हमारा वा मेरा" यह ज्ञान ही भेद ज्ञान का सर्वप्रथम बीज है। बास्तव में तो मैं व्यतीत कहीं भी कुछ भी नहीं है, यही है सत्यज्ञान। किन्तु जिस किसी भी कारण से इस अखण्ड मैं के ऊपर जब एक "मेरा—हमारा" बोध फूट उठता है, तबही मैं को छोड़कर और एक कुछ द्वितीय वस्तु का भास होने लगता है। अर्थात् अनात्मवस्तु की सत्ता-विषयक प्रतीति होने लगती है, यह ही यावतीय असुरभाव का स्वरूप है। इसी से असुरों को दितिज वा दनुज कहा जाता है। ममता यावतीय भेद ज्ञान का आश्रय है इसीसे निशुम्भ को यहां पर दनुजेश्वर कहा गया है।

निशुम्भ ने अयुत अर्थात् दश सहस्रबाहू विस्तार पूर्वक चक्रायुध द्वारा चण्डिका को आच्छन्न कर लिया। यह बात जरा सोचने का विषय है। ममता का शेष आक्रमण—आत्मा के प्रति ममत्व बोध

है। इसी ममत्व बोध से ही आधुनिक वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। हमारे प्रभु, मेरे पिता, मेरे सखा, मेरे बन्धु, मेरे पति इत्यादि प्रकारों से परमात्मा के साथ संबंध स्थापन पूर्वक जो साधना अनुष्ठित होती है, उनकी परिसमाप्त यहीं पर है इसी निशुम्भ वध में। हमारा-मेरा कहने को और कुछ भी नहीं रह जाता, सब "मैं" हो जाता है, जबतक "मेरा" शब्द कहने में आत्मा व्यतीत और कुछ रह जाय, तबतक तो साधक का 'मेरा' शब्द बोलना भी ठीक ठीक नहीं होता। जब सर्वभाव विलय को प्राप्त होते है, जब सन्मुख में स्वप्रकाश आत्मस्वरूप उद्भासित होता है। तब हो आत्मा के प्रति यथार्थ ममत्व बोध प्रकटित हो सकता है। इसके पूर्व जो ममत्वबोध का भाव देखने में आता है, वह तो प्रवर्त्तक अवस्थामात्र है। यही यथार्थ ममत्वबोध हो अयुत हस्तोंसे चक्र अस्त्र प्रयोग करके चण्डिका को आच्छन्न करने को उद्यत होता है। दश इन्द्रिय मार्ग से सहस्र अर्थात् असंख्य भावों की सहायता से आत्मा में जो ममत्वबोध को स्थापन करने की चेष्टा करता है? इस प्रकार ममत्व बोध की सहायता से आत्मामे जो सब भाव अर्पित होते हैं, वे फिर अपने आप ही ममत्वबोध में लोट आते हैं, पुनः आत्माभिमुखी प्रेरित होते हैं, और ममत्व प्रतीति में ही लौट आते हैं। इस प्रकार चक्राकार गति को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "चक्रायुधेन" वाक्य उक्त हुआ है। ठीक ठीक ध्यानावस्था आने से ही इन बातों की सत्यता की उपलब्धि होती है। आत्मा का स्वरूप दर्शन, आत्मा का आह्वान श्रवण; आत्मा की सुगन्धि ग्रहण, आत्म रस आस्वादन प्रभृति इन्द्रय व्यवहारों का अवलम्बन करके ही— "अशद्बमस्पर्शमरूपमव्ययम्" शब्दहीन स्पर्शहीन रूपहीन परमात्मा के अभिमुखी होने होता है। इस प्रकार अयुतबाहु विस्तार करके ही भावातीत स्वरूपपर आक्रमण करने होता है। साधक! ये सभी किन्तु वैष्णवों की भाषा में अप्राकृत क्षेत्र की बातें हैं। यद्यपि अस्मिता ममता प्रभृति सूक्ष्मतम तत्व समूह भी प्रकृति हां के अन्तरगत है,

तथापि ये इतने ज्यादा चैतन्यधर्मी हैं कि इन्हें अप्राकृतिक कहने से कोई हानि नहीं होती। इस क्षेत्र के दर्शन श्रवणादिक व्यवहार समूह तो साधारण इन्द्रिय व्यवहार नहीं है, इसका धीमान् साधकों के प्रति कहना ही क्या है।

ततो भगवती क्रुद्धा दुर्गा दुर्गार्त्ति नाशिनी।
चिच्छेद तानि चक्राणि स्वशरैः सायकांश्च तान् ॥२६॥

अनुवाद—दुर्गम में निपतित जनगणों की कातरताहारिणि भगवती दुर्गादेवी ने क्रुद्धा होकर निशुम्भ निक्षिप्त चक्र एवं वाणों के सभूह को स्वकीय शर प्रयोग से छिन्न कर दिया।

व्याख्या—दुर्गत सन्तान ने दुर्गा कहकर, आर्त्तिहरा मा कहकर पुकारा हैं, असुरों के अत्याचार से परित्राण पाने का कोई उपाय न देखकर, सर्वाश्रया मा को सरलप्राणों से दुर्गा कहकर पुकारा है; तभी तो भगवती षड़ैश्वर्यशालिनी मा हमारी क्रुद्धा चण्डिकामूर्ति से ममता के यावतीय शर प्रयोगों को व्यर्थ कर दे रही हैं। मा का अस्त्र एवं स्वशर, अर्थात् आत्म शर। आत्म स्वरूप-प्रकाश रूप शर को निक्षेप करके क्षण क्षण में मा हमारी एक एक बार चपला (विद्युत) की तरह जब स्वयं उद्भासित होती है, तबही असुर के यावतीय अस्त्र प्रयोग और उद्यम व्यर्थ होजाते हैं। कारण आत्मा का स्वरूप ऐसा ही है उसके उदय होने पर फिर किसी की भी सत्ता का खोजने पर भी पता नहीं लगता। सर्व सत्ताओं के बिलयकारी आत्मसत्ता का विकाश होते ही ममतादि भेदक्षानात्मक बृत्तियों का प्रभाव क्षीण से भी क्षीणतर होजाता है। योगशास्त्रकार ने इसे "प्रक्षीण क्लेशावस्था कहा है। जो चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करके, इस अस्मिता प्रभृति क्लेश को तनु अर्थात् क्षीण करने की इच्छा करते हैं, उनका उपाय स्वतन्त्र है (उनकी दूसरी बात है)। हमने चिर पुरातन एक मार्ग

का सन्धान पाया है,उससे समझ में आया है—जितनाही मा हमारी का आत्म प्रकाश होता जाता है, उतने ही क्लेश समूह भी प्रक्षीण होते जाते हैं। सो भी मा का यह आत्मप्रकाश शरणागत भाव के भीतर होकर ही सहज में हो जाता है। सत्य और प्राण-प्रतिष्ठा ही ऐसी साधन की भित्ति है किन्तु ये सब बातें यहां पर अप्रासङ्गिक हैं।

ततो निशुम्भो वेगेन गदामादाय चण्डिकाम् ।
अभ्यधावत वै हन्तुं दैत्यसेनासमावृतः ॥३०॥
तस्यापतत एवाशु गदां चिच्छेद चण्डिका ।
खड्गेन शितधारेण स च शूलं समाददे ॥३१॥

अनुवाद—इसके बाद निशुम्भ दैत्य सेना से परिवेष्टित होकर गदा ग्रहण पूर्वक चण्डिका को हत्या करने के लिये खूब वेग से अभिधावित हुआ। (गदा हस्ते) आपतित निशुम्भ की उस गदा को चण्डिकाने तीक्ष्णधार खड्ग द्वारा शीघ्रही छिन्न करडाला। निशुम्भने तब शूलास्त्र ग्रहण किया।

व्याख्या—गदा शूल प्रभृति का अर्थ पूर्व कहा जाचुका है। साधारण बात ममता पुनः पुनः 'मेरी' कहकर आत्मा को परिग्रह करना चाहता है, चण्डिका भी स्वकीय स्वरूप-प्रकाश रूप तीक्ष्णधार खड्गाघात से ममता के उन सभी उद्यमों को विनष्ट करदेती हैं। भेद-ज्ञान नाशक विशुद्ध अद्वयज्ञान के प्रकाश ही को यहाँ पर तीक्ष्णधार खड्ग कहा जाता है पुराणादि शास्त्रों में विज्ञान ही असिरूप से उल्लिखित हुआ है। भले ही अल्पकाल के लिये "एवमेवाद्वितीयम्" उद्भासित हो, यावतीय भेदज्ञान तत्क्षणात् निरस्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में पड़ कर ममता अगत्या अपना सर्वशेष अस्त्र शूल ग्रहण करता है। जिस ज्ञान-सत्ता में ममतारूप अज्ञान प्रतिष्ठित है, उसी ज्ञान को यहाँ पर त्रिशूल कहा गया है। त्रिपुटी ज्ञान ही यह त्रिशूल है। "अपनी (मेरी)

आत्मा को मैं साक्षात् कर रहा हूं" ऐसे भाव में जो स्वगत भेदमय त्रिपुटी ज्ञान विद्यमान है, वह ही है निशुम्भ का शूलास्त्र।

———

शूलहस्तं समायान्तं निशुम्भममरार्दनम् ।
हृदि विव्याध शूलेन वेगाविद्धे न चण्डिका ॥३२॥
भिन्नस्य तस्य शूलेन हृदयान्निःसृतोऽपरः ।
महावलो महावीर्य स्तिष्ठेति पुरुषो वदन् ॥३३॥

अनुवाद—अमर विजयी (असुर) निशुम्भ शूल हाथ में ले आगमन कररहा है देखकर, चण्डिका ने अतिबेग से स्वकीय शूल निक्षेप पूर्वक उसका हृदय देश विद्ध करलिया। शूलाघात से उसका (निशुम्भ का) हृदयदेश इस प्रकार विदीर्ण हुआ, उस में से और एक महाबल और महा वीर्य सम्पन्न पुरुष "तिष्ठ" (ठहर) यह वाक्य बोलता बोलता निर्गत हुआ।

व्याख्या—निशुम्भ की शूल अर्थात् पूर्वोक्त त्रिपुटीज्ञान को व्यर्थ करके, चण्डिका मा हमारी ने शूलाघात से—अद्वयात्मस्वरूप प्रकाश से उसका हृदय विद्ध किया। अरे, इस प्रकार बिना हृदय विद्ध किये, इस प्रकार द्वैतज्ञान के विना बिदीर्ण किये, इस प्रकार अद्वयतत्व उद्भासित नहीं करने से तो हमारा और कोई उपाय ही नहीं रहता। मा ! आज तुमने इस मुक्ति मन्दिर के द्वार पर आकर जिस अद्वय शूलाघात से भेदज्ञान का हृदय बिदीर्ण किया, यह शूलाघात न मालूम कब कौन अतित युग से आरम्भ हो रहा है, कौन स्मरणातीत काल से यह हृदय कितना क्षत विक्षत हो रहा है, तथापि जागृत नहीं हुआ। अरे जब मैं मेरा कहकर बड़े आदर से धनैश्वर्य को जकड़ के पकड़ता था, तबतो नहीं समझा था कि इस धनैश्वर्य रूप से तुम्हीं हो मा हमारी। मैं तो भेद ज्ञान से उसे जड़ पदार्थ मानकर पकड़ता था; और तुम भी ठीक इस प्रकार करके तीव्र यातना दायक

अथच ज्ञानमय शूल के आघात से इन सबको हमारे पास से हटा देती थीं। मैं तब "हा हतोस्मि" कहता हुआ रो उठता था। फिर जब स्त्री पुत्र कन्या वन्धु बान्धव प्रभृति को मेरे कहकर जकड़े रखता था तब भी नहीं समझा—कि ये सब भी मा तुम्हारे व्यतीत और कुछ नहीं है; इसी से तुम उन सब को भी इसी प्रकार शूलाघात से हटा कर, मेरे हृदय देश को क्षत विक्षत कर देती थी। उसी समय परम-प्रियतम आत्मा हमारी, तुम थोड़ी, थोड़ी करके इस विशीर्ण हृदह के एक कोने में आकर स्थान ग्रहण करती थीं। इस प्रकार एक दिन नहीं; कितने दिन कितने जन्मों से तुम्हारे शूलाघातों को हृदयपातकर लिया है। रोआ हुं, असह्य वेदन यातना भोग कीं है, तिस पर भी फिर भेद ज्ञान में मुग्ध हुया हुँ तुमको भुला दिया है। फिर भी तुमने मुझे जगाने के लिये शूल आघात किया है। फिर हृदय पातकर उसी क्षत विक्षत हृदय में तुम्हारा शूलाघात सह्य किया है। तुम्हारी वह कृपा कठोर मूर्त्ति उस समय देखते हुए भी नहीं देखी, समझते हुए भी नहीं समझे। जड़त्व के मोह मे आच्छन्न होकर तुम्हारो कृपा की उपेक्षा करके कितना न वहिर्मुखीं दौड़ा हुँ। तब तुम्हारे वह शूलाघात बड़े ही यन्तणादायक थे। आज किन्तु तुम्हारा यह शूलाघात सम्पूर्ण भावेन वाञ्छनीय मानकर हृदय में ग्रहण कर रहा हुँ। अब और कहने की कुछ नहीं है मा; केवल मा केवल मा बोलते बोलते ऐसे ही मेरा कन्ठ निरुद्ध हो जाय।

अच्छा जो हो, यह ममत्व पहले पहले जड़ पदार्थ के आश्रय से प्रकाश पाता है; क्रम से जड़ाश्रित चैतन्य में, बाद में विशुद्ध चैतन्य में पर्य्यवसित होता है। इस प्रकार ममत्व जब विशुद्ध चैतन्याभिलाषी होता है, तब ही यथार्थ भक्ति वा प्रेम धर्म का अनुशीलन होने लगता है। क्रम से आत्मप्रेम जितनी गंभीरता लाभ करता है, उतना ही ममत्व बोध ढक जाता है। जब मात्र विशुद्ध बोध रूप आत्मसत्ता प्रकाश पाती है, तब ही ममता निहत होती है। चण्डिका के शूलघात से निशुम्भ के हृदय विदारण का यही संक्षिप्त रहस्य है।

मन्त्र में और एक बात हैं—निशुम्भ निहत होने पर भी उसके हृदय में से महाबल सम्पन्न और एक पुरुष निर्गत हुआ था। यह पुरुष अन्य कोई नहीं ममताधिष्ठित चैतन्य है। जिस चैतन्य-सत्ता पर अधिष्ठित होकर ममत्व रूप एकविशिष्ट भाव प्रकाश पाता है, वह विशिष्ट चैतन्य ही निशुम्भ का हृदयनिःसृत पुरुष है। ममत्व रूप विशिष्ट भाव के विनष्ट होने पर भी तदधिष्ठित चैतन्य का विलय नहीं होता। विशेषतः वह निर्गत होते ही देवी को "तिष्ठ" ऐसे शब्द का प्रयोग करने लगता है। अभिप्राय यही है कि—मैं जब तक मौजूद हुँ, तब तक हे देवी, तुम जितने ही निशुम्भ को हत क्यों न करो, मैं इच्छा करूँ तो फिर ऐसे सहस्र निशुम्भों की सृष्टि कर सकता हुँ। साधक ! बीज रहने से अन्कुर उत्पन्न होने में क्या देरी ?

———

तस्य निष्क्रामतो देवी प्रहस्य स्वनवत्ततः।
शिरश्चिच्छेद खड्गेन ततोऽसावपतद्भुवि ॥२४॥

अनुवाद—तब देवी ने अट्टहास्य करके खड्ग द्वारा उस हृदय निष्क्रान्त पुरुष को शिरश्च्छेद कर दिया। वह भुतल पर निपतित हुआ।

व्याख्या—चण्डिका के खड्गाधात से—अद्वयज्ञानालोक सम्पात से, ममताधिष्ठित चैतन्य का शिरश्च्छेद अर्थात् उत्तमाङ्ग विच्छिन्न हुआ। "मैं ममतामय" ऐसे अभिमान का नाश ही निशुम्भ के हृदय निःसृत पुरुषका शिरश्च्छेद है। शुम्भ का जो निशुम्भ विषयक अभिमान है, वह ठीक ऐसे ही विनष्ट होता है। अर्थात् शुम्भ जो मन में सोचता है—"मेरा निशुम्भ नामक भ्राता है" वह भाव दूरी भूत हो जाता है। अरे, ममता भी तो अस्मिता ही का एक प्रकार विशिष्ट भाव मात्र है ! मा के स्वरूप प्रकाश वा अद्वयज्ञान के उदय रूप शाणित खड्ग के आघात से यह विशिष्टता भी विदूरित

होता है ममता हमेशा के लिये विलय प्राप्त हुआ। अब शुम्भ सम्पूर्ण रूप से निःसहाय हो गया। साधक, पूर्व में कह चुका हुँ—सम्पूर्ण रूप से एकाकी नहीं हो सकने से, उन परम एक को नहीं पकड़ा जा सकता। देखो, इतने दिनों के बाद शुम्भ यथार्थ रूप से एकाकी हो सका है, सुतंरा अब अद्वय तत्व में उपनीत होने में और देरी नहीं होगी। ममता ही यावतीय भेदज्ञान अर्थात् निरानन्द की जड़ है। अब वह जड़ नष्ट हो चुकी है सुतंरा आनन्दमय स्वरूप में उपनीत होना अब एकान्त ही सम्भव हो गया है। प्रिय साधक,—अब उल्लास के साथ गाओ तो देखें—"आनन्दे जगत् भरा, आनन्दमय हेरी धरा, तभी तो माने दिया धरा, अहा! क्या आनन्द दिया ढाले। मा हैं मोर आनन्दमयी, मैं हुँ मा को आह्लाद पुत्र, आनन्द मय हेरी भुवन,निरानन्द दूरे फैले॥" (आनन्द में आनन्द है,आनन्द परमानन्द है। आनन्द सब आनन्द है, आनन्द ही आनन्द है)।

———

ततः सिंहश्चखादोग्र दंष्ट्राक्षुण्ण शिरोधरान्।
असुरांस्तांस्तदा काली शिवदूती तथापरान् ॥३५॥

अनुवाद—तदनन्तर सिंह निशुम्भ की सेना को तीक्ष्ण दाँत द्वारा ग्रीवादेश विदीर्ण करता हुआ भक्षण करने लगा। और तब शिवदूती ने भी उसी तरह अपर असुरों को भक्षण किया।

व्याख्या—देवी का उत्तम वाहन जीव रूपी सिंह ममता के अनुचर वर्ग को चर्व्वण करने लगा। और देवी शिवदूती भी अन्यान्य असुर भाव समूहों को ग्रास करने लगीं। ममता विनष्ट हो चुकी है, सुतरां तदाश्रित यावतीय संस्कार तो इस प्रकार अनायास में ही विनाशको प्राप्त होंगे ही, इसका कहना ही क्या हैं। पूर्व कह चुका हूं ईश्वर भावीय संस्कार समूह ही शुम्भ निशुम्भ का सैन्यदल है। ईश्वरत्व प्राप्ती की आकांक्षा—विराट ऐश्वर्य भोग की वासना इतने

दिनों तक ममता के अन्तर निहित थी, अब तो विशुद्ध अद्वयतत्व के प्रकाश होने से, विशिष्टभाव से ईश्वरत्व भोग की स्पृहा भी सम्यक् रूप से विलुप्त होगई। इन ईश्वरभावीय संस्कारों के नष्ट करने के लिये साधक स्वयं एवं शिवदूती और ब्रह्माणी प्रभृति अष्टशक्ति, सभी एक साथ चेष्टा करने लगे; सुतरां अल्पकाल में ही असुरसैन्यगण के विनष्ट करनेमें समर्थ हुए। परवर्तिमन्त्र में अष्टशक्ति का असुर निधन वर्णित हुआ है।

कौमारी शक्ति निर्भिन्नाः केचिन्नेशुर्महासुराः।
ब्रह्माणीमन्त्रपूतेन तोयेनान्ये निराकृताः ॥३६॥
माहेश्वरीत्रिशूलेन भिन्नाः पेतुस्तथापरे।
वाराही तुण्डघातेन केचिच्चूर्णी कृताभुवि ॥३७॥
खण्डखण्डश्च चक्रेण वैष्णव्या दानवाः कृताः।
वज्रेण चैन्द्रिहस्ताग्र-विमुक्तेन तथापरे ॥३८॥

अनुवाद—कुछ तो महासुर कौमारी देवी के शक्ति-अस्त्रमे विदीर्ण हुए। और कुछ ब्रह्माणी मन्त्रपूत जल के द्वारा निराकृत हुए। इसी-प्रकार कुछेक माहेश्वरी के त्रिशूलाघात से, और कुछ वाराही के तुण्डाघात से चूर्णीकृत हो भूतल पर निपतित हुये। और वैष्णवीशक्ति चक्रास्त्र के प्रयोग से दानवगणों को खन्ड खन्ड करने लगीं। इन्द्राणी-शक्ति भी स्वहस्त से वज्र निक्षेप करती हुई अपर असुरो को निहत करती थीं।

व्याख्या—ममता निपतित है; तदाश्रित असुरकुल मातृगण कर्त्तृक विमर्दित हैं। यद्यपि मन्त्र में कौमारी ब्रह्माणी माहेश्वरी वाराही वैष्णवी और इन्द्राणी, इन छः शक्तियों का उल्लेख है, तथापि उपलक्षण वशतः यहांपर अष्टशक्ति समझनी होंगी। इन्होंने इसके पूर्व रक्तबीज वध के समय घृणा लज्जा प्रभृति अष्टपास रूपी अष्टविध

असुरकुल को निहत किये हैं; फिर यहाँपर भी ईश्वरत्व के जो अष्ट ऐश्वर्य हैं, अर्थात् अ णिमा प्रभृति अष्टविध श्रेष्ठ विभूति लाभ के वासनारूप सूक्ष्म संस्काररूपी असुर समूह हैं, उनको भी बिलय किया। यथार्थ आत्मज्ञान के पक्ष में ईश्वरत्वाभिमान भी प्रवल अन्तराय हैं। ईश्वरत्व के प्रति वैराग्य नहीं आने से ममतारूपी असुर निशुम्भ निहत नहीं होता। अनेक साधक यहीं पर आकर अष्टऐश्वर्य के प्रलोभन में—ईश्वरत्व की आकांक्षा में मुग्ध हो पड़ते हैं। विशुद्ध आत्मज्ञान को सुषुप्तिवत् एक मूढ़ अवस्था समझ कर उससे प्रतिनिवृत्त होजाते हैं। बहु सुकृति के बल से, श्री गुरू की अहैतुकी कृपासे, मा के अतुलनीय स्नेह से साधक इस ऐश्वर्य-संकट से परित्राण पाते हैं। जबतक ममता है, तबतक ईश्वरत्व के प्रलोभन में मुग्ध होना खुब ही स्वाभाविक है। मा की विशिष्ट कृपा के विना मा के इसी प्रकार अष्ट शक्ति रूपसे प्रकटित बिना हुए, साधकों का जो अष्ट ऐश्वर्य के प्रतिप्रलोभन है किसी प्रकार भी विदूरित नहीं हो सकता। जीवभाव के प्रति वैराग्य एकान्त दुर्लभ नहीं, कारण वह अनादि जन्मों से भोग किया जारहा है। जो बहुदिनयावत् उपभोग किया जाता है, उसके प्रति स्वतः ही कुछ वैराग्य आउपस्थित हो सकता है। किन्तु ईश्वरत्व अति दुर्लभ है। समष्टि बुद्धि में वा महतत्व में अधिष्ठित न होसकने तक ईश्वरत्व के स्वरूप की भी उपलब्धि नहीं होती। साधक जब तीव्र आग्रह से केवल परमात्म सत्ता की ओर लक्ष्य रखता हुआ अग्रसर होता है, तब मार्ग में इस अपूर्व ईश्वरत्व भोग का सुयोग उपस्थित होता है। ऐसे साधक जगत में खुब कम ही हैं, जो इस ईश्वरत्व को भी तृणवत् तुच्छ करते हुये अग्रसर होसकैं। एकमात्र महाशक्तिरूपिणी मा जिनके हृदय में अमित बल एवं परवैराग्यरूप से प्रतिष्ठित हुई हैं; केवल सोई इस दुर्दमनीय प्रलोभन के हाथ से परित्राण पा सकते हैं। साधन समर के साधकगण प्रथम से ही मातृचरणों की शरणागत सन्तान हैं; वे नहीं जानते जीवत्व, नहीं जानते ईश्वरत्व, वे न जानते हैं वन्धन और न जानते मुक्ति, वे ज्ञान भी नहीं जानते

भक्ति भी नहीं जानते, जानते हैं केवल "मा" वे तो सभी अवस्थाओं में सर्वतोभाव से मातृअन्कस्थ नग्न शिशु हैं। इसी से तो मा हमारो विशिष्ट भाव से प्रकटित होकर—अपने को अष्टशक्ति मूर्त्तिमें विभक्त करती हुई, उनका जो अष्ट ऐश्वर्य के प्रति प्रलोभन है उसे सम्यक् दूरीभूत कर देती हैं; सुतरां ईश्वरत्व-संकट से मुक्त होकर जगत् को तृणीकृत करते हुये महोल्लास से परमानन्दमय परमात्मक्षेत्र की ओर अग्रसर होते जाते हैं। चण्डितत्व में यहही सुस्पष्टरूप से वर्णित हुआ है।

केचिद्विनेशुरसुराः केचिन्नष्टा महाहवात् ।
भक्षिताश्चापरे काली-शिवदूती-मृगाधिपैः ॥३६॥

इतिश्रीमार्कण्डेय पुराणें सावर्णिक मण्वन्तरे देवी-महात्म्ये
निशुम्भ-वधः ।

अनुवाद—कितनेक असुर युद्ध में निहत हुये, कितनेक युद्धक्षेत्र में से अदृश्य होगये, और अवशिष्ट असुर काली शिवदूती एवं सिंह कर्त्तृक भक्षित हुए।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तरगत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवीमहात्म्य प्रसङ्ग में
निशुम्भ वध ।

व्याख्या—शुम्भ को छोड़कर और सभी असुर विध्वस्त हो गये। इस मन्त्र में असुर गणों की दुर्दशा वर्णन करते हुए ऋषि बोले – कुछ तो असुर निहत, कुछेक पलायमान एवं अवशिष्टों को काली शिवदूती और सिंह ने भक्षित किया। इसमें जो निहत होचुके सो तो और पुनरावर्त्तन नहीं करेंगे। तात्पर्य्य यह है कि कुछेक आसुरिक-संस्कार तो हमेशा के लिये विलय को प्राप्त हुए,उनका अब वाधितानुवृत्ति न्याय से पुनरावर्त्तन नहीं होगा। और कुछेक संस्कार (आहार-विहारादि) व्युत्थित अवस्था में पुनरावर्त्तित होते हैं; इन्हीं को मन्त्र में पलायन-

कारी सैन्य दल कहा गया है। इसके पूर्व भी स्थान स्थान पर ऐसी बात कही गई है; उसमें पुनरुक्तिदोष नहीं हुआ। क्योंकि अत्यन्त गहन यह तत्व है, और अति दुरधिगम्य इस अद्वयतत्व की उपलब्धि है, सुतरां इन सब बातों की पुनः पुनः आलोचना ही आवश्यक है। अद्वयतत्व में उपनीत होने से यावतीय संस्कार विलुप्त हो जाते हैं। फिर उसमें से व्युत्थित अवस्था में (उठने पर) जीव भावीय कुछेक संस्कार प्रकाश पाते हैं। जबतक स्थुल देह रहती है, तबतक वह रहते अवश्य हैं, किन्तु कूछ भी अनिष्ट संघटन करने में, अर्थात् पुनः भ्रान्तिज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं कर सकते; कारण उनमें कि पारमार्थिकत्वबुद्धि बिलकुल नष्ट होजाती है। और कुछेक संस्कार रहते हैं, सो (धर्मप्रतिष्ठा ज्ञानदान लोकशिक्षा प्रभृतियों) सर्वतो भाव से-मातृ-संकेत से मातृ इच्छा से परिचालित होते हैं। मा की विशिष्ट प्रेरणा व्यतीत उन सबकी विशेष कोई कार्यकारिता प्रकाश नहीं पाती। ऐसे संस्कारों को ही लक्ष्य करके मन्त्र में शिवदूती कर्त्तृक असुर भक्षण का विषय वर्णित हुआ है। मा शिवदूती ने जिन्हें ग्रास किया है—आवश्यक होने से अर्थात् महती शक्ति की विशेष प्रेरणा होने से, वे सब संस्कार भी प्रादुर्भूत होसकते हैं; किन्तु उनकी कोई प्रकार की अनिष्टकारिता नहीं रहतीं; क्योंकि वे सर्वतोभाव से महती इच्छा ही का अनुवर्त्तन करते हैं। सुतरां साधक को भी विशिष्ट भाव से मुग्ध नहीं कर सकते सीधी बात यह है कि—एक बार अद्वयतत्व का साक्षात्कार प्राप्त होने से साधक को भेद भ्रान्ति वा बन्धन भय मृत्युभय हमेशा के लिये दूरिभूत हो जाते हैं। बाद में जबतक स्थुलदेह रहती है, तबतक साधक मात्र प्रारब्ध संस्कारों के क्षय की अपेक्षा करता रहता है; एवं प्रारब्ध क्षय होने पर विदेह कैवल्य प्राप्त करता है।

आओ साधक अब हम मा के चरण स्मरण करते हुए शुम्भवध रहस्य अवगत होने की चेष्टा करें। प्रबल प्रारब्ध संस्कार के विद्यमान रहते शुम्भ वध नहीं होता—यथार्थ अद्वैततत्व उद्भासित

नहीं होता। आओ हम मा मा पुकारते हुये रोवैं। आओ हम केवल मा को ही देखने के लिये और भी आग्रहान्वित हों। आओ हम ईश्वरत्व-भोगों की स्पृहा पर्य्यन्त संयत करते हुये अकैतव (अकृत्रिम) प्रेममें आत्म भूला होने का यत्न करें। कृपामयी मा निश्चय ही हमको स्नेहमय बक्ष में लेकर अपने उसी निरञ्जन क्षेत्र में लेजायेंगी। हमारी समस्त आशायें पूर्ण होंगीं।

इति साधन-समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्यामें निशुम्भ वध समाप्त।

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य।

रुद्र ग्रन्थिभेद।

शुम्भवध।

ऋषिरुवाच।

निशुम्भं निहितं दृष्ट्वा भ्रातरं प्राण सम्मितम्।
हन्यमानं बलञ्चैव शुम्भः क्रुद्धोऽब्रवीद वचः ॥१॥
बलावलेपदुष्टे त्वं मा दुर्गे गर्व्वमावह।
अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे चातिमानिनी ॥२॥

अनुवाद—प्राणतुल्य भ्राता निशुम्भ निहत एवं सैन्यदल विनष्ट होगया है देखकर, शुम्भ क्रोधान्वित होकर बोला—हे दुर्गे ? तुम बल के गर्व से अतिशय उद्धत होगई हो। गर्व मत करो। क्योकि तुम अतिमानिनी (गर्विता) होते हुए भी अपरों के बल का आश्रय करके युद्ध कररही हो।

व्याख्या--शुम्भ का प्राणप्यारा सहोदर निशुम्भ निहत होगया है; अस्मिता की एकान्त सहायक ममता यावतीय द्वैत संस्कारों के साथ विनाश को प्राप्त होचुकी है, अब अस्मिता सहायहीन मात्र अकेला है; तथापि हताश भाव नहीं, अवसाद नहीं है उत्साह है प्रतिहिंसा का प्रतिदान का वा आत्मदान का तीव्र आग्रह। इसी से मन्त्र में उक्त हुँआ है शुम्भ क्रोध में भर कर देवी से बोला हे बलावलेप दुष्टे-हे बलगर्व-जनित-उद्धत भावापन्ने ? हे दुर्गे ? तुमको अतिशय बल-गर्वित देखरहाहूँ ठीक किन्तु ऐसे गर्व करने योग्य तो तुम में कुछ भी नहीं। कारण, दूसरों के बल से तुम बलीयसी हो। ब्रह्माणी प्रभृति मातृका शक्तिगणों के बल का आश्रय करके ही तुम युद्ध कर रही हो एवं असुर निधन करने में समर्थ होरही हो इसमें तुम्हारा अपना महत्व क्या है, कि जिससे तुम अपने को अतिमानिनी-अतिशय गर्वित कहकर समझ सको ?

देवी के प्रति कहे जाने वाले शुम्भ के वाक्य क्या सुन्दर हैं ? आत्मा-चिति शक्ति मा हमारी यथार्थ में अति गर्विता हैं। और द्वितीय तो कोई हैं नहीं ? जो आत्मा के गर्व को क्षुन्न करे, ऐसा तो कुछ भी है नहीं ? आत्मा ही तो यथार्थ मैं हैं ? जो यथार्थ मैं हैं, गर्व ही (गौरव ही) तो उनका स्वरूप है। मा को ऐसा गर्व क्यों है, उसे परवर्त्ती मन्त्र में खुदही कहैंगीं। साधक ? साधन-समर के प्रारम्भ देवी सूक्त में जिस "मैं" को अन्वेषण करने का इङ्गित किया गया था, नानास्तरों में होकर नानाप्रकार की अवस्था विपर्य्यय में होकर इतने दिनों में आकर उसी मैंके समीप उपस्थित हुए हो ? आज मैं रूपी मा का अक्षुन्न (अवाध) प्रभाव, अक्षुन्न गौरव देख रहेहो धीरे अति सावधानी से अग्रसर होओ।

एक—प्रतिबिम्ब मैं, एवं दूसरा—बिम्ब मैं। एक अस्मिता दूसरा आत्मा वा चितिशक्ति। एक चिदाभास,अन्य स्वयं चित्। इतने दिनों में अब उभय परस्पर सन्मुखीन हुए हैं। ओ प्रियतम साधक ? कितने युग युगान्तर कितने जन्म जन्मान्तरों की अक्लान्त साधनाओं के फल

से—नहीं नहीं,मा के गुरू के हमारे के-प्रबल स्नेह के आकर्षण से आज तुम अम्बिका मा आत्मा के सन्मुख आ उपस्थित हुये हो। अहो धन्य हो तुम ? और धन्य है तुम्हारा पुत्रत्व ! किन्तु वह और बात है—

सुनो—अस्मिता का स्वभाव ही यह है कि वह अपने को ही महान रूप से ईश्वर रूप से देखना चाहता है। पक्षान्तर में यह है कि आत्मा को अनणु अस्थुल अह्रस्व अदीर्य इत्यादि सर्व विशेष बिबर्जित किम्मूत किमाकार वस्तु मान बैठता है। ऐसी अवस्था में अपना मनमना विचार करता रहता है—सर्व भावातीत वाक्य मन के अगोचर वस्तु को जड़ कहने ही में क्या हानि है ? उसका फिर गर्व करने को क्या है ? किन्तु आत्मा को बिलकुल जढ़-पदार्थ ही कैसे कहा जाय ? यावतीय शक्ति तो उसी में प्रतिष्ठित है इसे तो प्रत्यक्ष ही देखरहे हैं। यह शक्ति समूह यदि ना रहे—अर्थात कोई प्रकार की शक्ति का यदि प्रकाश न रहे, तब तो (शायद) खूब सम्भव है आत्मा जड़वत् होपड़ेगी,तभी हो भी सकता है की उसे अपने वश में किया जा सके। ऐसा विचार करता हुआ ही देवी को अन्य के बल से बलीयसी कहकर शुम्भने कटाक्ष किया था। अभिप्राय यही है कि असुर नाशिनी विभिन्न शक्तियों का आश्रय नहीं लेने से, चितिशक्ति सम्भवतः परिग्रह योग्य होसके।

शुम्भने देवी से जो सब बातें कहीं थीं,उनमें शुम्भ का और भी एक गुढ़ अभिप्राय प्रकाशित हो रहा है। तत्त्व प्रकाशिका ने उस अभिप्राय को प्रकट किया है। प्रथम मन्त्र का अन्यय करें। “ हे वलावले हे अपदुष्टे, हे दुर्गे त्वं मा सुतरां गर्व्वं आवह। या त्वं अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे अतएव अतिमानिमी ” अब शब्द का अर्थ करो—बलवान् अवलयति या सा वलावला, तस्याः सम्बोधने बलावले। जो बलवान को भी अबल अर्थात् हीनबल करने में समर्थ हैं वही हैं बलावला उन्हीं के सम्बोधन में “बलावले” पद का प्रयोग हुआ है। जो मा हमारी अति प्रबल अहंकारादि भाव समूहों को सम्पूर्ण हीनबल करती हैं, वे ही तो यथार्थ बलावला हैं। एवं यावतीय दुष्टभाव

भेदभाव जिनको निकट सम्पूर्ण क्षीण होजाते हैं-अपगत हो जाते हैं, सोई हैं अपदुष्टा, उन्हीं के सम्बोधन में "अपदुष्टे" पद का प्रयोग है। और दुर्गा शब्द का अर्थ है दुर्गतिहरा अथवा दुर्ज्ञेयतत्व-स्वरूपा उन्हीं के सम्बोधन में दुर्गे हैं; एवं त्वं मा—तुमही तो हो मा; क्योंकि सर्व भावों को धारण एवं पोषण तुमही तो करती हो, मातृत्व धर्म पूर्णरूपसे एक मात्र तुम्ही में सम्यक् रूपसे सुप्रकटित है; सुतरां त्वं गर्व्वं आवह—तुमही यथार्थ गर्व्व कर सकती हो। तुम्हारे ही प्रकाश से सर्वभाव प्रकाशित हैं। तुम्हारी ही सत्ता द्वारा सर्वभाव सत्तामय हैं, तुम्हारे ही चैतन्य द्वारा सर्वभाव सञ्जीवित हैं; सुतरां गर्व्व करने का अधिकार एक मात्र तुम्ही को है।

अन्यासां बलमाश्रित्य युध्यसे—तुम औरों के बल के आश्रय करके ही युद्ध करती हो, तुम स्वयं तो निर्विकार—सर्व विकार विवर्जित हो, तुम निर्गुण और निष्कल हो; तुम को युद्ध करने ही से परबल का आश्रय लेने होता है अर्थात् परा प्रकृति का आश्रय लेने होता है। गीता में भगवान ने भी इसी परबल ही को "आत्ममाया वा स्वकीया प्रकृति कहा है—यथा, "अजोऽपि सन्न व्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म-मायया।" निर्गुण निरञ्जन आत्मा को युद्ध करने के लिये, अर्थात् द्वैत प्रतीति में आने के लिये प्रकृति वा स्वकीय शक्ति का आश्रय लेने होता है। हमको जैसे किसी वस्तु का रूप ग्रहण करना हो तो दृक्-शक्ति का आश्रय लेने होता है, शब्द् श्रवण करने के लिये श्रवण शक्ति का आश्रय ग्रहण करने होता है, ठीक तैसे ही निरञ्जन आत्मा को भावरञ्जना में आने के लिये शक्ति का आश्रय लेने होता है। यह शक्ति समूह आत्मा ही के आश्रय से प्रकाश पाती है एवं आत्मा ही से समुद्भूत होती है। यह बातें इसके पूर्व देवी के शरीर में से चण्डि-का प्रभृति शक्ति के निष्क्रामण—प्रस्ताव में विशेष भाव से समझ चुके हो। जो मा हमारी सर्वशक्तियों की सम्भव स्वरूपा है, जो मा हमारी सर्व शक्ति की एकान्त आश्रय स्वरूप है, वे फिर अतिमानिनी

क्यों न होंगीं ? मान् धातु का अर्थ है पूजा। मा हमारी अतिशय पूज्या अतिशय गौरविता हैं। मा व्यतीत और किसी को भी गर्व्व करने का अधिकार नहीं है। अरे गर्व्व तो "मैं को लेकर है ?" मैं जब एक मात्र मा ही हैं, और कोई जब मैं नहीं, मैं कहने का अधिकार जब और किसी को भी नहीं है, तो फिर जो मैं हैं, सोई तो गौरविनी हैं-वेही तो अतिमानिनी हैं।

समझे पाठक, जिन्होंने माको पाया है, जो आत्मज्ञ पुरुष होते हैं, उनको अहंकार नहीं रहता क्यों ? जो यथार्थ अहं रूपिणी हैं, उसका साक्षात्कार करने ही से मिथ्या अहं—प्रतिबिम्ब अहं हमेशा के लिये तिरोहित हो जाता है। तभी तो महापुरुषगण ब्रह्मविद् पुरुषगण सर्वतो भाव से अहंकार शून्य होते हैं। याद रक्खों—माको अहंको विना देखे किसी प्रकार भी अहंकार दूरीभूत नहीं होता। अहंकार दूर करने के लिये अपने को दीन हीन पतित मानकर समझने की चेष्टा मत करना; ऐसे भावों में भी अहंकार रहता है। यथार्थ अहं को देखो—मिथ्याभिमान अपने आप ही भाग जायगा।

देव्युवाच।

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ॥३॥

अनुवाद—देवी बोलीं—इस जगत में एकमात्र मैं ही तो हूँ, मुझसे भिन्न अपर दूसरा कौन है ? अरे दुष्ट ! देख मेरी विभूति समूह मुझ में ही प्रवेश करती है।

व्याख्या—इतने दिनों में मा हमारी अपना स्वरूप निजमुख से कह रहीं हैं। कितने ही शास्त्र ग्रन्थों की आलोचना करो, कितनी ही कठोर साधना क्यों न करो, मा स्वयं जबतक अपना परिचय प्रदान

न करें, तबतक किसी की सामर्थ्य नहीं कि,माका, स्वरूप उपलब्धि कर सके। माको पाने के लिये—मा के स्वरूप को समझने के लिये, माको वरन करने होता है, मातृ चरणों में आत्म समर्पण करने होता है। कन्या जैसे वरको वरण करती है—सर्वतोभाव से आत्म समर्पण करती है, ठीक उसी भाव से आत्म समर्पण करने होता है, तभी मा हमारी स्वकीय स्वरूप को उद्‌भासित करती हैं। यही बात नाना प्रकार से नाना स्थानों में पुनः पुनः कही गई है। जिन्होंने प्राणपण प्रयत्न से उसका अनुशीलन किया है वे ही माके स्वरूप उपलब्धि करने में समर्थ हुए हैं, उन्हीं के सामने माके आत्म परिचय प्रदान की सार्थकता है। अच्छा जो हो, माने कहा-अत्र जगति—इस जगत में, एकैवाहं एक मात्र मैं ही (हूँ)। द्वितीया का ममापरा—मुझसे अपर द्वितीय और कौन है? "अत्र जगति" इस अधिकरण बोधक पद का प्रयोग देखकर अनेक व्याख्याकारों ने अनेक रकम अर्थ किये हैं, हम उन सब सूक्ष्म बिचार के कोलाहलों में नहीं जाँयेंगे। सरलतापूर्वक जो समझा जा सके, उसीके जानने की चेष्टा करेंगे। "इस जगत्" रूप से जो कुछ प्रतीयमान हो रहा है, सो सभी एकमात्र मैं—मा हूँ। जबतक जगत की प्रतिति है, तबतक जगत को पृथक कुछ न जानते हुए मैं रूप से ही समझे। वास्तव में मैं की सत्ता व्यतीत जगत की पृथक सत्ता नहीं है। यह जगत मैंका ही स्थूल रूप है। साधक! जगत कहने से मन बुद्धि प्रभृति को भी समझना।

"द्वितीया का ममापरा" इस वाक्य के द्वारा सर्वविध द्वैतका प्रतिषेध किया गया है। श्रुतिका "एकमेवाद्वितीयम्" वाक्य जैसे सजातीय विजातिय एवं स्वगतभेद रहित एक अद्वितीय वस्तुका प्रतिपादक है, माका यह "एकैवांह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा" वाक्य भी ठीक उसी प्रकार है; तब हाँ थोड़ा विशेषत्व है। पूर्वोक्त श्रुति वाक्य के अर्थ की पर्य्यालोचना करने से सर्वभेदविवर्जित एक वस्तु की सत्ता मात्र जानी जाती है, उस वस्तु का स्वरूप क्या है, सो ठीक समझ में नहीं आता। वस्तु का स्वरूप जानने के लिये फिर—

"अस्थूलमनणु" प्रभृति, एवं "सत्यंज्ञानमानन्दं" प्रभृति परोक्ष वाक्यों का, एवं "अहं ब्रह्मास्मि, तत् त्वमसि" प्रभृति प्रत्यक्ष वाक्यों की सहायता लेनी होती है। किन्तु देवी के आत्म परिचय प्रदान-वाक्य में "एका एव अहं" ऐसी प्रत्यक्षता वोधक शब्द के उल्लेख रहने से सत्ता एवं स्वरूप, उभय ही युगपत् (एक साथ) सुप्रकाशित हुए हैं। माको केवल वाक्य मन के आगोचरा कहकर छोड़ देने से निश्चिन्त होकर नहीं रहा जाता। क्योंकि सन्तान तो माको देखना चाहती है, समझना चाहती है, पकड़ना चाहती है? सुतरां "अस्थूल अनणु अह्रस्व" कहने से तो सन्तान की आकांक्षा निवृत्त होगी नहीं? इसीसे हमारी मा ने "अहं" कह कर एकान्त प्रत्यक्ष आत्मस्वरूप को प्रकाश किया है। अति दुराचार व्यक्ति भी इसे जानता है एवं अनुभव करता है। मा कभी भी किसी के सामने आत्मगोपन नहीं करती। वे सभी को प्रत्यक्ष हैं। तभी तो गीता में दुराचार व्यक्ति को भी भगवद् भजन की योग्यता वर्णित हुई है। किन्तु वह कुछ और बात है—

साधक! देवी-सूक्त के प्रारम्भ में "अहं रुद्रेभिः" इत्यादि मन्त्र में अहं की सूचना की गई थी, नाना भावों के भीतर होकर—सत्य प्राण एवं आनन्द-प्रतिष्ठा में होकर उस एकही मैं की नाना प्रकार व्याख्या विश्लेषण चला आरहा है। किन्तु उस अहं का यथार्थ स्वरूप क्या है, सो अबतक ठीक-ठीक नहीं समझा जा सका, इसीसे मा हमारी स्वयं कृपा करके उस अज्ञान को दूर किये दे रहीं हैं, अपना स्वरूप आप ही प्रकटित कर रही हैं (सोई जाने जाहि देहु जनाई, जानत तुमहिं तुम्है ह्वै जाई)। श्रुति ने जिसे "एकम् एव" कहा है, माँने उसे "एका एव" कहा। अद्वितीय अहं वस्तु जो शक्तिस्वरूप है सो "एका" इस स्त्रीलिङ्ग प्रयोग द्वारा स्पष्टरूप से प्रकटित हुआ है। साथ ही साथ "अत्रजगति" पद के द्वारा उनकी शक्तिस्वरूपता ही विशेष रूप से समर्थित हुई है। यह केवल हमारी ही बात नहीं; श्रुति एवं दर्शन शास्त्र ने भी इनको चितिशक्ति कहते हुए स्वीकार किया है।

इस सम्बन्ध में इसके पूर्व अनेक विचार किया जा चुका है। आओ साधक ! अब हम विचार की ओर न जाकर मातृवाक्य को शिरोधार्य्य करलें। जबतक हम " अत्र जगति" इस जगत में हैं, अर्थात् जबतक जगत नामक एक ज्ञान प्रकाश पा रहा है, तबतक माको शक्ति रूप ही कहकर ही मानलें। यह शक्ति वहु नहीं, एका अद्वितीया है। इस जगत में जिधर ही देखोगे, उधर ही देखो—मा हमारी एका अद्वितीया हैं। प्रत्येक जीव में ही वे "अहं" रूपसे नित्य प्रकाशित हैं। यह अहं अद्वितीय है। उसका द्वितीय कोई नहीं। केवल जीव क्यों—प्रत्येक बृक्ष, प्रत्येक पत्र, प्रत्येक बालुकणा की ओर देखो, देखोगे सभी एक अद्वितीय है। स्थूल में आकर भेद ज्ञान में भी आकर माका एकत्व अद्वितीयत्व किञ्चिन्मात्र क्षुन्न नहीं हुआ। जड़क्षेत्र छोड़कर चैतन्यराज्य में प्रवेश करने पर, वहाँ पर तो भेद का लेशमात्र भी अनुभूत नहीं होता; इसीसे क्या स्थूल में क्या शूक्ष्म में क्या कारण में, सर्वत्रही मा हमारी एका अद्वितीया 'अहं स्वरूप से नित्य विराजिता हैं। यही है मा का स्वरूप। "द्वितीया का ममापरा" इस अंश का और भी एक प्रकार अर्थ हो सकता है। "ममापरा द्वितीया का" में (मुझ अहं) से अपर द्वितीय जो कुछ प्रतीत होता है, सो "का" तुच्छा परिहार्य्या अर्थात अकिञ्चित्कर है। अहं व्यतीत जो कुछ प्रतीत होता है, सो सर्वतोभाव से परि-हार्य्य योग्य है। क्योंकि वह कुछ वस्तु ही नहीं; वह तो अहं का व्यव-हार मात्र है। अहं ही एकमात्र वस्तु है। और जो कुछ अहं के साथ मिलकर प्रकाश पाता है, सो वस्तु नहीं—व्यवहार मात्र है। व्यव-हार कभी भी वस्तु नहीं होता, हो नहीं सकता। तुम्हारे आहार विहारादि व्यापार जैसे कोई वस्तु नहीं, तुम्हारे ही एक प्रकार व्यव-हार मात्र है; ठीक तैसे ही यह परिदृश्यमान जीव जगत् अहं के—आत्मा के—मा हमारी के व्यवहार मात्र हैं। इसीसे वेदान्तवादी-गण जगत का पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते, व्यवहारिक सत्ता मात्र कहते हैं। सत्य ही इस जगत की कोई वास्तविक

सत्ता नहीं।

अच्छा जो हो, अब हम देवी—वाक्य के अपरार्द्ध को समझने की चेष्टा करेंगे। देवी ने कहा—"पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यों मद् विभूतयः" ओ दुष्ट पश्य, मद् विभूतयः मयि एव विशन्ति। "विशन्ति" यह क्रिया पद है एवं "ओ" यह है सम्बोधन सूचक अव्यय। "ओरे दुष्ट ? देख—मेरी विभूति सब मुझमें ही प्रवेश करती है ? ।" अस्मिता प्रतिविम्ब स्वरूप होते हुए भी विम्ब के धर्म को आत्मसात् करना चाहता है—अहं न होते हुए भी अहं रूपसे परिचित होना चाहता है, यही है उसका दुष्टभाव; इसीसे माने उसे, ओ दुष्ट कहकर सम्बोधन किया।

मद् विभूति—मेरी विभूति आत्मविभूति। जो कुछ बहुत्व जितनी रकम की शक्ति हैं, सो सभी हैं आत्मविभूति ? विभूति कभी भी आश्रय की सत्ता को छोड़कर पृथक सत्ता विशिष्ट वस्तु नहीं होती। जैसे किसी वाग्मी पुरुष की वक्तृता शक्ति उक्त पुरुष की सत्ता व्यतीत पृथक सत्ता विशिष्ट कोई वस्तु नहीं, वह इसी पुरुष ही को एक प्रकार विभूति वा व्यवहार मात्र है; ठीक तैसे ही यह जगत् यह अनन्त शक्ति, आत्माकी विभूति व्यतीत अन्य कुछ नहीं है, उन्हीं का एक प्रकार व्यवहार मात्र है; एका अद्वितीया अम्बिका मा हमारी जब विभूतिमयी होकर प्रकाश पाती हैं, तब ही उनमें बहुत्व परिलक्षित होता है। वास्तव में किन्तु वे—एकैवांह जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा हैं।

देवी के इस वाक्य द्वारा शुम्भ को यह भी कहा गया कि, "मैं ही तो एकमात्र मैं हूँ" मैं व्यतीत दूसरा और तो कोई 'मैं' नहीं ? अतएव हे शुम्भ ? तू फिर एक पृथक मैं कैसे हुआ ?"

जो भो हो, शुम्भ जब ब्रह्माणी प्रभृति शक्ति वर्ग का विकाश देखकर अम्बिका के बहुत्व में संशयापन्न हुआ है, तो मा हमारी भी कृपापूर्वक स्वकीय विभूति समूह को संहरण करती हुई शुम्भ को बोलीं—देख मेरी विभूति मुझ में ही प्रवेश करतो है ?

ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणी प्रमुखालयम् ।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका ॥४॥

अनुवाद । बाद में वह ब्रह्माणी प्रमुख शक्ति समूह देवी के शरीर में लय को प्राप्त हुईं । तब अम्बिका एकाकी रह गईं ।

व्याख्या । मा की इच्छामात्र से अष्टशक्ति रूप विभूतियों देवी के शरीर में लीन हो गया । चितिशक्ति से पैदा हुई नाना शक्ति स्वकीय कारण अर्थात् चैतन्य में ही विलीन हो गईं । व्यवहार निवृत्त हुआ । अब मा हमारी एका अद्वितीया सर्वभेदरहिता, पूर्णा आनन्दस्वरूपा स्वस्था हैं । अभी भी किन्तु शुम्भ है, देवी वाक्य है ? पाठक ! इसमें द्वैतभाव की आशन्का मत करना, माको भाषा के अन्दर लाने से, समझने वा समझाने की चेष्टा करने ही से, वे द्वैत हो पड़ती हैं । वास्तव में किन्तु द्वैत कहने को कुछ नहीं है । कैसे एक अखण्ड आनन्दस्वरूप वस्तु स्वकीय एकत्व को सम्यक् अक्षुन्न रखते हुए बहुरूपसे—विश्व रूपसे प्रकटित होती है, सो इसके पूर्व विशेष रूपसे कहा जा चुका है । आधुनिक मायावादियों के साथ यहाँ पर हम एकमत नहीं हो सकते, वे इस मद्‌विभूति अर्थात् आत्म-विभूति स्वरूप इस बहुत्व को "भ्रान्ति" वा मिथ्या कहकर प्रचार करते हैं, और हम उसे आत्मविलास आत्ममहत्व कहकर समझते हैं । जबतक द्वैत प्रतीति है, सहस्रवार भ्रान्ति कहने पर भी वह उड़ नहीं जाती; और जब अद्वय स्वरूप उद्भासित होता है तब मिथ्या वा भ्रान्ति कहने के लिये कुछ भी नहीं रहता । सुतरां जबतक साधना नामक, उपलब्धि नामक, महावाक्यार्थ—विचार नामक कुछ रहता है, जबतक समझने वा समझाने को कुछ है, तबतक उसे भ्रान्ति न कह-कर लीलाविलास कहकर जानने ही से सर्व सामञ्जस्य हो जाता है । उपनिषत् एवं वेदान्त सूत्र में भी इस वहुत्व को लीलाकैवल्य रूपसे समझाने को चेष्टा की गई है । उन्होंने किन्तु मिथ्या किंवा भ्रान्ति, ऐसा शब्द कहीं भी प्रयोग नहीं किया है । निर्गुण वस्तु में लीला विलास कैसे रहता है, ऐसी आशंका ऋषियों के प्राण में कभी भी

नहीं उठती थी। उनमें क्या नहीं है एवं क्या नहीं रह सकता (होसकता), सो कोन कहे ?

साधक! तुम देवी-माहात्म्य की इस अपूर्व वाणी को याद रखना – साधना का मार्ग सुगम होगा। इस जगत् को, इस बहुत्व को "मद्‌विभूति" कहकर समझना। मेरी ही इच्छा बहुरूप से अभिव्यक्त है; इसीसे मैं बहुत्वदर्शी हूँ। और जब मैं एकत्वाभिलाषी होऊँगा, तो फिर बहु कहने को कुछ नहीं रहेगा। सब भेद मुझ (मैं) में ही विलीन हो जायगा। यह ही सत्य ज्ञान है।

देव्युवाच।

अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता।
तत् संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव ॥५॥

अनुवाद। देवी बोलीं—मैं विभूति विशिष्ट होकर जो बहुरूप से अवस्थान कर रही थी, उसे संहरण कर लिया। अब मैं एकाही अवस्थित हूँ। (हे शुम्भ! तुम) इस युद्ध में स्थिर होओ।

व्याख्या—देवी जब एका अद्वितीया हैं, तो भी किन्तु उनका वाक्य असम्भव नहीं है, वह वाक्य कैसा है उसे तत्वदर्शीगण समझ सकेंगे। यद्यपि मा हमारी "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्, तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्" यद्यपि मा हमारी "महतः परं ध्रुवम्" तथापि उनका वाक्य प्रयोग एवं शुम्भ के साथ समर एकान्त असम्भव नहीं है। अरे, जब अति स्वच्छ महत्‌तत्व में आत्मबोध को उपसंहृय करते हुए चितिशक्तिरूपिणी अम्बिका की ओर लक्ष्य किया जाता है, उस समय उनमें से जो प्रज्ञा का आलोक आकर महत्तत्व प्रतिविम्बित चिदाभास में पड़ता है, वही तो मातृवाक्य वा मातृसमराभिनय है। साधक, एक एकबार के प्रज्ञालोक के पड़ने से अनेक धाँधाँ दूर हो जाता है, अनेक असुर निपातित होते हैं, अनेक अभूत-पूर्व तथ्यों का आविष्कार होता है।

अच्छा जोहो,देवी ने शुम्भ से कहा—मैं विभूति विस्तार पूर्वक जो बहुरूप से व्राजित थी, अब मैंने उसका संहरण किया। देख, अब मैं एका हूँ ; किन्तु सावधान, तू इस युद्ध में स्थिर हो। मांके इस वाक्य का तात्पर्य्य अति स्फुट है। मा ने कहा - सन्तान, तू मेरे वहुत्व दर्शन की प्रयासी थी ; इसीसे मैं तेरी ही इच्छा से विभूतिमयी होकर बहुरूप से विराज कर रही थी। इतने दिनों तक तो तुमने मुझे चाहा नहीं, मेरी विभूति चाही थी, अपने कल्पित मैत्व को सजाना चाहा था ; इसीसे मैं भी "वहुभिरूपैः आस्थिता" थी तुम्हारी ही अभिलाषा पूरी करने के लिये मुझे वहुत्व विभूति विस्तार करना पड़ा था ; किन्तु आज इतने दिनों के वाद तुम्हारी सव साध मिटी है, वहुत्व सम्भोग की वासना विदूरित हुई है, आज तुम ईश्वरत्व पर्य्यन्त को तृणीकृत करके, केवल मुझे ही चाहते हो। अब और तुम मेरी विभूति नहीं चाहते, केवल मुझे ही चाहते हो। इतना प्रेम है तुम्हारे प्राणों में ? धन्य हो तुम, केवल मेरे ही लिये मुझे चाहते हो ? आओ - देखो, यह मैं एका अद्वितीया स्वरूप से प्रकटित हो गई, मेरा वहुत्व संहृत हो गया किन्तु तुम स्थिर होकर युद्ध करो तो देखूँ ?

मा के इस "स्थिर होओ" वाक्य में कुछ रहस्य है। यहाँ पर आकर—इस एकत्व के समीपस्थ होकर स्थिर रहना बड़ा दुरूह काम है। समस्त प्रकार की विशिष्टतायें यहाँ पर विशीर्ण हो पड़ती हैं। यद्यपि सर्वत्व—वहुत्व विदूरित हुआ है, तथापि अस्मितारूप विशिष्टता तो मौजूद है, वह तो अभी भी विलय को प्राप्त नहीं हुई है। आत्माके सन्निहित होने से वह विशिष्टता भी विलुप्त हो जाती है ; सुतरां यहाँ पर स्थिर रहना सहज साध्य नहीं है इसीसे मा आदर करके कहती हैं—"स्थिरोभव।" अस्मिता जबतक स्थिर रह सकेगी, स्वकीय विशिष्टता को जबतक सुरक्षित रख सकेगी, तबतक ही मा का आनन्द-विलास इस साधन-समर का अभिनय चलेगा ; सुतरां शुम्भ का इस समय स्थिर होना ही एकान्त आवश्यक है ; किन्तु सो और कबतक ?

ऋषिरुवाच ।

ततः प्रववृते युद्धं देव्याः शुम्भस्य चोभयोः ।

पश्यतां सर्व्वदेवानामसुराणाञ्च दारुणम् ॥६॥

शरवर्षैः शितैः शस्त्रैस्तथास्त्रैश्चैव दारुणैः ।

तयोर्युद्धमभूद्भ यः सर्व्वलोक भयङ्करम् ॥७॥

अनुवाद—बादमें देवासुरगणों के सन्मुख देवी एवं शुम्भ इन दोनों का दारुण युद्ध आरम्भ हुआ। पुनः पुनः दारुण शरवर्षण एवं शाणित अस्त्र शस्त्र प्रयोगरूप सर्व्वलोक-भयङ्कर संग्राम हुआ था।

व्याख्या। देवी एवं शुम्भका युद्ध दारुण और सर्वलोक भयङ्कर ही है ठीक? एक ओर अस्मिता स्वकीय विशिष्टता अक्षुन्न रखने का प्रयासी है, तो दूसरी ओर आत्मा का स्वप्रकाशत्व उस विशिष्टता को विलय करने के लिये उद्यत है। एक प्रतिविम्व तो, अपर (दूसरा) विम्व, इन दोनो का युद्ध दारूण ही होता है। जबतक प्रतिविम्व अपने को प्रतिविम्व मानकर नहीं समझ लेता, तबतक ही विम्वके साथ प्रतियोगिता करता हुआ स्वयं पृथक् सत्ताविशिष्ट वस्तु रूपसे प्रतिपन्न होने की चेष्टा करता है। सुतरां यह भयङ्कर युद्ध अनिवार्य है।

देवी एवं शुम्भ का युद्ध सर्वलोक भयङ्कर है। सर्वरूप से जो कुछ आलोकित वा प्रकाशित होता है,वही है सर्वलोक। यथार्थ में यह युद्ध सर्वलोकों के पक्ष में भीषण ही होता हैं; कारण अस्मिता की सत्ता ही से सर्वलोकों की सत्ता है। अस्मिता के न रहने से तो सर्व नामक कुछ रहता नहीं। यद्यपि इसके पूर्व में यावतीय असुर भावों का निधन वर्णित हुआ है, तथापि जानने होगा—यदि अस्मिता अक्षुन्न रहेगी तो फिर उन विनष्ट असुर भावों का पुनः आविर्भाव होने में विलम्ब नहीं होगा; क्योंकि वे अस्मिता ही के विभिन्न स्फुरण व्यतीत और कुछ नहीं हैं। यहाँ तक के असुरभाव निधन से यही स्थिरीकृत हुआ है कि उनकी विशिष्ट (अलग) कोई सत्ता नहीं है। विभिन्न स्फुरणां

का समूह विनष्ट होकर अखण्ड अस्मितारूपमें मिल गया है। किन्तु अस्मिता के रहने से, फिर स्फुरण उठने की खूब ही सम्भावना है। पातञ्जल दर्शन में ठीक इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहते हैं— "जो प्रकृति में लीन हो जाते हैं, उनका पुनः आविर्भाव होता है।" प्रकृति पर्य्यन्त का विलय न कर सकने तक यथार्थ आत्मस्वरूप प्रकटित नहीं होता, जीव मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। अस्मिता विलय एवं प्रकृति लय एकही बात है। महत्तत्वकी अति सूक्ष्मतम वीजावस्था ही सांख्यदर्शन कथित प्रकृति है। सर्वभाव सूक्ष्मरूप से प्रकृति ही में अवस्थान करते हैं। हम अस्मिता का जो स्वरूप यहाँ पर देख रहे हैं,' उसे गुणत्रय की साम्यावस्थारूप प्रकृति कहने में भी कोई हानि नहीं। सांख्य की भाषा में शुम्भ के साथ देवी के इस युद्ध को पुरुष के सन्मुख भाग से प्रकृती का पलायनोद्यम (भागने की चेष्टा) कहा जा सकता है। वेदान्त की भाषामें इसी को माया की अध्यास निवृत्ति कहते हैं। भक्तों की भाषामें इसे भक्त एवं भगवान का एकान्त मिलन कहते हैं। जो भी हो यह अति दारुण (भीषण) एवं सर्वलोकों के पक्ष में (नानात्व के लिये) एकान्त ही भयङ्कर है यह बात खूब ही सत्य है।

दिव्यान्यस्त्राणि शतशो मुमुचे यान्यथाम्बिका।
वभञ्ज तानि दैत्येन्द्रस्तत् प्रतीघातकर्त्तृभिः ॥८॥
मुक्तानि तेन चास्त्राणि दिव्यानि परमेश्वरी।
वभञ्ज लीलयैवाग्र हुन्कारोच्चारणादिभिः ॥९॥

अनुवाद। वाद में अम्बिका ने जो शत शत अस्त्र सब निक्षेप किये, दैत्यराज शुम्भ ने प्रतिघातकारी स्वकीय अस्त्रों के प्रयोग से उनको काट दिया। और असुराधिपति ने जो सब दिव्य अस्त्र निक्षेप किये, परमेश्वरी ने उन सब अस्त्रों को प्रचण्ड हुन्कार प्रभृति के

द्वारा अनायास में काट डाला।

व्याख्या। अम्बिका के सब अस्त्र दिव्य—स्वप्रकाश। आत्मसत्ता जितनी ही प्रकाशित होती जाती है, अस्मिता अपनी विलीन की आशन्का से उतना ही अस्थिर हो जाता है; ऐसी अवस्था में वह नाना उपायों से नानाभावों से स्वकीय विशिष्टता को अक्षुन्न रखने का प्रयास करता है, अर्थात् आत्मा के स्वप्रकाशत्वको नाना उपायों से आवृत रखने की चेष्टा करता है; सुतरां देवी का अस्त्र प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। अरे, जीव क्या सहसा ब्रह्मत्व स्वीकार करना चाहता है? वह प्राणपण से अपनी विशिष्टता, अपनी भेदप्रतीति की रक्षा करना चाहता है। अस्मिता जब आत्मस्वरूप की ओर लक्ष्य करता है, तब तो क्षणभर के लिये आत्मा के स्वयंप्रकाशभाव प्रत्यक्ष करके अपने विशिष्ट अस्तित्व को खो डालता है। और जब फिर अपनी विशिष्ट सत्ता के प्रति लक्ष्य करता है, तब मानो आत्मा का यह स्वप्रकाशभाव अभिभूत हो पड़ता है। यही देवी और शुम्भ का युद्ध रहस्य है। परवर्त्ती कईएक मन्त्रों में भी यह नाना भावीय अस्त्र प्रयोगरूप से वर्णित होगा; सुतरां यह बातें विशेषभाव से स्मरण रखने से, साधकगणों के पक्षमें देवी और शुम्भ के समररहस्य को समझ लेने में कोई कष्ट नहीं होगा।

मन्त्रमें उक्त है—देवीने हुन्कार-उच्चारण से शुम्भ-निक्षिप्त सब अस्त्रों को व्यर्थ कर दिया था। हुन्कार—प्रलयात्मक बीज। यह पहिले भी कहा जा चुका है। यद्यपि इस परमात्म क्षेत्र में प्रलय शक्ति का कोई तरह का विशिष्ट प्रकाश नहीं है, तथापि वह स्वभावतः ही भेदज्ञान के पक्षमें प्रलयात्मक है; कारण, स्वप्रकाश आत्म सत्ता के उद्भासित होने से, अस्मिता का प्रलय अवश्यम्भावी है। इसीसे, मन्त्र में प्रलय सूचक हुन्कारदि के उच्चारण से देवी कर्त्तृक शुम्भ के अस्त्रों की व्यर्थ होने की बात कही गई है। सीधी बात यह है कि, प्रतिविम्ब जब विम्ब के प्रति लक्ष्य करता है, तब अपनी सत्ता खो बैठता है, और अपनी विशिष्ट सत्ता के प्रति लक्ष्य करने

से, विम्वस्वरूप उसके सामने आवृत रहता है। यही ही परस्पर के अस्त्र प्रयोग का रहस्य है।

———

ततः शरशतै र्देवी माच्छादयत सोऽसुरः ।
सापि तत् कुपिता देवी धनुश्चिच्छेद चेषुभिः ॥१०॥
छिन्ने धनुषि दैत्येन्द्रस्तथा शक्तिमथाददे ।
चिच्छेद देवी चक्रेण तामप्यस्य करस्थिताम् ॥११॥
ततः खड्गमुपादाय शतचन्द्रञ्च भानुमत् ।
अभ्यधावत तां देवीं दैत्यानामधिपेश्वरः ॥१२॥
तस्यापतत एवाशु खडगं चिच्छेद चण्डिका
धनुर्मुक्तैः शितैर्वाणैश्चर्म्मचार्ककरामलम् ॥१३॥

अनुवाद। वाद में उस असुर ने शत-शत बाणों के प्रयोग से देवी को आच्छन्न करडाला। देवी ने भी कुपित होकर बाणों के द्वारा असुर के धनुष को छेदन कर दिया। धनुः छिन्न होने पर दैत्यराजने शक्ति अस्त्र ग्रहण किया, किन्तु देवी ने असुर के करस्थित उस शक्ति अस्त्र को भी चक्र प्रयोग से छेदन कर दिया। तब असुराधिपति खड्ग और उज्जवल शतचन्द्र नामक चर्म (ढाल) ग्रहण करके देवी के प्रति अभिधावित हुआ। उस (खड्ग चर्मधारी शुम्भ) को आते न आते ही चण्डिका देवी ने धनु से मुक्त शाणित शर प्रयोग से अति शीघ्र वह खड्ग एवं सूर्य किरणवत् निर्म्मल चर्म को छिन्न कर दिया।

व्याख्या। इन चार मन्त्रोंमें भी देवी एवं महासुर शुम्भ में परस्पर के प्रति विभिन्न अस्त्र प्रयोगों का वर्णन हुआ है। पहिले शुम्भ ने शत शत बाण प्रयोग से देवी को आच्छन्न किया और देवीने कुपित हो कर शुम्भ के धनुः का छेदन किया। अस्मिता प्रणवधनु पर स्वकीय विशिष्ट आत्मबोधरूपशर संयुक्त करके ब्रह्म लक्ष्य मे निक्षेप कर रहा

था। यद्यपि यह पूर्व में सर्व श्रेष्ठ साधना रूप से व्याख्यात हुआ है, तथापि यहाँ पर यही अब असुर के अस्त्र प्रयोग रूप से वर्णित हुआ है। इस प्रकार प्रणवधनु से आत्मशर निक्षेप कार्य में द्वैत प्रतीति अवस्थित है, सुतरां प्रणवादि मन्त्र का उच्चारण एवं आत्मशर निक्षेप, यह भी असुर ही का अत्याचार मात्र है। आत्मा मा हमारी इतना भी भेद ज्ञान नहीं रखने देगी। तभी तो स्वकीय स्वप्रकाश शक्ति रूप शर के प्रयोग से क्षणभर में ही शुम्भ के प्रणवधनुः को छिन्न कर दिया। शुम्भ का उद्यम व्यर्थ हुआ। ठीक ऐसे ही मुमुक्षु साधक जब विशिष्ट साधना की सहायता से स्वकीय पृथकत्व रक्षा करने का प्रयास करता है, तब मा हमारी उन विशिष्टता को विनष्ट कर देती हैं।

इसके बाद में शुम्भ ने शक्ति अस्त्र ग्रहण किया।" मैं ही हूं आत्मा ऐसी बोध शक्ति को दृढ़प्रयत्न से पकड़ रखना ही शुम्भ का शक्ति ग्रहण है। किन्तु हाय देवी ने उसे भी छिन्न कर दिया। यथार्थ आत्म प्रकाश ठीक ऐसा ही सर्वतो भेदी है कि, वहां पर विन्दु मात्र भी भेद ज्ञान नहीं रह सकता। जो हो, देवी के सुदर्शन वा दिव्य दृष्टि रूप चक्र अस्त्र के प्रयोग से अर्थात् सर्वतोभेदी प्रकाश सत्ता के प्रभाव से अस्मिता का जो बिशिष्ट आत्म वोध था, सो सम्यक् रूप से अभिभूत हो पड़ा। ऐसी अवस्था में शुम्भ हतास होकर खड्ग एवं चर्म को ग्रहण पूर्वक देवी के अभिमुखी होकर धावित हुआ, देवी ने धनुर्म्मुक्त शर प्रयोग से उसे भी छिन्न कर दिया। खड्ग भेदज्ञान; चर्म आवरण। यह पूर्व भी कहा जा चुका है। एकान्त रूपसे ही जब अस्मिता आत्म प्रकाश के सामने स्वकीय विशिष्टता को लेकर अवस्थान करने में समर्थ नहीं होता है, तब फिर अगत्या भेद ज्ञान और आवरण का आश्रय ग्रहण करता है। एक ओर से तो आत्माभिमुखी लक्ष्य को परित्याग करता है; और दूसरी ओर से स्वकीय पृथकत्व को पकड़े रखने की चेष्टा करता है, यह ही शुम्भ के चर्म और खड्ग-प्रयोग का रहस्य है। अस्मिता का भाव यही है कि, "आत्मा हैं रहो, उन्हीं के प्रकाश से

में प्रकाशित हूँ, इसे भी स्वीकार करता हूं; तथापि मेरी जो कुछ विशिष्ट सत्ता है, उसे क्यों परित्याग करने जाऊँ ? मैं ठीक हूं। दूर से ही अम्बिका का सर्व मनोहर रूप देखता हुआ आनन्द में मुग्ध रहूँगा, उनके समीपस्थ होने की -उनमें आत्मसत्ता मिला देने का क्या प्रयोजन है?" ठीक ऐसे ही अनेक वैष्णव साधक भी यहाँ पर आकर प्रति निवृत्त हो बैठते हैं। वे किसी भी प्रकार भगवान के साथ मिल जाना नहीं चाहते। सानिध्य मात्र लाभ करके भगवत् रसास्वादन को ही वे परम पुरुषार्थ समझते हैं। वास्तव में तो किन्तु रसास्वाद भी मुक्ति मार्ग का विघ्न है। शास्त्रों में आत्मज्ञान प्राप्ती के मार्ग में जो सब अन्तराय उल्लिखित हैं, उन्हीं में रसास्वाद भी एक अन्यतम विघ्न है। यद्यपि निशुम्भ बध में भी यह कहा गया है, तथापि यहाँ पर जो पुनरुक्ति दोष नहीं हुआ इसका कहना ही क्या है। क्यों कि शुम्भ ओर निशुम्भ एक ही विशिष्ट बोध के द्विविध प्रकाश मात्र हैं। अच्छा जो भी हो,विशिष्ट भाव से भगवत् रस के आस्वादन को परम पुरुषार्थ मान बैठने से, सहसा अद्वयतत्व उद्‌भासित नहीं होता। और इस अद्वैतज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो सकने से भी जीव मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। जो कहते हैं मुक्ति वाच्छनीय नहीं है, भगवत् प्रेम रस का आस्वादन ही एकान्त वाच्छनीय है, सो नहीं जानते कि, जबतक मुक्त नहीं हुआ जाता है, तबतक यथार्थ प्रेम हो ही नहीं सकता। अनन्य-भक्ति ही यथार्थ प्रेम हैं। किन्तु यह सब और बाते हैं। जो प्रथम ही से आत्म समर्पण योग का अनुशीलन करते है, उन को यहाँ पर आकर इस चिदाभास रूप में इस अस्मिता रूप में अव स्थान करके, स्वकीय विशिष्टता अक्षुन्न रखने के लिये दृढ़ प्रयत्न करने पर भी स्नेह विह्वला मा हमारी उनके उन सब प्रयत्नो को व्यर्थ कर देती है। स्नेह की सन्तान को जबतक सम्यक्‌रूपसे आत्मसात् नहीं कर लेती, तबतक किसी भी प्रकार उसे नहीं छोड़ती। शुम्भ के पुनः पुनः अस्त्रप्रयोग व्यर्थ होने का यही रहस्य है।

शुम्भ ने जो शतचन्द्र नामक चर्म (ढाल) ग्रहण किया था, मन्त्र में

उसे सूर्य किरण की न्याईं निर्मल कहा गया है वास्तव में इस अस्मिता क्षेत्रका आत्मस्वरूप-आवरक भेदज्ञान अतिशय उज्ज्वल है। पूर्व में महिषासुर प्रभृति ने भी इसी प्रकार खड्ग चर्म ग्रहण किया था; शुम्भ का खड्ग चर्म तदपेक्षा भी अतिशय निर्मल है। क्योंकि,अस्मिता के साथ आत्मा का जो भेद है, वह अति सामान्य, भेद का आभास मात्र है; साधारणतः वह प्राय; अभेदरूप से हीं प्रतिभात होने लगता है। इसीसे, इसे उज्ज्वल और निर्मल कहा जाता है। जैसे किसी कांचाधार के मध्य स्थित अग्निशिखा के उत्ताप और आलोक से स्वच्छ कांचाधार भी अतिशय (उज्ज्वल) उत्तप्त और आलोकित हो जाता है, एवं दूर से यह कांचाधार आवरण ही अग्निरूप से प्रतिपन्न होने लगता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा के एकान्त सानिध्यवशतः अतिशय स्वच्छ अस्मिता भी बहु परिमाण में आत्मधर्मी हो जाती है, एवं स्वयं ही आत्मारूप से प्रतिपन्न होने का प्रयास करता है। इसी भाव को समझाने के लिये मंत्र में "चर्म्म चार्ककरामलम्" कहा गया है। साधक, कुछ धीर भावसे स्वकीय अनुभूति की ओर लक्ष्य करने ही से इस रहस्य को हृदयङ्गम् करने में समर्थ होओगे।

हताश्वः स तदा दैत्यश्छिन्नधन्वा विसारथिः।
जग्राह मुद्गरं घोरमम्बिकानिधनोद्यतः ॥१४॥
चिच्छेदापततस्तस्य मुद्गरं निशितैः शरैः।
तथापि सोऽभ्यधावत्तां मुष्टिमुद्यम्य वेगवान् ॥१५॥

अनुवाद। अश्वहीन छिन्न धनु एवं सारथी विहीन वह असुर अम्बिका निधन को उद्यत होकर मुद्गर धारण किया। वह मुद्गर आते न आते ही देवी ने शाणित शराघात से छिन्न कर दिया। तथापि वह (शुम्भ) मुष्टि उद्यमन पूर्वक देवी के अभिमुख धावित हुआ।

व्याख्या। इन्द्रिय अश्व, प्रणव धनुः एवं बुद्धि सारथी ये सभी

विनष्ट हो चुके हैं। सभी प्रयोग व्यर्थ हो गये हैं—इन्द्रिय समूह अस्मिता के विशेष विशेष व्यूह होते हुए भी अब अस्मिता के सहायता कल्प से नहीं उपस्थित होते। प्रणवादि मन्त्र का उच्चारण जो था;सो भी निरुद्ध हो गया है। इसके बाद भी सारथी—निश्चयात्मिका वृत्तिरूपा बुद्धि जो है,उसका भी अब प्रकाश नहीं। विषय रहने से तभी तो बुद्धि का प्रकाश समझा जाता है। विषय नामक कुछ भी नहीं है,सुतरां बुद्धि भी विलुप्त है। अब असुर ने नितान्त निरुपाय होकर। घोर मुगदर उठाया, अर्थात् अस्मिता मूढ़भाव द्वारा आच्छन्न हो पड़ा। "मैं किसी भी प्रकार आत्माभिमुखी नहीं होऊंगा, आत्मा के सामने किसी भी प्रकार आत्मसमर्पण नहीं करूंगा, जैसे हूँ तैसे ही रहूँगा, तथापि निज-सत्ता को कभी भी आत्मसत्ता में विलीन नहीं होने दूँगा।" अस्मिता का ऐसा जो दृढ़ प्रत्यय है, उसी को लक्ष्य करके ही मन्त्रमें शुम्भका मुगदर ग्रहण कहागया है। "इस प्रकार मूढ़ अवस्था में अवस्थान कर सकने ही से स्वकीय विशिष्ट सत्ता अक्षुन्न बनी रहेगी; पक्षान्तर में, आत्मस्वरूप भी आवृत रहेगा।" अस्मिताके ऐसे भाव को लक्ष्य करके ही मन्त्रमें "अम्बिकानिधनोद्यतः" पद प्रयुक्त हुआ है। आत्मस्वरूप को आवृत रखने का जो उद्यम है उसी को अम्बिका—निधन का उद्यम कहा गया है।

अस्मिता के इस प्रकार अपने को अज्ञानावृत रखना चाहने पर भी, मां किन्तु उसे छोड़ नहीं देगी; उन्होंने निश्चित शर प्रयोग से अर्थात् यावतीय द्वैत प्रतीति विलयकारक आत्मस्वरूप प्रकाश से शुम्भ का जो घोर मुगदर है—अस्मिता का जो मूढ़ भाव है विनष्ट कर दिया। माँ हमारी इस समय अतिकोपना-चण्डिका हैं—उनके क्रोधका उदय हुआ है;सुतरां मैंत्व को अस्मिता को किसी भी प्रकार अब पृथक् भाव से नहीं रहने देगी। अस्मिता को अपनी विशिष्टता रक्षा करने के हजार चेष्टा करने पर भी चण्डिका माँ हमारी उसे व्यर्थ कर ही देंगी, कारण, एक दिन यह 'मैं ही' मातृचरणों में आत्मसमर्पण करने को उद्यत हुआ था। जबतक उस समर्पण की परिसमाप्ति नहीं होगी, तबतक अब

वे किसी भी प्रकार परित्याग नहीं करेंगी, साधक ! विपद में पड़के ही हो, अशक्त होकर हो हो, और विना जाने ही हो, एक दिन जब "मामेकं शरणं" लिये हो, आत्मा के—मा हमारी के शरणागत हुये हो, तो फिर अब किसी भी प्रकार रक्षा नहीं (नहीं बच सकते)। जो यथार्थ में मैं हैं, वे प्रकाशित होंगी ही। तुम्हारे कल्पित मैंत्व को जिस किसी भी प्रकार से विनष्ट करेंगी ही ? यह ही चण्डीतत्व का विशेष रहस्य है। चण्डिका देवी की यही विशेष कृपा है। तभी तो देखो, अस्मिता का मूढ़ अवस्था रूप शुम्भका मुग्दर प्रयोग भी, चण्डिका के स्वप्रकाश-शक्ति प्रभाव से व्यर्थ हो गया।

इतनी विफलताओं में भी मैंत्व हताश वा निष्क्रिय नहीं हुआ। मन्त्र में उक्त हुआ है—मुग्दर-प्रयोग व्यर्थ होता देखकर शुम्भ तब मुष्टि उद्यमन पूर्वक देवी के अभिमुख धावित हुआ। मुष्टि - विक्षेप शक्ति। अस्मिता विक्षेप-शक्ति के प्रभाव से आत्मसत्ता को दूर हटा देना चाहता है। आत्मसत्ता दूरीकृत होने ही से अस्मिता स्वप्रतिष्ठ हो सकेगा। साधक ! यहां पर जो विक्षेप की बात कही गई है, सो चित्तक्षेत्रका विक्षेप नहीं है। यह है अस्मिता क्षेत्र का विक्षेप—अति सूक्ष्म। चित्त-विक्षेप रूप असुर चिक्षुर के निधन का विवरण तो महिषासुर वध प्रसंग में ही व्याख्यात हो चुका है, यहाँ पर वैषयिक स्पन्दन रूप विक्षेप की बात ही नहीं है; सांख्यों की भाषा में इस अस्मिता के विक्षेपको, प्रकृति के परिणाम धर्म की सूक्ष्मतम बीज अवस्था कहा जा सकता है; वेदान्त की भाषामें इसे, अज्ञान का—माया का सूक्ष्मतम अध्यासधर्म का बीज कहा जाता है। सीधी बात यह है कि, किसी भी प्रकार विन्दुमात्र भेदज्ञान का सूक्ष्म तम बीज रहने से, समय पर वही फिर स्थूल में घनीभूत होकर भेद-ज्ञान रूप से प्रकाश पा सकता है, इसी से मा हमारी उस सूक्ष्मतम बीज पर्य्यन्त को नहीं रक्खेंगी। इसीसे उन्होंने स्वयं ही शुम्भ को मुष्टि उद्यत करके अपनी ओर अभिधावित होने के लिये प्रेरणा की, अर्थात् अस्मिता की अन्तर्निहित सूक्ष्मतम विक्षेप-शक्ति को उद्बुद्ध करा

दिया। अरे, मा हमारी के स्वप्रकाश-स्वरूप के सामने कुछ भी फिर छिपा हुआ नहीं रह सकता ?

स मुष्टिं पातयामास हृदये दैत्यपुङ्गवः ।
देव्यास्तश्चापि सा देवी तलेनोरस्यताड़यत् ॥१६॥
तलप्रहाराभिहतो निपपात महीतले ।
स दैत्यराजः सहसा पुनरेव तथोत्थितः ॥१७॥

अनुवाद। दैत्यपुङ्गव शुम्भने देवीके हृदय देशमें वह मुष्टि निपातित की। देवी ने भी उसके वक्षःस्थल में करतल द्वारा आघात (चपेटा घात) किया। करतल प्रहार से अभिहत होकर दैत्यराज भूतल पर निपतित हुआ एवं सहसा पुनः उत्थित हुआ।

व्याख्या। आत्माभिमुखी तीव्र आकर्षण की उपेक्षा करके, सूक्ष्मतम विक्षेप शक्ति के आश्रय से अनात्मबोधरूपी अस्मिता की स्वकीय सत्ता रक्षा करने की चेष्टा करना ही देवी के हृदय में असुर का मुष्टि प्रहार है। आत्मा को दूरस्थ करना ही अस्मिता का उद्देश्य है; किन्तु कार्यतः सो नहीं होता। अस्मिता जितना आत्माको दूरस्थ एवं उत्पीड़ित करने का प्रयास पाता है, आत्मा उतनी ही सन्निहित होती जाती हैं। शुम्भने देवी के हृदय में मुष्टि प्रहार किया, देवी ने भी शुम्भ के वक्षस्थल में करतल प्रहार किया। उभय ने उभय का हृदय स्थान आहत किया। हृदय कहने से यहाँ केन्द्र स्थान समझने होगा। अनन्त शक्ति का जो केन्द्र है, वही है मा का हृदय देश, एवं व्यापक अस्मिता जिस सूक्ष्म केन्द्र से प्रकाश पाता है, वही शुम्भ का वक्षःस्थल वा हृदय है। ये दोनों हृदय जबतक एक हृदय में परिणत नहीं हो जाते तबतक किसी भी प्रकार भेद प्रतीति दूरीभूत नहीं होती। और हृदयका मिलन न होने तक केवल अङ्गस्पर्शसे विरह वेदना दूरीभूत नहीं होती। वेदान्त दर्शन में हृदय शब्दका अर्थ आत्मा ही

किया है। (हृदि अयम् इति हृदयम्) प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मा हृदय देश ही में विशेष भाव से प्रकटित है, इसीसे आत्माका अन्य नाम है हृदय। सुतरां हृदय का मिलन कहने से, आत्ममिलन ही समझ में आता है। जबतक आत्माके आत्मसातकृत नहीं हुआ जाता, तबतक हृदय मिलन नहीं होता; और हृदय मिलन बिना हुये अनादि जन्मों की विरह ज्वाला बिदूरित नहीं होती।

हे मा ? कितने दिनों से—किसी स्मरणातीत काल से तुम्हारे ही हृदय में अपना हृदय मिला देने के लिये दौड़ता आ रहा हूं, एकबार केवल मा बोलकर तुम्हारे हृदय देशमें प्रवेश करूँगा इसीलिये, कितने लक्षलक्ष जन्म मृत्यु, कितनी रोग शोक की यन्त्रणायें, सह्य करता आ रहा हूं, किन्तु नहीं सका। किसी भी प्रकार तुममें आत्मभोला नहीं हो सका, हे मेरी चिर-विश्राम, हे मेरी चिरशान्ति, किसी भी तरह तुममें नहीं मिल जा सका केवल विरह का दावानल जलाता हुआ इस संसार संतप्त हृदय को और भी विदग्ध कर रहा हूं। तुम्हारे वक्षः में वक्षो मिलन करने में क्या शान्ति है, सो अनुभव करने की योग्यता पर्य्यन्त प्राप्त नहीं हुई ? हे मा, इसबार तो शेष करो। अब तो बहुत दिनों की संचित मिलन वासना को पूर्ण करो; अब तो इतने दिनों बाद आओ, तुम हम एक हो जायं। यथार्थ में मा, तुम्हारी विरह अब हम भोग करना नहीं चाहते। तुम्हारे विरह की क्या ही मर्म भेदी पीड़ा है, सो अब जानने को बाकी नहीं मा ? अब शुम्भ की तरह हमारे भी हृदय देश में करतल प्रहार करो। हमारे हृदय की जो कुछ मलिनता है, सो दूर हो जावे, तुम्हारे पवित्र अङ्ग स्पर्श से यह हृदय भी पुण्य पूत होवे। आज, शुम्भ धन्य है, धन्य है शुम्भका समराभिनय। आज तुम ने मा कर-प्रहारच्छल से शुम्भ का हृदय स्पर्श किया है। शुम्भ अब विशिष्ट भाव से प्रकाशित नहीं होगा। तुम्हारे पवित्र स्पर्श से वह भी पवित्र होकर तुममें मिल जावेगा। (अहा ?) शुम्भ यथार्थ में तुम्हारे ही लिये तुम को चाहता है ? सर्व्वस्व जा चुका है, तथापि तुम्हीं को चाहता है, इसीसे मा शुम्भ के प्रति तुम्हारी यह विशिष्ट कृपा है।

सुनो, अस्मिता वास्तव में आत्मा ही को चाहता है, आत्मा में मिल जाने से ही, उसे यथार्थ शान्ति प्राप्त होगी। तब हाँ, यह जो पुनः पुनः अस्त्र प्रयोग रूप समराभिनय देखने में आता है, सो पूर्व संचित भेद ज्ञान मूलक दुरपनेय संस्कारों के सूक्ष्मतम प्रकाश को छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। इस पार्थिव जगत में भी अनेक समय देखा जाता है—कि जो जिसका एकान्त प्रिय है, समय विशेष में सो उसके सन्निहित होने पर भी, प्राण प्राण में उसके साथ मिलन की एकान्त वासना रहने पर भी कार्यतः किन्तु स्वयं दूरस्थ होने का प्रयासी होता है, ठीक ऐसे ही शुम्भ अम्बिका के सर्व मनोहर रूप में मुग्ध अस्मिता, सत्य सत्यही आत्मा को आत्मसमर्पण करने के लिये उद्यत है, किन्तु बहुजन्म संचित अभ्यासवशतः स्वकीय उस विशिष्टता को परित्याग नहीं कर सकता, इसीसे आत्मप्रेम आत्म-समर रूपमें परिणत होता है। अति अपूर्व है यह तत्व।

साधक देखो, तुम भी शुम्भ की तरह मातृ हृदय में कितने न मुष्टि प्रहार करते हुए मा को प्रतिनिवृत्त करने में प्रयासी होते हो। किन्तु थोड़ा ही पश्चाद्पद होने से—माकी ओर से मुख फिराते ही हृदय में कैसी एक अव्यक्त ज्वाला होने लगती है। फिर मातृ आक-र्षण अनुभव करते हो। फिर उस अपरूप रूपको देखनेके लिये लाला-यित होते हो। क्रोध करके, रुंठकरके, प्रहार करके दूर हटा देते हो और अब "तुम्हें नहीं देखूंगा" कहकर नयनद्वय मुद्रित करते हो, किन्तु फिर उनको देखने के लिये व्याकुल होते हो। उनको बिना एकबार देखे नहीं रहा जाता। क्यों ऐसा होता है? माका आकर्षण है। मा जो तुम को नहीं छोड़ती, तुम्हारे उनको छोड़ देने पर भी वे तुम को आत्मलीन करना चाहती है, इसीसे ऐसा होता है।

अच्छा जो हो, अस्मिता के ऊपर आत्मा के स्वप्रकाश-स्वरूप के विशेष उद्भासन को ही लक्ष्य करके मन्त्र में देवी के करतल-प्रहार की बात कही गई है। यहां पर थोड़ी साधना की बात भी बोल रक्खें-गुरु के हृदय के साथ स्वकीय हृदय को मिला देसकने से ही, यह

देवी और शुम्भ के परस्पर हृदय देश में आघात का रहस्य समझा जा सकता है। यथार्थ में वह मिलनानन्द दुःसह हो उठता है—मानो आनन्द का यातना है ऐसा मालूम होता है। उस समय इसे आनन्द का प्रहार वा पीड़न बिना कहे नहीं रहाजाता। अनुभव सम्पन्न साधक इसे सहज ही में समझ लेंगे।

उत्पत्य च प्रगृह्योच्चैर्देवीं गगनमास्थितः।
तत्रापि सा निराधारा युयुधे तेन चण्डिका ॥ १८॥
नियुद्धं खे तदा दैत्यश्चण्डिका च परस्परम्।
चक्रतुः प्रथमं सिद्धमुनि विस्मयकारकम् ॥१९॥

अनुवाद—शुम्भ उत्पतित होता हुआ देवी को ग्रहण पूर्वक आकाश में अवस्थान करने लगा। चण्डिका किन्तु वहाँ पर भी उसके साथ युद्ध करने लगी। उससमय आकाश में दैत्य और चण्डिका का परस्पर ऐसा युद्ध हुआ कि उससे सिद्ध मुनिगणों को भी विष्मय जन्मा था।

व्याख्या—अस्मिता ने जब देखा कि, किसी भी उपाय से आत्मा को आत्मसात् नहीं किया जाता, वरं निज को ही आत्मा में आत्म सात् होजाना पड़ता है, तब उपायान्तर के अभाव से देवी को लेकर शून्य में उत्पतित हुआ, अर्थात् आत्मा को शून्यत्व अनुभव करने की चेष्टा की। आत्मा नामक वास्तब में कुछ भी नहीं; आत्मा तो शून्य मात्र है, अभाव ही तो आत्मा का स्वरूप है? जो अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, इत्यादि नेति नेति मुख से प्रतिपाद्य है; सर्वभावों का अभाव ही जिसका स्वरूप है, सो शून्य व्यतीत और क्या हो सकता है? (यही आधुनिक वौद्धवाद है, पूर्व में इसकी आलोचना की जा चुकी है) यथार्थ में अनेक साधक यहाँ पर आकर भी आत्मा को गाढ़सुषुप्तिवत् एक अभाव स्वरूप वस्तु मान बैठते हैं, एवं सर्वभाव

विलय करके शून्यरूप में अवस्थान करना ही जीव का चरम पुरुषार्थ समझते हुए अभावस्वरूप से—शून्य रूप में अवस्थान को ही आत्मस्थिति वा ब्राह्मीस्थिति मान बैठते हैं। इस अवस्था को लक्ष्य करके ही मन्त्रमें देवी को लेकर शुम्भ का आकाश में उत्पतन कहा गया है। किन्तु हाय? शून्य में अवस्थान करने पर भी शुम्भ का परित्राण नहीं; यहाँ आकर भी देवी शुम्भ के साथ युद्ध करने लगीं। शून्य वा अभाव कहकर आत्मा का बारम्बार निषेध करने पर भी उस अभाव के विज्ञातृरूप से जो रह जाती हैं, वे ही तो आत्मारूप से आत्मप्रकाश करती हैं। सुतरां शून्य कहने से ही परित्राण कहाँ पाया जाता है? शून्य है, इस वाक्यके कहने के लिये आत्मा का प्रयोजन हो पड़ता है। अस्मिता आत्मा को प्रतिषेध करना चाहता है और आत्मा शून्य के विज्ञातृरूपसे स्वयं पूर्ण होकर शून्यवाद का निराकरण करती हुई अवस्थान करती है, यही देवी और शुम्भ के आकाशमें परस्पर युद्ध का रहस्य है।

यह आकाश युद्ध यथार्थ में विस्मयकर है। एक ओर आत्मा निषिद्ध होते हुये भी मात्र शून्य रूपमें पर्य्यवासित होते हुये भी पूर्णत्व-स्वप्रकाशत्व लेती हुई अभीव्यक्त होती है। और दूसरी ओर जिसकी परमार्थतः कोई सत्ता ही नहीं है, सो अस्मिता स्वयं सत्ताविशिष्ट होने को उद्यत होता है। सुतरां यह युद्ध बड़ाही विस्मयकर है। यह ठीक है कि सबके पक्ष में विस्मयकर न हो सके, किन्तु जो सिद्ध है, जो मुनि हैं अर्थात् जो आत्मलाभ से चरितार्थ हैं, जो मननशील योगी हैं, उनके सामने तो युद्ध वास्तव में विस्मयकर है। इसी से मन्त्र में इस युद्धको "सिद्ध मुनि विस्मयकारक" कहागया है। सत्यही साधक व्यतीत इस युद्ध का रहस्य कोन समझेगा? एकबार मालूम पड़ता है—आत्मा शून्य मात्र है, फिर मालूम पड़ता है—ना आत्मा शून्य नहो, आत्माही पूर्ण है।

ततो नियुद्धं सुचिरं कृत्वा तेनाम्बिका सह ।
उत्पात्य भ्रामयामास चिक्षेप धरणीतले ॥२०॥
स क्षिप्तो धरणीं प्राप्य मुष्टिमुद्यम्य वेगितः ।
अभ्यधावत दुष्टात्मा चण्डिकानिधनेच्छया ॥२१॥

अनुवाद—अनन्तर दीर्घकाल तक उसके साथ युद्ध करती हुई अम्बिका देवी ने शुम्भ को ऊर्द्ध उत्क्षेप पूर्वक घूर्णन करतः धरणी पृष्ठ पर निपातित किया। निक्षिप्त और भूमितल प्राप्त वह दुष्टात्मा शुम्भ पुनः मुष्टि उद्यमन पूर्वक चण्डिका के निधन करने की इच्छा से सवेग से अभिधावित हुआ।

व्याख्या—यह आकाश युद्ध—यह शून्यत्व का धान्धा दीर्घकाल चलता है। अधिकांश साधक ही वाक्य मन के अगोचर वस्तु को सुषुप्तिवत, अज्ञानवत, शून्यवत, एक कुछ है ऐसा समझने लगते हैं। आत्मा जो स्वयंप्रकाश वस्तु हैं, उन्हें सहस्रार नहीं है नहीं है कहने पर भी इसी निषेध के विज्ञातृरूपसे वे स्वयं रह जाती हैं, इसे प्रथमतः न समझ सकने पर भी साधकमात्र ही शेष में इसकी उपलब्धि करसकते हैं। जिस दिन आत्मा का पूर्णत्व आनन्दमयत्व उद्भासित होता है उसी दिन ही यह शून्यत्व का धाँधा चलाजाता। और उसीदिन से ही अस्मिता अपने अस्तित्व में सन्दिहान होपड़ता है। आत्माका तो प्रतिषेध किसी प्रकार भी नहीं होता? तो क्या "मैं" कहकर जो समझता हुँ सो नहीं है? इसप्रकार अपना अस्तित्व विषयक संशय और आशंका उपस्थित होती है।मन्त्र में यही शुम्भका शून्य मार्ग में घूर्नन रूप से वर्णित हुआ है। अस्मिता की उस समय की अवस्था यथार्थ में विघूर्णित मस्तक-पुरुष की तरह हो पड़ती है। "क्या सर्व्वनाश। मैं हो नहीं है? तो क्या मैं भी स्थूल जगत की तरह दृश्य मात्र —कल्पना मात्र हूं?" ऐसे भाव को लक्ष्य करके ही मन्त्र में देवी कर्त्तृक शुम्भ का धरातल में निक्षेप वर्णित हुआ है। जब आत्मसत्ता

कुछ विशेष भावसे प्रकाशित होने लगती है, तब प्रत्येक ही साधक के हृदय में ऐसा भाव उपस्थित होता है।

अच्छा जो हो, इस बार शुम्भ का शेष चेष्टा। देवी कर्त्तृक निक्षिप्त और धरणी प्राप्त होते हुये भी अर्थात् स्थूल जगतकी तरह दृश्य-कल्पित-तुच्छ आकिञ्चितकर रूप से प्रतीयमान होते हुये भी एक बार अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिये वह दुरात्मा—वह मिथ्याभिमान रूपी अस्मिता फिर चण्डिका निधन की इच्छा से मुष्टि उत्तोलन किया। चण्डिका का निधन करना ही शुम्भ का अभिप्राय है। किसी भी प्रकार से आत्मसत्ता को तिरस्कृत कर सकने से ही अस्मिता की अपनी सत्ता अक्षुन्न बनी रहेगी; इसीसे मन्त्र में शुम्भका पुनः मुष्टि उद्यमन कथित हुआ है। यद्यपि चण्डिका को सम्पूर्ण निधन करना एकान्त ही असम्भव है, तथापि जितना सम्भव हो सके उनके निकटसे दूर रह सकने से भी अस्मिता की अभीष्ट सिद्ध होगी। इसी लिये ही शुम्भ का यह पुनः मुष्टि-उद्यमन रूप विशेष प्रयत्न प्रकाश पा रहा है। इसका कहना ही क्या है कि यही शुम्भ का चरम उद्यम है।

——

तमायान्तं ततो देवी सर्व्वं दैत्यजनेश्वरम्।
जगत्यां पातयामास भित्वा शूलेन वक्षसि ॥२२॥

अनुवाद—वह सर्व दैत्याधिपति जब (इस प्रकार से) आने लगा, तब देवी ने शूल के द्वारा उसका वक्षः स्थल विदीर्ण कर भूतल पर निपातित किया।

व्याख्या—इतने दिनों में शुम्भका अवसान हुआ। अस्मिता सर्व-विध द्वैत प्रतीति का आश्रय है इसीसे, यहाँ पर शुम्भको सर्व दैत्याधि-पति कहा गया है। यावतीय अनात्मप्रतीति जो है सो एकमात्र मैंत्व की आश्रय से अवस्थित है इसे थोड़ा धीर भाव से सोचने ही से सब समझ सकते हैं। यद्यपि साधारण भावसे मैं कहने से—स्थूल देह से लेकर बुद्धि पर्य्यन्त, एवं पाप पुण्य धर्माधर्म प्रभृति समन्वित कुछ

प्रतीयमान होता है, तथापि जो अस्मिता क्षेत्र के साधक हैं, वे इस सर्व भावों द्वारा अन्वित अथच एकान्त अलग मैंत्व को विशेष भाव से पकड़ वा समझ सकते हैं। जबतक केवलानन्दमय 'ज्ञ' स्वरूप का आभास भी नहीं आता, तबतक इस मैंत्वका विकाश नहीं होता। बहु जन्म का सुकृति के फलसे, श्रीगुरुको अहेतुकी कृपासे, माके अतुलनीय स्नेह से, साधक विशुद्ध बोधमात्र स्वरूप में उपनीत होकर, इस मिथ्याभिमान वा अस्मिता रूपी असुर के हस्त से चिर परित्राण प्राप्त करते हैं। यही शुम्भवध का रहस्य है।

देवी के शूलाघात से महासुर शुम्भ जगतीतल पर निपतित हुआ। केवलानन्दमय बोधस्वरूप का सम्यक प्रकाश होना ही देवी का शूलाघात है। पूर्व में शूल शब्द का आनन्दमय त्रिपुटीरूप अर्थ किया गया था। किन्तु यहाँ पर शूल शब्द से त्रिपुटी विहीन केवलानन्दमय 'ज्ञ' स्वरूप समझने होगा। उसके उदय में अस्मिता अर्थात् यावतीय अनात्मभावों का बीज सम्यक् विलय प्राप्त होता है। "जगत्यां पातयामास"—माने शुम्भ को जगत् में निपातित किया। जगत् अर्थात दृश्य वा जड़वस्तु कहने को जैसे कुछ भी नहीं है, न कभी था, कभी रहेगा भी नहीं; ठीक तैसे ही मैंत्व कहने को कुछ भी नहीं है, तथा एवं न रहेगा। जो है, अस्तिरूप से जिसकी उपलब्धि होती है, सो मैं नहीं आत्मा है। जो मैं अबतक सर्व्वाधिपतिरूपसे प्रतीत होता था, जो मैं इतने दिन तक सर्व्वभाव का ज्ञाता और अधिष्ठातृ रूप से प्रतीत होता था सो मैं नहीं है—तीनों काल में ही नहीं है।

साधक! यही है शुम्भवध। जिस मैं को लेकर कितने लक्ष लक्ष जन्म मृत्यु के पेषण सह्य किये हैं, जिस मैं को लेकर कितना स्वर्ग नर्क भ्रमण किया है, जिस मैं को कितनी बार कितने रकम साजों से सजाया है, जिस मैं को बद्ध समझकर उसे मुक्त करने के लिये कितनी कठोर साधना की हैं, आज देखो-वह मैं ही नहीं है—तीनों काल में ही नहीं है। तुम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त आत्मा हो। तुम अभय अमृत सत्य हो? तुम ब्रह्म ही हो? तुममें जन्म मृत्यु नहीं, वन्धन मुक्ति भी

नहीं। तुम नित्य मुक्त हो। यही है परमलाभ। यह है परम पुरुषार्थ। पूर्व कहा था, मैं को नहीं खोने से मा को नहीं पाया जाता। आज इतने दिनों में मैं को खोया है, आज मैं निपतित है; मातृस्वरूप—आत्मस्वरूप स्वतः उद्भासित है। इसीका नाम है मातृलाभ।

अब सुनो—शुम्भ शब्द का अर्थ है नित्य निहत। पूर्व में शुन्भ धातु का अर्थ शोभा बताया था। इसी शुन्भ धातु का और भी एक अर्थ होता है—वध। जिसका वध हुआ ही रक्खा है—जो नित्य ही निहत है अर्थात् जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसका नाम है शुम्भ। शुम्भ को दार्शनिकों की भाषा में असम्भव भविष्यत् कहा जाता है। मैं एवं मैं के आश्रित यह जगत् नितान्त असम्भव वस्तु है। ब्रह्म में जगत् नामक कोई कुछ भी नहीं है, कभी न रहेगा ही। यही है सत्य। इस सत्य में प्रतिष्ठित होने ही का नाम यथार्थ सत्य-प्रतिष्ठा वा ब्राह्मीस्थिति है।

योगवाशिष्ठ ग्रन्थ में श्री रामचन्द्रजी के प्रश्न से जगत का स्वरूप समझाते हुए श्रीवशिष्ठदेव ने जो कहा है, उसका संक्षिप्त मर्म यहाँ पर कुछ कहना आवश्यक है। "किसी अराजक राज्य में एक राजा वास करता था, वह अविवाहित था, उसके दो पत्नी थीं, दोनों ही वन्ध्या। उनके दो पुत्र मृगया खेलने के लिये एक वृक्षहीन अरण्य में प्रवेश किये"। इत्यादि उपाख्यान जैसे कुछ भी नहीं, केवल धात्री कोड़स्थ अनाविष्ट शिशु को शान्त करने के लिये कुछेक शब्द मात्र है; ठीक तैसे ही यह जगत, यह मैं, यह चिदाभास, यह अस्मिता है, है इन में कुछ भी नहीं। एक मात्र आत्मा—मा-ही हैं। वे ही है सत, वे ही चित, वे ही आनन्द है। और कहीं भी कुछ नहीं है।

साधक, एक दिन गीतातत्व के अवसान में श्री गुरु के मुखोच्चारित अपूर्व वाणी—'मामेकं शरणं व्रज', श्रवण करके मुग्ध हुआ था, अपने मैं को उन्हीं के चरणों में शरणागत किया था। इतने दिनों के बाद उसकी सार्थकता देखने को मिली। देखो—तुम्हारी उस शरणागत मैं को कितने विभिन्न भावों में होकर क्रम क्रम से पवित्र करके, मा ने

आज आत्मसत्ता में मिला लिया। तुम्हारी शरणागति का यथार्थ फल प्राप्त हुआ। जीव तुम ब्रह्म स्वरूप में प्रतिष्ठत हुए। बोलो – धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम। धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे स्पष्टं। धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षतेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्य अज्ञानं पलायितं क्वापि। धन्योऽहं धन्योऽहं कर्त्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्व्वमद्य सम्पन्नम्।"

स गतासुः पपातोर्व्यां देवीशूलाग्रविक्षतः।
चालयन् सकलां पृथ्वीं साब्धिद्वीपां सपर्व्वताम् ॥२३॥

अनुवाद—देवी के शूलाग्र द्वारा विशेष रूप से आहत होकर वह असुर गतप्राण होता हुआ, ससागरा सद्वीपा सपर्व्वता समस्त पृथ्वी को परिचालित कर भूमितल पर निपतित हुआ।

व्याख्या शुम्भ जब देवी के शूल से आहत और गतासु होकर भूतल पर निपतित हुआ था, तब समुद्र द्वीप पर्वतादि सह समूचा पृथ्वी कम्पित हो गयी थी, यही मन्त्र का साधारण अर्थ है। पूर्व में कहा जा चुका है – गुणत्रय के परस्पर संक्षोभ—तारतम्य वशतः जो सप्तधा भेद होते हैं, वही सात समुद्र हैं; एवं मूलाधारादि जो सात अनुभूति केन्द्र हैं वही सप्त द्वीप हैं; एवं स्थूल – जड़त्व बोध ही पर्वत स्थानीय है। अस्मिता के विनाश में ये सभी विचलित हो उठते हैं। कारण, ये सभी मैंत्व के विभिन्न विकाश मात्र हैं। मैंत्व के विनष्ट होने पर फिर इनकी सत्ता कैसे रहेगी ?

जबतक प्रारब्ध कर्म समूह का सम्पूर्ण निःशेष नहीं होजाता, तब-तक ये देहादि विषयक बोध अर्थात् अनात्म बोध का पुनरावर्त्तन होता है। साधक जब आत्मस्वरूप में अवस्थान करता है, तबतो इनका चिन्हमात्र नहीं रहता, किन्तु आत्मस्वरूप से व्युत्थित होते ही फिर अनात्म बोध फूट उठता है। सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति होने पर भी रज्जु विषयक यथार्थ ज्ञान का निश्चय होने पर भी सर्पज्ञान-समका-

लीन के उत्पन्न भीति हृत्कम्प प्रभृति लक्षण कुछ काल तक रहजाते हैं। आत्मा के प्रकाश से अस्मिता तक अर्थात् प्रकृति पर्य्यन्त यावतीय अनात्म—वस्तु की सत्ता का सम्पूर्ण बाध होजाता है; तथापि यावत प्रारब्ध है इनका अनुवर्त्तन होता है। फलस्वरूप स्थूल देह धारण, लोकशिक्षा, उपदेश, शास्त्र-प्रणयन, धर्मप्रतिष्ठा प्रभृति कर्मों का अनुष्ठान होता है। योगदर्शन में इसे "निमार्ण—चित्तका फल" कह कर वर्णन किया है। अर्थात् आत्मज्ञपुरुष अस्मिता मात्र से विश्वमङ्गल के लिये अभिनव चित्त का निर्माण करके उसी निर्माण चित्त के सहारे नानाविध लोकहितकर कार्यों का अनुष्ठान करते रहते हैं। योगदर्शन जिसे निर्माणचित्त कहता है, वेदान्त उसी को बाधितानुवृत्ति कहता है। वस्तुतः उभय मत में कोई विरोध नहीं है। अच्छा जो हो, साधक जब अस्मिता पर्य्यन्त को परित्याग पूर्वक आत्मस्वरूप में प्रवेश करने को उद्यत होता है, तब यथार्थ में पृथ्वी समुद्र द्वीप एवं पर्वत अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर कम्पित हो उठते हैं; कारण ये अब हमेशा के लिये सत्ताहीन होने जारहे हैं। किसी किसी साधक की तो समाहित होने के पूर्वक्षण में देहादि का अल्पाधिक कम्प स्थूल में भी परिलक्षित होता है। जो हो, जबतक निरवच्छिन्न भाव से आत्मस्वरूपमें अवस्थिति नहीं होती, तबतक देहादिका अनात्म वस्तुओं का भाव होगाही। प्रारब्ध के निःशेषरूपसे क्षय प्राप्त होने पर साधक विदेह कैवल्य प्राप्त होता है, तब तो फिर अनात्म वस्तुओं का भाण भी नहीं होता। प्रारब्ध संस्कारों में जो आत्मज्ञान प्राप्ति के विशेष अन्तराय हैं, उन्हीं को हमने इसके पूर्व प्रबल प्रारब्ध नाम से समझा था। इन प्रबल प्रारब्ध संस्कारों के क्षय प्राप्त होते ही आत्मज्ञान उद्भासित होता है। इसी को साधना की भाषा में रुद्रग्रन्थीभेद कहते हैं। यह जगत्, यह देहादि जो हैं विज्ञान मात्र हैं, ऐसी प्रतीतिका नाम ही है रुद्रग्रन्थि। इसके भेद होने ही को रुद्रग्रन्थिभेद कहते हैं। वस्तुतः जगत् कहने को, देह कहने को, अनात्म बोलकर कहीं भी कुछ भी नहीं है, कभी न था न कभी रहेगा। जगत की सत्ता तीनों ही काल

में नहीं है। एक अद्वितीय आत्मा—मा हमारी नित्य विराजिता हैं। आत्मातिरिक्त कहीं भी कुछ भी नहीं है। ऐसी उपलब्धि में उपनीत होने ही का नाम रुद्रग्रन्थि भेद है। जो चिन्मात्र स्वरूप हैं उसमें चेत्य नामक कुछ नहीं रह भी नहीं सकता। जो मात्र अनुभूति स्वरूप है, उसमें अनुभाव्य नामक कुछ नहीं, रहभी नहीं सकता। वास्तव में तो इस क्षेत्र में इस परमात्म—स्वरूप में जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कुछ भी नहीं है। आत्मा तो नित्य स्वच्छ, नित्य निरञ्जन, नित्य विशुद्ध है। क्या तुमने समझा साधक! रज्जु में सर्प भ्रान्ति होती अवश्य है, किन्तु रज्जु में इसके लिये सर्प नामक कभी भी कुछ नहीं होता। रज्जु का सर्पभाव जैसे कभी नहीं, ठीक तैसे ही आत्मा में जगद्भाव कभी भी नहीं है। इसप्रकार के भाव की आत्मोपलब्धि होने के बाद, व्युत्थित अवस्था में आत्मा के प्रति जो स्वाभाविक एकान्त अनुराग रहता है, उसी को अहैतुक भक्ति कहते हैं। श्रीमद्भागवत् के प्रथम स्कन्ध के आत्माराम श्लोक में इसी अहैतुकी भक्ति की ही कथा वर्णित हुई है। आत्माके प्रति एकान्त अनुराग एवं जगत का सत्ताभाव विषयक निश्चयज्ञान, ये उभय ही साधक को सर्वथा निस्पृह अर्थात् परवैराग्यवान् बनाये रखते हैं। जो हो, इसी प्रकार से मा की कृपा से साधक का ब्रह्म—विष्णु और रुद्रग्रन्थि भेद होता हैं, साधक जीवन्मुक्त होता है, उसके सारे बन्धन नाश होजाते हैं, और वह नित्यमुक्तता का आस्वाद पाता है।

———

उत्पातमेघाः सोल्का ये प्रागासंस्ते शमंययुः।
सरितो मार्गवाहिन्यस्तथासंस्तत्र पातिते ॥२४॥

अनुवाद—पूर्व में जो सब मेघ उल्कायुक्त होकर उत्पात सूचक थे, शुम्भासुर के निपतित होने से, अब वह प्रशान्त भाव धारण किये, एवं सरित् समूह मार्गवाहिनी हुई। (पूर्व में ये उन्मार्गगामी थे।)

व्याख्या—मैं नहीं सुतरां उत्पात भी कुछ नहीं पूर्व जो दुर्व्वह संसार चिन्ता का भार था, अब मैं के अभाव से सो सम्पूर्ण दूरीभूत होचुका है। संसार चिन्ता (परिवारिक जन) की बात छोड़दो, पूर्व साधना राज्य ही की कितनी दुश्चिन्तायें थीं। किस प्रकार यह दुर्ज्जय मन और दुर्ज्जय इन्द्रियों को विध्वंस किया जायगा। किस प्रकार सिद्धि शक्ति लाभ होगी, किस प्रकार अनादि जन्मसञ्चित कर्मराशि क्षय प्राप्त होगी,इत्यादि कितनी दुश्चिन्तायें थीं, ये दुश्चिन्ता-रूप मेघ समूह फिर कितनी हताशता, कितने अविश्वास और सन्देह रूप उल्कायुक्त थे, अब उन्होंने प्रशान्तभाव धारण किया है। अब चिन्ता करनें को कुछ नहीं, और करने को भी कुछ नहीं हैं, हताश नामक न कुछ है, और न आशा नामक ही कुछ है। मैंत्व बोध का विलय के साथ साथ ये सब अपने आपही विलय को प्राप्त हो गये, इसी से मन्त्रमें उत्पात सूचक मेघ समूहों का सौम्यभाव धारण वर्णित हुआ है और सरित् सब अर्थात् देहस्थ शक्तिप्रवाह समूह निज निज पथ में प्रवाहित हुये। इसके पूर्व साधना के लिये ही हों, और सांसारिक भार के चिन्ता से ही हों, ये उत्पथगामी थे; अब तो और दुश्चिन्ता नहीं है सुतरां ये सब अपने अपने पथ में शान्तभाव से प्रवाहित होने लगे। मैंत्व विलय के बाद साधक की स्थूल देह पर्य्यन्त अनेक प्रशान्तभाव को धारण करलेती है। जबतक शुम्भ रहता है, जबतक अस्मिता का प्रभाव विद्यमान रहता है, तबतक नानारूप उत्पात, नाना-रूप उच्छृङ्खलता देखने में आती है; परन्तु उसके विलय होने पर सभी सौम्यभाव धारण करते हैं, सभी प्रशान्त हो जाते हैं। आत्म साक्षात्कार लाभ के बाद साधक में जो सब लक्षण प्रकाश पाते हैं, वही इस मन्त्रमें एवं परवर्त्ती कईएक मन्त्र में वर्णित हुये हैं। अनुभूति सम्पन्न साधकगण निश्चय ही इन सब लक्षणों को लक्ष्य करसकते हैं।

ततः प्रसन्नमखिलं हते तस्मिन् दुरात्मनि ।
जगत् स्वास्थ्यमतीवाप निर्म्मलं चाभवन्नभः ॥२५॥

अनुवाद—उस दुरात्मा असुर के निहत होने से, अखिल संसार ने प्रसन्नता लाभ की, जगत् ने स्वास्थ्य लाभ किया एवं आकाश अतिशय निर्म्मल होगया।

व्याख्या—अस्मिता के विनष्ट होने से अखिल संसार यथार्थ में प्रसन्नता लाभ करता है। पहले जिस ओर दृष्टिपात किया जाता था, उस ओर ही मानो एक अनियम उच्छृङ्खलता दृष्टिगोचर होती थी; कारण तबतो "मैं कर्त्ता" यह बोध था, अब तो सो नहीं है; अब जिधर ही दृष्टिपात करो उधर ही प्रसन्नभाव परिलक्षित होता है। एक मात्र आत्मसत्ताही तो अब सम्यक् भाव से उद्भासित है, ऐसी उपलब्धि में अवस्थान कर सकने से, अप्रसन्नता नामक कुछभी नहीं रह-सकता। साधक! तुम्हारा भी मैं जब इस प्रकार विनाश को प्राप्त होगा, तब तुम भी अखिल संसार को प्रसन्नमय दर्शन करोगे।

"जगत् स्वास्थ्यमतीवाप"—जगत् ने स्वास्थ्य लाभ किया। स्वमें अवस्थान करने का नाम ही स्वस्थ्य, अर्थात् आत्मस्थ है। स्वस्थ के ही भाव को स्वास्थ्य कहते हैं। अब आत्मसत्ता सर्वत्र सुप्रकाशित है, सुतरां जगत् भी स्वस्थभाव में ही अवस्थित है। जगत् नामक अब और पृथक कुछ भी नहीं है, स्व होगया है।

आकाश निर्मल होगया। विज्ञानमय आकाश में अब कोई प्रकार की मलिनता अर्थात् विशिष्टता नहीं है। पहिले बहुत्व के आवरण से विज्ञानाकाश मलिन था, अब अस्मिता बिलय के साथही साथ बहुत्व प्रतिति का उच्छेद हो गया है; सुतरां वह सर्वतोभाव से निर्मल होगया है।

—

ततो देवगणाः सर्व्वे हर्ष-निर्भर-मानसाः ।
बभुवुर्निहते तस्मिन् गन्धर्व्वा ललितं जगुः ॥२६॥
अवादयंस्तथैवान्ये ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
ववुः पुण्यस्तथा वाताः सुप्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥२७॥

अनुवाद—उस असुर के निहत होने से देवतागण अतिशय हृष्ट-चित्त हुये। एवं गन्धर्वगण सुमधुर गान करने लगे। और कुछेक गन्धर्व वाद्य ध्वनि करने लगे, अप्सरागण नृत्य करने लगीं, पुण्यवायू प्रवाहित होने लगा, एवं दिवाकर उज्वल प्रभाविशिष्ट हुए।

व्याख्या—शुम्भ के पतन से देवता गन्धर्व अप्सरा चन्द्र सूर्य सभी आनन्दित हैं। सभी स्व स्व शक्ति के अनुसार आनन्द प्रकाश करने लगे। इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्यरूपी देवताबृन्दों को अब उद्विग्नता नहीं है, इन्द्रियां भी प्रशान्त होगई हैं। चैतन्य राज्य अक्षुन्न है। देवगणों के यज्ञभाग अपहरण होने की अब आशंका नहीं है; सुतरां वे अब हर्ष निर्भरमानस हुए हैं। और गन्धर्वगण—नादाधिष्ठित चैतन्यवृन्द सुमधुर संगीत करने लगे। आनन्द-मङ्गल गान करते हुये लब्ध आनन्द को और भी विवर्द्धित करने लगे। अबतक ये गन्धर्वगण शुम्भ के प्रभाव से अभिभूत थे। इसीसे ये तान-लय-हीन नानाविध शब्दों के अभिघात में लगे हुये थे। अब वही शब्दाधिष्ठित चैतन्यबृन्द प्रशान्त होकर, शब्दों को सुनियन्त्रित करने लगे।

सुनो—आत्मलाभ के बाद साधक के उच्चारित शब्द मधुर हो जाते हैं। उसके कण्ठस्वर में एक सुमधुर आकर्षणभाव रहता है। प्रथम यही शब्द जिस भाव से उच्चारण करता था, वे सबके चित्ताकर्षक नहीं होते थे; किन्तु अब गाली देने पर भी वे मधुर होते हैं, जिसको गाली दीजाती है, सो भी मर्म्मान्तिक दुःख अनुभव नहीं करता, वरं अन्दर अन्दर में आनन्दित होजाता है। गन्धर्वगणों की प्रसन्नता का यही फल है।

अप्सरागण नृत्य करने लगीं—पुलक एवं अङ्गकम्पनादिरूप सात्विक

भाव प्रकाश पाने लगे। योग की प्रथमावस्था में ये चित्त विक्षेप सहकारी थे इससे साधना के अन्तराय स्वरूप थे; किन्तु अस्मिता विनाश के बाद, स्वप्रकाश आनन्दमय आत्मस्वरूप में उपनीत होने के समय जो अङ्ग कम्पनादि होता है, वह आनन्द सूचक है विक्षेप कारक नहीं। आत्मा में विक्षेप नामक कुछ नहीं है, विक्षेप तो चित्तही का धर्म है; सुतरॉं यहाँ पर अङ्गकम्पनादि रुप वाह्य विक्षेप परिलक्षित होने पर भी उससे आत्मोपलब्धि में कुछ भी व्याघात नहीं होता, वरं विशेष आनन्दोपलब्धि ही की सूचना करता है।

ववुः पुण्यास्तथा वाताः—पुण्यवायू 'प्रवाहित हुई। आत्मसाक्षाकार के बाद सत्य सत्यही वायुमण्डल पवित्र और आनन्द मय ही मालुम होने लगता है, उससमय तो मधुमय आनन्दमय प्रियतम आत्माही का स्वरूप सर्वत्र प्रतिभात होने लगता है इसीसे सत्यदर्शी ऋषियों के स्वर में स्वर मिलाकर बोलने की इच्छा होतीं है—"मधुवाता ऋतायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।" एक गीत में सुना था—"तोमाते जखन मजे आमार मन, तखनि भुवन हय मधुमयी" (तुममें जब हमारा मन विभोर होजाता है तब सारा भुवन मधुमय होजाता है।)

इस प्रकार केवल वाह्य वायुमण्डल ही जो पुण्यमय आनन्दमय होता हो सो नहीं, आभ्यन्तरिक प्राणादि पञ्चवायु भी तब तो पवित्र और मधुमय होउठता है। इसके पूर्व हमने इस पाणादि पञ्चवायु के सम्बन्ध में विशेष कुछ आलोचना करने का सुयोग नहीं पाया; सुतरां अप्रासङ्गिक होने पर भी यहाँ पर ही संक्षेप में इसकी आलोचना करनी पड़ी। आन्तर वायु पाँच हैं, यथा—प्राण अपान् व्यान उदान समान। साधारणतः ये वायु रूपसेही परिचित हैं। वास्तविक किन्तु वायु इनका अति स्थूलरूप है। हम यहाँपर इस स्थूल रूप के सम्बन्ध में कोई अलोचना नहीं करेंगे; कारण उसका स्वरूप, क्रिया एवं स्थान तो अनेक ही जानते हैं। केवल आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणादि के जिन स्वरूपों की उपलब्धि होती है, उसीके कहने की चेष्टा करेंगे।

प्राणादि पञ्च भी करण विशेष हैं। जीवों के करण द्विविध हैं—

अन्तःकरण एवं वाह्य करण। अन्तःकरण हैं चार—मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार और वाह्यकरण हैं त्रिविध—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय एवं प्राणादि पञ्च। सत्व रजः और तमोगुण से यथा क्रमसे उक्त त्रिविध करण उत्पन्न होते हैं। जैसे सत्वगुण के करण ज्ञानेन्द्रियों में प्रकाश भाव प्रधान है, एवं रजोगुण के करण कर्मेन्द्रियां मे क्रियाभाव प्रधान है; उसी प्रकार तमोगुण के करण होने से ही प्रणादि का धृतिभाव प्रधान है। प्राण कहने से वहीरागत बोधविशेष का धृतिभाव समझ में आता है। अर्थात् वाह्य वस्तुओं के संस्पर्श से जो आभ्यन्तरिक बोध बिशेष फूट उठता है, उस बोध का जो अधिष्ठान है, उसको धर के रखना ही प्राण का कार्य है। मानलो– तुम तृष्णार्त्त होकर जल-पान कररहे हो। यहाँपर इस जलरूप वाह्य वस्तु के साथ कन्ठनाली प्रभृति के संस्पर्शवशतः पिपासा निवृत्तिरूप एक बोध फूट उठा; जो शक्ति इस बोध को धरके रखती है, सोई है प्राण।

शरीरस्थ मलापनयनकी जो शक्ति है· उसका जो अधिष्ठान है, उस को धारण करना ही अपान का कार्य है। अङ्गप्रत्यङ्ग परिचालन की जो शक्ति है, उसका जो अधिष्ठान है, उसे धारण करना ही व्यान का कार्य है। इसी प्रकार शरीरस्थ रस रक्तादि धातुगत जो बोध है, उसका जो अधिष्ठान है उसे धारण करके रखना ही उदान का कार्य है एवं अन्न पानादि द्वारा शरीर गठन करने की जो शक्ति है, उसके अधिष्ठान को धारण करके रखना ही समान का कार्य है। इन्हीं पञ्चविध धृतिशक्तियों के द्वारा ही यह स्थूल शरीर गठित स्थित एवं लय प्राप्त होता है। और यही जब प्रतिलोभ भाव से क्रिया करती है, तबही शरीर विनाश को प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों की न्याईं ये भी अस्मिता ही का विभिन्न स्फुरण है। ये पञ्चप्राण शक्तियाँ ही प्राणमय कोष का यथार्थ स्वरूप है।

अच्छा जो हो मातृलाभ के बाद अर्थात् परमात्म स्वरूप से व्युत्थित होने पर जो केवल चित्तही का प्रशान्त भाव होता हो, सो नहीं; चित्त को प्रसन्नता हेतु जैसे ज्ञानेन्द्रिय—कर्मेन्द्रियों की प्रसन्नता

होती है, तैसे ही प्राणादि पञ्चभूतों की भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप स्थूल शरीर पर्य्यन्त आनन्दघनरूपसे बोध होने लगता है। शरीर के प्रत्येक परमाणु ही मानो आनन्द के कण हैं, ऐसी प्रतीति होती है। शरीरस्थ वायु प्रवाह पुण्यमय होने का यही लक्षण है।

अरे, एकबार आत्मबोध में उपनीत होनेसे—एकबार हमारी आदरणीय मा की गोदी में उठने से, सत्य सत्य ही ऐसा होता है। प्राण मन इन्द्रिय, यहाँ तक कि स्थूल देह पर्य्यन्त एक अपूर्व रससे रसमय हो पड़ती है। अपार्थिव है वह रस, अननुभूत है उसका आस्वादन विस्मयकर है वह मिलन रहस्य, निरवच्छिन्न आनन्द ही है उसका स्वरूप।

जज्वलुश्चाग्नयः शान्ताः शान्तदिग् जनितस्वनाः ॥२८॥

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्मये शुम्भवधः।

अनुवाद—होमाग्नि सब शान्तभाव से प्रज्वलित होने लगी एवं उत्पातसूचक दिग् निस्वन समूह ने प्रशान्त भाव धारण किया।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवी माहात्म्य प्रसङ्ग में शुम्भवध।

व्याख्या—होमाग्नि शरीरस्थ तेजस्तत्व। इसीके पूर्व यह नाना रूप उत्पात सूचना करता था, अब शान्त भाव धारण किया है। प्रथम वासना के अभिघात सुख दुःख के अभिघात साधक के चित्त को सर्व्वदाही चञ्चल करके रखते थे। सुतरां शरीरस्थ तेजस्तत्व नानाभाव से परिभावित होता हुआ नानारूप उत्पात की सूचना करता था। अब सभी शान्त हुये हैं। मैंत्व नहीं; सुतरां उच्छृङ्खलता भी नहीं। पूर्व में यही विश्व यज्ञ, यह कर्मयज्ञ अहंकर्त्तृत्वरूप बोध के ऊपर प्रतिष्ठित था, सुतरां सभी उच्छृङ्खल, सभी अशान्त और उत्पात सूचक

थे। अब आत्मस्वरूप के उद्भासित होने से, सभी ब्रह्म यज्ञ में परिणत हो गया है। अब तो कर्म मात्र ही "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्" रूपसे अनुष्ठित होते हैं, अवतो हव्य होता अग्नि होम एवं उसका फल, सब ही ब्रह्ममय– सभी आत्ममय हैं; सुतरां कर्मयज्ञरूप अनुष्ठान समूह अब और अशान्त भाव से सम्पन्न नहीं होते।

दिग् निस्वन—अमङ्गल सूचक दूरागत ध्वनिविशेष। अहं बोध विलुप्त हुआ है, और आत्मबोध समुदित हुआ है, सर्वत्र एक मङ्गलमय आत्मा व्यतीत और कुछ भी नहीं हैं; सुतरां दिग् निस्वन वा अमङ्गल सूचक शब्द समूह सम्पूर्ण प्रशान्त हुये हैं। पूर्व में जागतिक घटना समूह का फलाफल विचार, एवं उसके लिये मङ्गलामङ्गल का विचार था, अबतो और वह भाव नहीं है; सभी मङ्गलमय है। सभी आत्ममय सभी आनन्दमय है।

साधक! यही है आनन्दप्रतिष्ठा। देखो इन पाँच मन्त्रों में सर्वत्र केवल आनन्द ही की अभिव्यक्ति वर्णित हुई है। आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त होने से, ठीक इसी प्रकार सर्व्वत्र आनन्दमय सत्ता की उपलब्धि होती रहती है। जबतक मैंत्व बोलकर एक विशिष्ट ज्ञान रहता है, तबतक इस आनन्द का सन्धान नहीं मिलता। किन्तु मा की कृपा से शुम्भ निहत होने से - अस्मिता बिलय प्राप्त होने से साधक को निरवच्छिन्न आनन्द प्राप्त होता है। किसी भी अवस्था में यह आनन्द विच्युत नहीं होता। चित्त,-विक्षेप, भोग त्याग, रोग शोक जो कोई अवस्था क्यों न आवे, इस स्वरूपानन्द की विच्युति नहीं होती। न इसका आदि है और न इसका अन्त है। एक अभिन्न पूर्ण अथच चिर नवीन है— नित्य भोग करने पर भी इसका नवीनत्व अपनीत नहीं होता (शेष नहीं होता) ऐसा मधुर है! यही वैष्णवों की भाषा में नित्य वृन्दाबनमें नवघनश्याम – नित्य तरुण, नित्य लोभनीय हैं। यह आनन्द ही सांख्यों की भाषामें पुरुष, वेदान्त का ब्रह्म, उपनिषदोंका आत्मा, गीता के श्रीकृष्ण देवी माहात्म्य की चण्डिका और हमारी मा हैं।

देखो साधक, तुम आनन्दमय हो, तुम्हारा भोग्य जगत् भी आनन्दमय है। तुम्हारे मन प्राण इन्द्रिय स्थूल शरीर पर्य्यन्त आनन्द मय है। आनन्द द्वाराही तुम एवं यह विश्व गठित हो। आनन्द ही तुम्हारा एवं इस विश्वका उपादान है। किसी भी अवस्था में तुम आनन्द से विन्दुमात्र विच्युत नहीं हुये हो! तुम धन्य हो! धन्य हो तुम! बोलो—"सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान्।"

इति साधन-समर वा देवी-माहात्म्य व्याख्या में
शुम्भ वध।

साधन-समर
वा
देवी माहात्म्य।

रुद्र ग्रन्थिभेद।

शुम्भवध।

ऋषिरुवाच।

देव्या हते तत्र महासुरेन्द्रे सेन्द्राः सुरा वह्नि पुरोगमास्ताम्।
कात्यायनीं तुष्टुवुरिष्टलाभाद्विकाशि वक्त्रास्तु विकाशिताशाः॥१॥

अनुवाद—ऋषिबोले—उस युद्धमें देवी कर्त्तृक असुरश्रेष्ठ शुम्भ के निहत होने से, अभीष्ट पूर्ण हुआ है इससे अग्नि प्रमुख इन्द्रादि देवतावर्ग उत्फुल्ल आनन से दिक् समूह को उद्भासित करते हुये कात्यायनी का स्तवन करने लगे।

व्याख्या—विशुद्धवोधस्वरूप में अवस्थान काल में द्वैत प्रतीति के अभाव वशतः स्तवादि एकान्त असम्भव होने परभी, व्युत्थान अवस्था में वाधितानुवृत्ति-न्याय से पुनः देहादि अनात्म प्रतीति फूट उठती है। सुतरां उस अवस्थामें स्तव स्तुति असम्भव नहीं है, वरं होना ही खूब स्वाभाविक है।

शुम्भ निहत हुआ है। इन्द्रियादि अधिष्ठित चैतन्यवृन्दरूपी देवतावृन्दों का अभीष्ट पूर्ण हुआ, उनका अपहृत यज्ञभाग पुनः करतलगत हुआ है; सुतरां देवतावृन्दों के आनन्द की अवधि नहीं है। अब वे विशिष्ट चैतन्य होते हुये भी अखण्ड चैतन्य के साथ एकान्त अन्वित हैं, अखण्ड आनन्द के स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ हैं; इसीसे उनके मुखमण्डल में हर्षोत्फुल्लभाव प्रकाशित हो रहा है।

यद्यपि इन्द्रही देवता प्रधान है, तथापि अग्नि देव ही को पुरोगामी कियागया है। अग्नि वागिन्द्रिय के अधिपति हैं। स्तुति भी वाक्यों की समष्टि मात्र होती है; सुतरां वागाधिष्ठित चैतन्य को अग्रगामी करसकने से ही स्तवादि कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न हो सकता है। इस प्रकार स्थिर करके ही इन्द्रादि देवतावर्ग ने अग्निदेवही को प्रधान भाव से स्तुतिके नेता किया है। वाक्य के अधिष्ठात्री देवता के प्रसन्न विना हुए, स्तोत्रादि पाठ कभीभी सत्य और प्राणमय नहीं होते।

अच्छा जो हो, देवतावृन्द की पुष्कल स्तोत्र ध्वनि ने दिक् समूह को पवित्र करदिया, विशुद्ध सत्वगुण की शुभ्र प्रभासे दिङ्मण्डल उद्भासित हो उठा, देवतागण भक्ति विनम्र मूर्त्ति से कात्यायनी का स्तवन करने लगे। कात्यायनी—जगदीश्वरी। ब्रह्मवित् पुरुषों की एकान्त आश्रयणीय हैं इससे 'मा' हमारी कात्यायनी नाम से सुपरिचित हैं। ये ही सगुण ब्रह्म हैं। स्तवादि सगुण ब्रह्म ही का तो होता है।

देवी प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्ज्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवी चराचरस्य॥२॥

अनुवाद—हे देवी! हे शरणागत-जन-दुःखहारिणी! तुम प्रसन्न होओ! हे अखिल जगत की जननी! तुम प्रसन्न होओ। हे विश्वेश्वरी! तुम प्रसन्न होओ। हे देवी! तुम इस विश्व की रक्षा करो। तुम्ही तो चराचर की (एकमात्र) अधिश्वरी हो।

व्याख्या—हे मा! तुम प्रपन्न जनों की आर्त्ति हरण करती हो। जो तुमको एकान्त आश्रय जानकर तुम्हारे ही अभय चरणों में शरण लेता है, वह फिर चाहे जितना बड़ा दुराचारी, जितना बड़ा मूर्ख ही क्यों न हो, तुम स्वयं उसकी सर्वविध आर्त्ति, सर्वविध कातरता, दीनता विदूरित कर देती हो। मा! तुम हमारे प्रति प्रसन्न होओ।

हम जिससे तुम्हारे ही चरणों में आश्रय ले सकें। अरे हमारे हृदय में ऐसा बल नहीं है, हमारे हृदय में न ऐसा विश्वास ही है, जिससे तुमको ही एकान्त आश्रय जानकर, निर्विचार से तुम्हारी गोदी में मा कहकर झाँप देकर पड़सकें। तथापि तुम हमको अपने आश्रित करलो। फिर क्यों पार्थिव वस्तुओं के आश्रय में मिथ्याभिमान के कल्पित मैं का परिपोषण करना होगा ? जिससे सर्व छोड़ कर एकमात्र तुम्हारा शरणागत होसकूँ, वही करो मा, वही करो; तुम प्रसन्न होओ !

अरे 'मा' तुम अखिल जगत की मा हो, सुतरां हमारे प्रति तो तुम प्रसन्नही हो। हम कुपुत्र है इससे तुमतो फिर कुमाता हो नहीं सकतीं। हम अकपट प्राणों से मा बोलकर तुमको नहीं पुकारते, पुकार ही नहीं सकते। इसलिये तुम तो फिर हमें दूरमें न ही ठेल दे सकोगी। क्योंकि तुम जो हमारी मा हो। हे विश्वेश्वरी ! तुम्हारे प्रसन्न होने ही से हमारे सब अभीष्ट पूर्ण होंगे। अरे (मा) कितने जन्म जन्मान्तरों से केवल तुम्हारी प्रसन्नता विधान के लिये कितने घात प्रतिघात, कितने पेषण सह्य करता आरहा हूँ; किन्तु कहाँ, तुम जो नित्य प्रसन्ना, नित्यतृप्ता हो, इसकी उपलब्धि तो कर नहीं सका ? जब तक तुम्हारा बहुभावों में आत्मप्रकाश देखूँगा, तबतक तुम्हारी प्रसन्नता को कैसे समझूंगा ? अरे मा ! तुम्हारे मुख से निर्गत मात्र एक बात सुनने के लिये कितने काल से, कितने नैराश्यों को हृदय में लुकायित रखता हुआ, तुम्हारे मुख की ओर देखरहा हूँ—कितने आघातों को सह्य करता हुआ ज्ञाने अज्ञाने, कपटे अकपटे, इच्छा अनिच्छा से मा बोलकर पुकार रहाहूं। तुम प्रसन्न होउ मा ! एकबार बोलो मैं बहु नहीं हूं मैं एक हूँ।" तुम्हारे मुख निर्गत यह एक बाणी सुन लेने ही से तो हमारा जीवन धन्य हो जाय, अनादि जन्मों का जीवत्व बन्धन खुल जाय, और तुम्हारा प्रसन्नभाव भी हमारे प्रतीति योग्य होजाय।

मा, तुम विश्वेश्वरी हो, तुम ही इस विश्व की रक्षा करती हो। यह विश्व तुमको नहीं देख पाने से, तुम्हारी सत्ता को अनुभव नहीं

कर सकने से, तुहारी प्रसन्नता को न समझ सकने से, वहिर्मुखी धावित हो रहा है। दिन दिन ध्वंस की ओर अग्रसर हो रहा है ओ मा बचाओ! रक्षा करो! इस वहिर्मुखी तीव्रगति से इस विश्व को बचाओ! ध्वंस से रक्षा करो! क्यों नहीं करोगी तुम जो चराचर की एकमात्र अधिश्वरी हो। स्थावर जङ्गम जहां पर जो कुछ है, तुमही तो उस सबकी एकमात्र नियन्त्री हो। अपने जगत की तुम नहीं रक्षा करोगी तो, और कौन करेगा मा? इसीसे कातर प्राणों से बोलता हूं, ठीक इसी प्रकार प्रति जीवों में शुम्भ वध करके ध्वंस के मुखसे इस विश्व की रक्षा करो।

——

आधारभूता जगतस्त्वमेका महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैत दाप्याय्यते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये ॥३॥

अनुवाद—तुमही एकमात्र जगत की आधार स्वरूपा हो। क्योंकि महीस्वरूप से अवस्थान करती हो। फिर जलस्वरूप से अवस्थान करती हुई समग्र विश्व को आप्यायित करती हो। मा, तुम्हारा वीर्य अलङ्घनीय है।

व्याख्या—मा, तुम जो आधार-शक्ति रूपिणी जगद्धात्री हो, सो तुम्हारी मही मूर्त्ति को देख कर ही हम कुछ अंशों में समझ सकते हैं। मही रूपसे मृत्तिका रुपसे यावतीय पदार्थों को तुम मा की ही तरह हृदय पर लिये हुये हो। न कोई विकार है, न कोई विकल्प है; कौन अनादि काल से तुम मही रूप से मा-ही बनकर, इस जीव जगत को धारण कररही हो। केवल यही नहीं, फिर जलमयीं मूर्त्ति से सभी जीवों को आप्यायित कररही हो—स्निग्ध कररही हो। शस्यादि-रूप से क्षुधानिवृत्ति, एवं जलरूप से तृष्णानिवारण करती हुई प्रतिनियत मातृत्व का परिचय देरही हो। माता जैसे स्तन्यपायी शिशु को वक्षपर धारण करके, स्तन्यदान से उसकी क्षुधा तृष्णा विदूरित कर देती है, ठीक उसी प्रकार मा तुम भी महीरूप से इस जीव जगत् को

हृदयपर धारण कर अपरूप से-रसरूप से प्रत्येक जीव को आप्यायित करती हो—परिपुष्ट करती हो। मा! एकाधार से तुम इस जगत का धारण एवं पोषण करती हुई जिस अतुलनिय प्रभाव का परिचय दे रही हो, तुम्हारे उस वीर्य प्रभाव को ईश्वरादि भी लङ्घन करने में समर्थ नहीं होंगे। मा, इसीलिये ही तुम अलङ्घवीर्य्या हो।

रस ही तुम्हारा रूप है। तुम्ही तो हो आत्मा! तथापि तुमही मही स्वरूपा, अप स्वरूपा हो। सर्व्वभेदातीत आत्मा तुम हो, तथापि स्वगत भेद-विशिष्ट होकर क्षिति अप प्रभृतिरूप से जगत का धारण पोषणादि कार्य सम्पन्न करती हो। मा! तुम्हारा वीर्य तथार्थ ही अलङ्घनीय है।

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य वीजं परमासि माया।
सन्मोहितं देवि समस्तमेत-त्त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥४॥

अनुवाद—तुम वैष्णवी शक्ति हो, तुम अनन्त वीर्या हो, तुमही विश्व का वीज हो, तुमही परमा माया हो। हे देवि! तुमने इस समस्त जीवजगत को मुग्ध कर रक्खा है; फिर तुमही प्रसन्न होकर इस जगत की (जीवो को) मुक्ति हेतु स्वरूपा होते हो।

व्याख्या—मा! तुम वैष्णवी शक्ति—सर्व्व व्यापिनी जगत् पालन कारिणी महती स्थिति शक्ति हो। इस विश्व के प्रति परमाणु तुममें ही अवस्थित हैं। तुम अनन्तवीर्या हो। तुम्हारे वीर्य्य वीभव की सीमा नहीं। हे मा! जव तुम सर्व्वव्यापिनी वैष्णवी शक्ति रूप से सन्तान के सामने आत्मप्रकाश करती हो, तव सत्य सत्यही तुम अनन्तवीर्य्या रूपसे प्रतिभात होने लगती हो। तुम्हारे उस वीर्य प्रभाव को उस समय अतिक्रम करना वा इयत्ता करना एकान्त ही असम्भव जान पड़ता है। तुम जो केवल इस व्यक्त विश्वरूप से आत्म प्रकाश करती हुई अनन्त वीर्य्या वैष्णवी शक्ति नाम से परिचित होते हो, सो नहीं; इस विश्व के वीजरूप से, इस सृष्टिप्रपञ्च के आदिम कारण रूपसे अव्याकृत

रूपसे भी तुमही अवस्थिता हो। वीज रूप से तुम परमा, एवं वैष्णवी रूप से तुम माया नामसे अभिहित होती हो। मा, इस सृष्टिप्रपञ्च रूप से—व्यक्त विश्वरूपसे तुम माया हो, और सृष्टि की अव्यक्त वीज स्वरूप से तुम परमा माया हो। सांख्य शास्त्र ने तुम्हारे इस परमा स्वरूप को ही मूल प्रकृति कहा है।

मा ! इस द्विविध रूप से तुम्हारा दो प्रकार कार्य देखने में आता है। जव तुम माया मूर्त्ति से प्रकटित होती हो, अर्थात् व्यक्त प्रपञ्च रूपसे आत्म प्रकाश करती हो, तव तो "सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्" हो, और जव परमामूर्त्ति से प्रकटित होती हो, तब "त्वं वै प्रसन्ना भुविमुक्ति होतुः" हो। एक भूर्त्ति से भोगवती, और दूसरी भूर्त्ति से तुम मोक्षदायिनी हो। माया स्वरूप से तुम समस्त जगत को मुग्ध करके रखती हो—स्वकीय स्वरूप की उपलब्धि नहीं करने देती। तव जीव नानाभावों से तुम्हारी मायिक मूर्त्ति दर्शन करके, उसको ही आयत्त (अपने अधिकार में) करने के लिये धावमान होता है। जो रूप रसादि वा काम काञ्चनादि विषयों के मोह में मुग्ध हैं, सो तो प्रत्यक्षभाव से ही तुम्हारे कर्त्तृक सन्मोहित हैं। और जो तुम्हारे शरणागत न होकर नानारूप साधनाओं का अनुष्ठान करते हैं, वे भी सिद्धि शक्ति यश प्रतिष्ठा प्रभृति में से एक न एक को लेकर मुग्ध रहते हैं। मायावी मनुष्य (वाजीगर) जैसे दुर्वल मनुष्य को सन्मोहन मन्त्र से आविष्ट कर रखता है, ठीक तैसे ही न जाने कौन आनादि काल से तुम इस जीववृन्द को आविष्ट किये हुए हो। ये किसी भी तरह से तो तुम्हें नहीं चाहते वा चाह सकते हैं, तुम्हारे दिये (जगत के) साज, खिलौनों को लिये हुए ही अपने जीवन को कृतार्थ समझते हैं। तुमको चाहने का (प्राप्त करनेका) कुछ प्रयोजन है, उसे सोच भी नहीं सकते। ऐसा ही अजेय यह मोह है। हे मा, यह जो तुम्ही हो ! तभी तो अजेय है। यदि तुम्हारे भिन्न अन्य कोई इस मोह का रूप धरके आता, तवतो इतनी चेष्टा इतनी कठोरता करके जीव इसे निश्चयही विताड़ित करने में समर्थ होता। किन्तु यह तो

अलङ्घवीर्या मा तुम ही मोहरूप से सामने खड़ी होकर जीवों के आत्मदर्शन के चक्षुओं को ओट किये हुए हो। हे मा! और कितने काल—कितने काल तक "नेत्र बाँधे बैल की तरह" ऐसे घुमाओगी? एक बार अपने सन्तान की "आँखों की टोपी" खोलदो, जिससे वे तुम्हारे अभयपद् के दर्शन करके जीवन सार्थक करें।

अरी मा, तुम्ही तो इस सन्मोहिनी मूर्त्ति से हो! तुम्ही तो इन विषयों के साज से, काम काञ्चन के साज से आकर हमको प्रतिनियत मुग्ध कररही हो, इसे समझ लेने ही से तुम प्रसन्न होती हो—तुम-पकड़ाई देती हो। पकड़ाई देनेही से तुम्हारी वह मोहिनी मूर्त्ति हट जाती है, और नित्य प्रसन्ना मूर्त्ति उद्भासित होती है। तब फिर और कोई विपद नहीं रहजाती, न कोई भय ही रहता है। तुम ही तब परमा प्रकृतिरूप से जननी रूपसे स्नेहभरे जीव को वक्षः पर धारण करके मुक्ति मन्दिर में उपनीत होती हो। इसीसे तो देखते हैं कि—देवतागण तुम्हारा स्तव करते करते-एक ओर तुम्हारी विश्वमोहिनी मूर्त्ति देखकर "सन्मोहितं देवि समस्तमेतत्" कह रहे हैं ओर मोक्षदायिनी प्रसन्न मूर्त्ति देखकर "त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति हेतुः" कहते हुए तुम्हारे ही चरणों में प्रणत होपड़ते हैं। मा, तुम प्रसन्न होओ! तुम जिस नित्य प्रसन्ना मूर्त्ति से हमको नियत हृदय पर धारण किये हुए हो, इसे समझने दो! देवताओं की तरह से हम भी मा मा कहते हुए मुक्ति मन्दिर में उपनीत हों (जा पहुंचें)।

———

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
त्वयैकया पूरितमम्बयैतत् का ते स्तुतिः स्तव्यपरापरोक्तिः ॥५॥

अनुवाद—हे देवि! इस जगतमें समस्त ही विद्या है, यह सब तुम्हारे ही भेद हैं, अर्थात् विभिन्न मूर्त्ति हैं, इस जगत में सभी स्त्री, सभी तुम्हारे अंशरूप से विद्यमान हैं। एकमात्र तुम ही मातृ स्वरूप से

सारे विश्व को पूर्ण किये हुये हो, अतएव फिर तुम्हारी स्तुति क्या? तुम तो स्तव्य के परे हो एवं उक्तिके अर्थात् वाक्य से भी परे अवस्थिता हो (अथवा स्तव्य विषयक परापरवाक्यरूपा जो स्तुति है, सो तुम्हारे सम्बन्ध में एकान्त असम्भव है)।

व्याख्या—पूर्व मन्त्रमें कहा गया है—मा की प्रसन्नता प्राप्त होने ही से साधक का मुक्ति मार्ग उन्मुक्त हो जाता है। मा जब प्रसन्न होती हैं, तब साधक इस जगत को किस प्रकार के भावों से दर्शन करता है, इस मन्त्र में वही प्रकट किया गया है।

हे देवि!—द्योतनशीले! "जगत्सु समस्ता विद्याः" इस जगत् में सभी विद्या है। उपनिषत् कहती है "यया तदक्षरमधिगम्यते सा विद्या" जिसके द्वारा उस अक्षर पुरुष को जाना जाता है सोई है विद्या। 'जगत्सु'—अनन्त जगत में, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड में, समस्त ही विद्या है। ओ मा! जो यथार्थ में मुमुक्षु हुए हैं, जिन्होंने तुम्हारी प्रसन्न मूर्त्ति दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया है, सो सर्वत्र तुम्हारे विद्या स्वरूपही को देखते हैं। जगत में अविद्या नाम से जो ख्यात है, सो भी तो विद्या छोड़कर और कुछ नहीं है, विद्याही तो स्वल्पभाव से प्रकाशित होने के कारण, अविद्या नाम से परिचित होती है, इसे मात्र वही—तुम्हारे तत्वदर्शी सन्तानगण ही उपलब्धि करसकते हैं। इसीसे वे "विद्या समस्ताः" कहते हुये इस समस्तरूपिणी विद्यामूर्त्ति तुम्हारे ही चरणतलों में प्रणत हो पड़ते हैं। प्रश्न उठ सकता है—जब समस्त ही विद्या है तो शास्त्र ने अविद्या शब्द से किसका निर्देश किया है? इस प्रश्न का उत्तर देने ही के लिये देवतागण बोले "तब देवि भेदाः" जो अविद्या है सो विद्यारूपिणी तुम्हाराही भेद मात्र है—विभिन्न मूर्त्तिमात्र है। अरी मा! हम जिसको अविद्या कहकर समझते हैं, वह तो तुम्हारी ही विभिन्न मूर्त्ति है। एका अद्वितीया सर्वभेदरहिता तुमही तो विभिन्न मूर्त्ति से—बहुमूर्त्ति से समस्त रूप से—जगत् रूपसे नित्य अवस्थिता हो। मा! यह जगत् तुम्हारा ही स्वगत भेद है।

सुतरां देवताओं के सामने समस्त ही विद्यारुप से(१) उद्भासित हैं; इसीसे वे अविद्या रूपसे विद्याविरोधी रूप में कुछ भी नहीं देखते।

"स्त्रियः समस्ताः" समस्त रुपसे जगत रुपसे जो प्रतीत होता है, सो स्त्री अर्थात् तुम्हारी ही शक्ति मात्र है। विशुद्ध चैतन्य स्वरूप एकमात्र तुमही, परमपुरुष हो, समस्त रूपसे जगत रूपसे जो कुछ प्रतीती गोचर होरहा है सो सभी स्त्री—सभी तुम्हारी प्रकृति है तुम्हारी शक्ति, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारा व्यवहार है। शक्ति जैसे शक्तिमान के साथ अभिन्न भाव से रहती है, ठीक तैसे ही यह प्रकृति रूपी जगत्, परम-पुरुषरूप तुम्हारे साथ सर्वतोभाव से आलिङ्गित है। वैष्णवों की भाषा में यही राधाकृष्ण का नित्यमिलन है।

मा ! यह समस्त ही सकला तुम्हारी ही कला के अर्थात् अंश के साथ नित्य विद्यमान है। सत्तारूप से चैतन्यरूप से—अस्ति-भातिरूप से तुम्हारी ही कला सर्वत्र विद्यमान है। इसीसे देवतागण कहते हैं—समस्त रूप से जो कुछ प्रतिति गोचर होरहा है, सो है सकला। तुम्हारी कलायुक्त विद्यमान नहीं होता तो तुम्हारी सत्ता और चैतन्य द्वारा उद्भासित न होता तो समस्त कहने के लिये कुछ रहता ही नहीं। यद्यपि मा, कला नामक—अंश नामक तुम में कुछ भी नहीं है, तुम तो नित्य पूर्ण हो तुम अनंश हो—तुममें अंशाशी भेद नहीं है, तथापि जबतक विशिष्ट प्रतिति है, तब तक उसे अंश ही कहने होता है। इसीसे श्रुति ने भी इस जगत को तुम्हारे एकांश में अवस्थित कहते हुये वर्णन किया है।

हे मा ! इसप्रकार जो जगत् को जगत् रूपसे न देखकर विद्या रूपसे देखने में अभ्यस्त हुए हैं, जो इस समस्त को तुम्हारे ही भेद रूपसे, तुम्हारी प्रकृतिरूपसे, तुम्हारी कला रूपसे अर्थात् अंश रूपसे देखने में अभ्यस्त हुए हैं, केवल उन्हीं के सामने तुम्हारी प्रसन्नतामयी

(१) जो विद्या शब्द का अष्टादश विद्यारूप अर्थ करते हैं, उनके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। कारण उनका अर्थ व्याप्य है, और हमारा अर्थ व्यापक है।

मातृमूर्त्ति उद्भासित होती है। उससमय वे उच्चे स्वर से बोलने लगते हैं—"'त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्"। मा तुम्हारे द्वारा यह समग्र विश्व परिपूर्ण है।

साधक! अब प्रथम खण्ड लिखित शक्ति की गोदी में सत्ता के विषय को याद करो। देखो जगतमय मात्र एक अखण्ड सत्ता ही है। वृक्ष है, फल हैं, फूल है, मैं हूं, तुम हो, वह है, यह जो खण्ड खण्ड अस्ति (है द्वारा लक्षित्) है, सो उसी एक अखण्ड अस्ति का ही परिचय प्रदान कररहो है। वही जो अखण्ड सत्ता है; सोई चिति शक्ति, पुरुष वा मा हैं। यही सत्ता अज्ञेय, अथच "ज्ञ" स्वरूप, अग्राह्य अथच ग्रहीतृ स्वरूप हैं। जब हम विशिष्टरूप से उसे समझने की कोशिष करते हैं तब, इस अखण्ड सत्ता के साथही साथ एक शक्ति अर्थात् स्त्रीमूर्त्ति देखते हैं। वृक्ष है—यहाँ पर "वृक्ष" शक्ति, और "है" यही पुरुष है; ऐसेही सर्वत्र समझो। यह शक्ति पुरुष ही की शक्ति है, अन्य कोई नहीं। सत्ता शक्तिमति; अथवा शक्तिही है शत्तामयी। अच्छा, अब देखो, यह जो वृक्ष—इस नामरूप आकार से आकारित शक्ति वा मा हैं, इन्हींने इस जगत को परिपूर्ण कर रक्खा है। देखो जीव! चारो ओर मा को छोड़कर और तो कुछ है नहीं; बोलो—त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्। इसप्रकार देख सकनेही से अर्थात् चिन्मयी महती शक्ति को इस अम्बारूप से—मा रूपसे देख सकने ही से इनकी प्रसन्नता उपलब्धि कर सकोगे। मातृ प्रसन्नता समझ सकने ही से देखोगे "भुविमुक्ति हेतुः"—ये मा ही इस जगत् में एकमात्र मुक्ति का हेतु हैं; ये मा ही तुमको गोद में लेकर मुक्ति मन्दिर में उप-नीत होंगी। तुम धन्य होओगे।

इसप्रकार स्तव करते करते देवतागण विश्वमय मातृ मूर्त्ति दर्शन करने लगे। तब विवश होकर उन्हें बोलना पड़ा "का ते स्तुतिः", ओ मा! तुम्हारी अब स्तुति क्या करें? सभी तो तुमहो। तुमको छोड़ कर कुछ भी तो नहीं है; सुतरां तुम "स्तव्यपरा" स्तव्य के परपार में अवस्थिता हो। स्तुति द्वारा तुम्हारा स्वरूप और आरोपितगुण वर्णित

नहीं होता; कारण तुमतो इन सबसे अनेक ऊपर हो। केवल सोई नहीं स्तुति करने ही से उक्ति वा वाक्यों का प्रयोजन है; किन्तु तुमतो "परोक्तिः" उक्ति अर्थात् वाक्यों के भी परपार में अवस्थिता हो, अवाक्गोचरा-"न तत्र वाक् गच्छति।" सुतरां जिधर ही होकर जाँय तुम्हारी स्तुति अबतो एकान्त असम्भव है। तथापि किन्तु मा! हम वाग् विशुद्धि के लिये तुम्हारा स्वरूप, तुम्हारी महिमा बालकों की तरह कथञ्चित् कीर्त्तन करने का प्रयास कर रहे हैं। तुम क्षमा करो, मा क्षमा करो!

सर्वभूता यदा देवी स्वर्गमुक्ति-प्रदायिनी।
त्वं स्तुता स्तुतये का वा भवन्तु परमोक्तयः ॥६॥

अनुवाद— मा, तुम जब सर्वस्वरूपा द्योतनशीला स्वर्गमुक्तिप्रदा-यिनी हो, तुम जब नित्य स्तुता हो, तो फिर ऐसा क्या स्तव सम्भव हो सकता है, जिससे कि वह स्तुति परमोक्ति अर्थात् यथार्थ-वाक्य युक्त होंगी?

व्याख्या—हे मा! मनुष्यों के लिये, आरोपित गुणवर्णनों का नामही स्तुति है। तुममें तो ऐसे किसी गुणका अभाव ही नहीं है कि जिसका आरोप करके वर्णन किया जायगा। देवताओं के लिये स्वरूप, वर्णन ही स्तुति है। तुम्हारे लिये तो सोभी असम्भव है; कारण तुम्हारा स्वरूप तो तुम्हारे व्यतीत और कोई जानताही नहीं है, जान भी नहीं सकता, अथवा जानने के लिये द्वितीय कोई रहता भी नही। "वेत्तासि वेद्यञ्च" "सवेत्ति विश्वं नहि तस्य वेत्ता" (सोई जाने जाहि देहु जनाई, जानय तुमहि तुमहै हवै जाई) तुम्हारे स्वरूप का वेत्ता द्वितीय कोई है ही नहीं। सुतरां सब प्रकार से ही तुम्हारी स्तुति एकान्त असम्भव है। तुम सर्वस्वरूपा द्योतनशीला हो, स्वभावतः ही तुम स्वर्गमुक्ति प्रदायिनी हो, स्वभावतः ही तुम नित्यस्तुता हो; तुम्हारी फिर स्तुति क्या हो सकती है? वाक्य मन की अगोचरा हो

तुम, सुतरां तुम्हारे सम्बन्ध में हम जो कुछ कहने जायेंगे, सो कभी भी "परमोक्ति नहीं हो सकता।

——

सर्वस्य बुद्धिरुपेण जनस्य हृदि संस्थिते।
स्वर्गापवर्गदे देवि नारायणि नमोऽस्तुते ॥७॥

अनुवाद—हे देवि नारायणि ! तुम सर्वजीवों के हृदयमें बुद्धि रूप से अवस्थान करती हो। तुम स्वर्ग एवं मोक्षदायिनी हो, तुमको प्रणाम है।

व्याख्या—हे मा ! तुम्हारी स्तुति करने में हम एकान्त असमर्थ हैं। इसीसे प्रणाम का अभिनय कररहे हैं। यथार्थ प्रणाम तो कब कर सकेंगे, सो तुम्ही जानो कब तुमको प्रणाम करते जाने में, इस देह मन इन्द्रिय में फिर प्रत्यावर्त्तन नहीं करेंगे, कब तुमको प्रणाम करते करते, तुम्हारे परमधाम में—कैवल्य धाम में स्थान प्राप्त करेंगे, सो तुम्ही जानो मा। यथार्थ प्रणाम न कर सकने पर भी, हम प्रणाम के अभिनय करने की चेष्टा करेंगे, फिर तुन्हारी जिस दिन इच्छा हो, उसदिन यथार्थ (प्रणाम) प्रणत करा लेना।

मा, तुम सर्व जीवों के अन्तर में बुद्धि रूप से अवस्थिता हो। जो निश्चयात्मिका वृत्ति एक ओर जगत् संस्कार एवं दूसरी ओर निर्गुण आत्मा की प्रतिच्छाया परिग्रह पूर्वक सर्व जीवों के अन्तर में विद्यमान है, उस बुद्धि रूप से भी तो तुम्ही हो मा ! तुमको बुद्धिरूप से पाने ही के लिये तो ब्राह्मणगण त्रिसन्ध्यामें "धियोयोन; प्रचोदयात्" कहते हुए तुम्हारे निकट से धी भिक्षा करते हैं। यही बुद्धि जब सत्वगुण प्रधान होती है—निर्मल होती है, तब इसके एक ओर स्वर्ग अर्थात ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य्य, एवं दूसरी ओर अपवर्ग अर्थात् मुक्ति का स्वरूप उद्भासित होता है ! जीवन्मुक्त साधकगण इसी बुद्धि में अवस्थान करके ही एक ओर स्वर्गभोग, दूसरी ओर जगदतीत सत्ता का—अपवर्ग का आभास सम्भोग करते रहते हैं। इसीसे तो, तुम बुद्धिरूपसे स्वर्गापवर्गदायिनी मा हो ! तुम नारायणी हो प्रति नर

में—प्रति जीव में इस बुद्धिरूपसे तुमही अवस्थान करती हो। नर समूह जिसे अयन अर्थात् आश्रय करके अवस्थित हैं, सो नारायणी तुमहो। तुम नारायणी हो इसी से तो हम नर हैं। हे नारायणि! तुमको प्रणाम—कायमनोवाक्य से तुम्हारे चरणोंमें प्रणत होता हूँ। प्रणाम ग्रहण करो मा, प्रणाम ग्रहण करो।

——

कलाकाष्ठादिरुपेण परिणामप्रदायिनि।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तुते ॥८॥

अनुवाद—तुम कला काष्ठादिरूपसे (काल-परिच्छेदरूपसे) जगतका परिणाम साधन करती हो। तुमही इस विश्व की संहारकारिणी शक्ति हो; तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, तुम काल मूर्त्ति से हमेशा विश्व के परिणाम अर्थात् परिवर्त्तन साधन करती रहती हो। कलाकाष्ठादि तुम्हारी उसी अखण्ड काल मूर्त्तिका कल्पित विभाग है। अष्टादश निमेषों की एक काष्ठा, त्रिंशत् काष्ठा में एक कला, इसी प्रकार पल दण्ड महूर्त्त दिवस सप्ताह मास ऋतु संवत्सर युग कल्प प्रभृति, कितने कितने कल्पित विभाग हैं। मा, तुम्हारी कालमूर्त्ति अखण्ड—अपरिच्छिन्न होनेपर भी, हमने उसकी सत्ता की उपलब्धि करने के लिये, पूर्वोक्त प्रकार से कलाकाष्ठादिरूपसे कितने परिच्छेद किये हैं। उसी परिच्छिन्न काल रूप से तुम इस जीव जगत का हमेशा परिवर्त्तन साधन करती हो। इसी कालरूपसे तुम परिणामों के भीतर होकर विश्वकी उपरति अर्थात प्रलय साधन करती हो। ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि ईश्वरगणों की भी प्रलय कारिणी हो तुम। तुम्हारे सामने विश्वकी उपरति अति तुच्छ है। मा तुम असीमशक्तिसम्पन्ना होते हुये भी प्रति नर में नारायणी-मूर्त्ति से—व्यष्टि मातृ मूर्त्ति से अवस्थान करती हो; तुम समग्र जगत की मा होते हुये भी प्रति नर की मा हो, इसीसे तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम है।

सर्व्वमङ्गल-मङ्गल्ये शिवे सर्व्वार्थ-साधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥६॥

अनुवाद—तुम सर्व मङ्गलों की मङ्गल कारिणी हो, तुम शिवा, (मङ्गलमयी) हो, तुम सर्व्वाभीष्टसाधिका हो। तुम शरण्या (आश्रयणीया) हो, तुम त्रिनयना, तुम गौरी, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मङ्गल शब्द के अनेक अर्थ हैं। अभिप्रेतार्थ सिद्धि का नाम हैं मङ्गल, सबका जो मङ्गल है, वही है मङ्गल्य (स्वार्थमें य प्रत्यय)। अथवा इस जगत् में जो कुछ मङ्गल हैं, उनका भी जो मङ्गल विधान करती हैं, सोई सर्व्वमङ्गल-मङ्गल्या हैं। लौकिक मङ्गल आठ हैं। ब्राह्मण गो हुताशन हिरण्य सर्पिः आदित्य अप् एवं राजा; ये अष्टविध मङ्गल ही सर्वमङ्गल शब्द का अर्थ है। मा हमारी इन मङ्गलों की भी मङ्गल विधानकारिणी हैं! अथवा सर्व्व शब्द का अर्थ है शिव; उनकी मङ्गल विधायिनी हैं। इन सब अर्थों को छोड़कर हमने सर्व्व मङ्गलमङ्गल्या शब्द का और भी एक अर्थ समझा है—सर्व्व ही मङ्गल है, उसकी मङ्गल विधायिनी। सर्व्व रूप से जो कुछ उपलब्धि हो रहा है, सो चाहे मिथ्या हो, भ्रान्ति हो, जड़ हो, वह चित् छोड़कर अन्य कुछ नहीं है, साधक जब इसे समझने लगता है तब उसके सामने सभी मङ्गल रूपसे प्रतिभात होने लगता है। एकमात्र चित् वस्तु ही तो मङ्गल है, चित् व्यतीत जो कुछ है सो सभी अमङ्गल है। चैतन्य का विकाश रहता है तभी तो जीव जीवित अवस्था में मङ्गल स्वरूप है; इसी से जीवित मनुष्य के नाम के पूर्व मङ्गल सूचक श्री शब्द का प्रयोग होता है। गतप्राण जीव जो अमङ्गल स्वरूप है इसे सभी जानते हैं। जो हो, सर्व्व जब चित् स्वरूपमें उद्भासित होता है तब सभी मङ्गलमय होता है। तब फिर अमङ्गल कहने को कुछ नहीं रहता। उस मङ्गल की जो विधानकर्त्री हैं—जिनके मङ्गलमय प्रकाश से "सर्व" प्रकाशित है उन्हीं को हम सर्व मङ्गल-मङ्गल्ये कहकर आह्वान करते हैं। जिनके—जिन सच्चिदानन्दमयी के अनुप्रवेश से सर्व्व का

मङ्गलमय भाव है, सो सर्वमङ्गलविधायिनी होकर भी स्वयं मङ्गलमयी हैं; इसीसे देवतागण शिवे कहकर सम्बोधन कररहे हैं। ओ मा! जीव जब तुमको ऐसे भाव से सर्वावस्था में मङ्गलमयी मङ्गलदायिनी कहकर समझ सकता है, तभी सर्वाभिष्ट-साधिका रूपसे तुम्हारा प्रकाश होता है, जीवकी अभिष्ट सिद्धि होती है। जीव तब पूर्णकाम होता हुआ तुम में मिल जाता है।

मा! तुमही शरण्य—जीव की एकान्त आश्रयणीय हो। त्र्म्बके! त्रिनयने! चन्द्र सूर्य एवं अग्निरूप त्रिनेत्र लेकर, स्थूल सूक्ष्म कारण इस त्रिविध प्रकाश को लेकर नित्य ही तुम विराजमान हो। और स्मृति कल्पना आशा रूप—भूत भविष्यत् वर्त्तमानरूप कालत्रयदर्शी त्रिनेत्र विशिष्ट होकर तुम नित्यही वर्त्तमान हो। मा, तुम गौरी, अति मनोहरा, अति सुन्दरी अति सौम्या हो। तुम नारायणी हो तुम्हें प्रणाम है।

सृष्टिस्थिति विनाशानां शक्तिभूते सनातनि!
गुणाश्रये गुणमये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१०॥

अनुवाद—मा, तुम सृष्टि स्थिति विनाश की शक्तिस्वरूपा हो, तुम गुणत्रय की आश्रयस्वरूपा होती हुयी भी गुणमयी हो। तुम नारायणी हो तुमको प्रणाम।

व्याख्या—चैतन्यमयी मां! शक्ति ही तो तुम्हारा स्वरूप है, सो इस जगत के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण में तुम्हारी सृष्टि स्थिति प्रलय मूर्त्ति के देखने ही से अनायास में समझ सकते हैं। तुमको पकड़ने का वा समझने का यदि कुछ है तो यही त्रिविध प्रकाश है। तुम सनातनी हो, तुम नित्या, अव्यक्तस्वरूपा होने परभी सृष्टि स्थिति और प्रलय मूर्त्ति से सर्वत्र उद्भासित होरही हो। पुराण और तन्त्र शास्त्रों में वर्णित है—महाकाली से ही, ब्रह्मा विष्णु और शिव का जन्म हुआ है, मा सत्यही तो तुमसे सृष्टि स्थिति प्रलयरूप त्रिविध शक्ति का

प्रकाश होता है। ये त्रिविध शक्ति वास्तव में विभिन्न तीन शक्ति नहीं एकही चिति शक्ति का त्रिविध स्पन्दन मात्र है। उस शक्ति का स्वरूप क्या है, सो एकान्त अव्यक्त होनेपर भी, इस त्रिविध स्पन्दन के द्वारा ही उसकी सत्ता उपलब्धि योग्य होती है। हे मा! तुम्हारा यह अव्यक्त शक्ति स्वरूप जिस प्रकार व्यक्तभावापन्न होता है, उसकी ओर लक्ष्य करके ही देवतागण कहते हैं—तुम गुणाश्रया, तुम गुणमयी हो। सत्व रजः तमः, इस त्रिगुणका आश्रय करके ही तुम्हारा यह त्रिविध स्पन्दन है। अथवा तुम्हारे स्वेच्छाकृत ये ही त्रिशक्ति त्रिगुण आख्या पाती है। गुणत्रय जब तुम्हारे आश्रयसे प्रकाशित होता हैं, तो तुमही स्वयं गुणमयी होकर नारायणी मूर्त्तिसे हमको अङ्क में धारण किये हो। मा तुमको प्रणाम। हे मा! हमको इस गुणमयी अवस्थामें से अपनी उसी सनातनी स्वरूप में—जहाँ पर सृष्टि स्थिति प्रलय का त्रिविध आवर्त्तन (चक्कर) नहीं है, वहीं पर ले चलो मां वहीं पर ले चलो।

——

शरणागतदीनार्त्त-परित्राण परायणे।
सर्व्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥११॥

अनुवाद—मा, तुम शरणागत दीन एवं आर्त्त जनों की परित्राण-परायणा हो। तुम सबकी आर्त्तिहरणकारिणी देवी हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा! जिसदिन जीव तुम्हारे चरणों में शरणागत, तुम्हारे अभाव से दीन एवं तुम्हारे विरह से आर्त्त हो सकता है, उस दिन ही तुम्हारे पूर्वोक्त त्रिशक्तिमयी त्रिगुणमयी स्वरूपकी उपलब्धि करने में समर्थ होता है। और उसीदिन मा तुमभी सत्य सत्यही परित्राणपरायणा मूर्त्ति से आत्मप्रकाश करके जीव की समस्त आर्त्तिको दूर कर देती हो, तब जीव की जन्ममृत्युरूप संसारार्त्ति, अनन्त जीवनों का कातर क्रन्दन, हमेशा के लिये निवृत्त होजाता है। मा, तुम्हारे चरणों में शरणागत हो सकने ही से जीव तुम्हारी प्रथम शक्ती

को अर्थात् सत्वगुणमय स्वरूप को अवधारण कर सकता है। तुम जो एकमात्र आश्रय, तुम्हारी सत्ता ही से यह जगतकी सत्ता है, इसे समझ के, सत्य सत्यही सर्व्वधर्म परित्याग पूर्वक तुम्हारे शरणागत होता है, तुम्हारे सत्वगुणमय स्वरूप की उपलब्धि कर सकता है।

तब जीव को दीनता आती है। अनन्त ऐश्वर्य्यमयी तुम्हारी,——कोटि ब्रह्माण्डों की अधीश्वरी तुम्हारी लीलाविलास का दर्शन करने ही से जोवकी स्वकीय (अपनी) दीनता सम्यक् रूपसे परिष्फुट हो उठती है। मैं कितना दीन, कितना अभावग्रस्त हूं, जीव उसे समझने लगता है। "हमारी मा अनन्त ब्रह्माण्डों की अधिश्वरी है" इसे समझने लगने ही का नाम तुम्हारी द्वितीयशक्ति की अर्थात् रजोगुणमय स्वरूप की उपलब्धि है। अपनी दीनता यथार्थभाव से उपलब्धि करने की सामर्थ्य आनेही से, मातृ-ऐश्वर्य बोध किया जाता है। ना ना, मातृ ऐश्वर्य्य की अनुभूति ही आत्म-दीनता प्रतीति की हेतु है। मा जोव सन्तान गणोंको अपने चितृस्वरूप की विशेषभावसे उपलब्धि करानेही के लिये तो तुम्हारी रजोगुणमयी इस ईश्वरीमूर्त्ति का विकाश हुआ है।

इसकेबाद आर्त्त! तुम्हारे निरवच्छिन्न आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि करने के लिये जीव को आत्त होने होता है। इस जगत की किसी भी वस्तु में तो आनन्द नहीं है, आनन्द की भंडार तो एकमात्र तुम्ही हो, इसके समझ लेने का हो तो बहिर्लक्षण है जीवका आर्त्तभाव। तुम्हारे अभाव के लिये जो विरह वेदना है, वही तो यथार्थ आर्त्ति है। इस प्रकार आर्त्तभाव उपस्थित होने ही से जीव तुम्हारे आनन्दमय स्वरूपका वा तमोगुणमयी मूर्त्तिका साक्षात्कार करके धन्य होता है, निरानन्द के परपार चला जाता है।

मा, जब हम "निराश्रयं मां जगदीश रक्ष" कहते हुये एकान्त निराश्रय बोधसे तुम्हारे अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं—शरणागत होते हैं, अर्थात् मैं अब जो तुम्हाराही एकान्त आश्रित हूं, इसबात को भली प्रकार समझ सकते हैं, तबही तुम्हारा सत् स्वरूप हमारे सामने

उद्भासित होता है—हम सत्यप्रतिष्ठ होते हैं। बाद में ब्रह्माण्डमय तुम्हारा अनन्त ऐश्वर्यविलास प्रत्यक्षकरके, जब हम अपनी दीनता विशेषभाव से अनुभव करसकते हैं, जब उत्तराधिकार सूत्र से तुम्हारे उस ऐश्वर्यसम्भार को प्राप्त करने के लिये लालायित होते है, तबही तुम्हारा चित् स्वरूप उत्भासित हो उठता है। तब तुमको सर्वत्र प्राण रुपसे—चैतन्यरूप से दर्शन करते हुए हम प्राणप्रतिष्ठ होते हैं। और सर्व शेषमें जब यह जन्म मृत्यु, यह देहधारण, यह चाञ्चल्य यथार्थ ही प्राणों के भीतर एक आर्त्ति को फुटाने में समर्थ होते है, तवही देखते हैं—तुम आनन्दघन मूर्त्ति से नित्यही उद्भाषित हो रही हो। तुममें वा हममें आनन्द का अभाव वा चाञ्चल्य किसी भी कालमें नहीं। तुम हम नित्य स्थिर, नित्य आनन्दमय हैं। हे मा, हे नारायणि, हे आर्त्तिहारिणि, तुमको प्रणाम है। तुम हमें इसी प्रकार से पहिले शरणागत दीन एवं आर्त्त करलो, फिर सत्य में प्राणमें और आनन्दमें प्रतिष्ठित करो। हमारा प्रणाम सार्थक हो। हे मां! जब तक हममें ये तीन लक्षण प्रकाशित नहीं होंगे, तबतक तो तुम्हारी परित्राण परायणा मूर्त्ति के प्रत्यक्ष करने की आशाही नहीं! इसीसे तुम अकृतिसन्तान को अपने आत्मप्रकाश के योग्य कर लो—शरणागत दिनार्त्त करलो।

हंसयुक्तविमानस्थे ब्रह्माणी रूपधारिणि।
कौशाम्भःक्षरिके देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१२॥

त्रिशूल चन्द्राहिधरे महावृषभवाहिनी।
माहेश्वरीस्वरूपेण नारायणि नमोऽतु ते ॥१३॥

मयूरकुक्कुटवृते महाशक्तिधरेऽनघे
कौमारीरूपसंस्थाने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१४॥

अनुवाद—मा, तुम हंसयुक्त विमान में अवस्थान करती हुई ब्रह्माणीरूप धारण पूर्वक कमण्डलु स्थित कुशपूत बारि क्षरण करती हो। तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम है। तुम त्रिशूल, चन्द्र एवं सर्प धारण करती हुई महावृषभपर आरोहणपूर्वक माहेश्वरी स्वरूपसे आविर्भूत होती हो। हे नारायणी; तुमको प्रणाम है। तुम मयूरपुच्छ-पारिशोभिता महाशक्तिधारिणी कौमारी रूपसे प्रकाशित होती हो। हे नारायणी, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, तुम ब्रह्माणी हो। विराट मनरूपसे इस विश्व कल्पना को तुमही धारण करती हो। जीवभावीयव्यष्टिमन तुम्हारा हंसयुक्त विमान है। कौशाम्भः (कमण्डलु स्थित कुशपूत वारि) क्षरण करती हो। विराट कर्माशय में से जैसे संकल्प-शक्ति की अनु-प्रेरणा करती हो, जीव-कर्माशय में से वैसे ही कर्म का स्फुरण होता है। तुम जीव को जब जैसे कर्म के सन्मुखीन करती हो जीव तब तैसे ही कर्म में अभिमान करता है। तुम्हारे इस कौशाम्भः क्षरण व्यतीत जीव के कर्म पिपासा की निवृत्ति नहीं होती। तुम देवी द्योतनशीला स्वप्रकाशरूपा नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

हे मा ! तुम माहेश्वरी मूर्त्ति से त्रिपुटीज्ञानरूप त्रिशूल, मनोरूप चन्द्र एवं कुलकुण्डलिनीरूप अहि (सर्प) धारणपूर्वक धर्मरूपी महा-वृषभपर आरोहण पूर्वक आविर्भूत होती हो। तुम प्रति नर में ही इस-प्रकार आत्मप्रकाश करती हो, हे नारायणि तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

मा, तुम मयूर-कुक्कुटवृता—मयूरपुच्छ अथवा श्रेष्ठ मयुर परि-शोभिता हो। (कुक्कुट शब्द का अर्थ पुच्छ वा श्रेष्ठ) मा जीव जब मयूरधर्मी होता है—कुटिल वृत्तिरूप भुजङ्ग का विनाश करने को उद्यत होता है तब श्रेष्ठ मयूर परिशोभित कौमारी रूप से आविर्भूत होकर अमर (देव) सैन्यगणों का परिचालनभार ग्रहण पूर्वक असुर कुल विनाश करने को उद्यत होती हो। जीव सन्तान तब असुरभीति से परित्राण पाते है। मा तुम स्वयं अनघा—अघ (पाप) रहिता हो ;

इसीसे तुम्हारे दशन से जीव भी अनघ होते हैं—निष्पाप होते हैं। भेद ज्ञानका नाम ही है अघ द्वैतप्रतीति ही यथार्थ पाप है। मा, तुम्हारे दर्शन से जीवों की द्वैतप्रतीति का विलय होता है। जीव ब्रह्म हो जाता है ("जानत तुमही तुम्है ह्वै जाई") जीवत्व रूप पाप हमेशा के लिये विनष्ट होजाता है। तुम नारायणी हो तुमको प्रणाम।

शङ्ख चक्र गदा शार्ङ्ग गृहीत परमायुधे।
प्रसीद वैष्णवीरुपे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१५॥
गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृत वसुन्धरे।
वराह रुपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१६॥
नृसिंह रुपेणोग्रेण हन्तुं दैत्यान् कृतोद्यमे।
त्रैलोक्यत्राणसहिते नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१७॥

अनुवाद—मा, तुम शङ्ख, चक्र गदा एवं शार्ङ्गधनुरूप श्रेष्ठ आयुध धारिणी वैष्णवी हो, तुम प्रसन्न होओ! हे नारायणि, तुम को प्रणाम! तुमने वराहरूप से भीषण महाचक्र धारण एवं दंष्ट्रोंद्वारा वसुन्धरा का उद्धार किया है। हे शिवे, हे नारायणि, तुमको प्रणाम! तुम अति उग्र नृसिंह रूप धारण पूर्वक दैत्य कुल के निहत करने को उद्यत हुई थीं, तुम त्रैलोक्यत्राणकारिणी नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, वैष्णवी वाराही एवं नारसिंही, इन तीनों ही रूपों से हम विष्णुशक्तिरूपिणी तुम्हारी विशेष अभिव्यक्ति देखते हैं। महाप्राण रूपिणी महती स्थिति शक्ति तुम शङ्ख चक्र गदा एवं शार्ङ्ग धनुः धारण किये हुये हो, अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त नादमय इस संसार चक्र को स्नेहमय प्रणवाकर्षण से दिन दिन मोक्षाभिमुखी कर रही हो। सूरिगण अहर्निश तुम्हारे इस विश्वव्यापी परमपद को आकाशव्यापी दृक्शक्ति की तरह अवलोकन करते हैं। 'साधकगण भी आचमन की सहायता से स्वकीय व्यष्टि भाव को तुम्हारे ही

परमपद के साथ सम्बन्ध विशिष्ट करने के प्रयासी होते हैं। तुम नारायणी हो, प्रति नर तुम्हारे ही एकान्त आश्रित है, तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम। प्रसीद—तुम प्रसन्न होओ।

माँ, तुम यदि बाराही मूर्त्ति से प्रलयपयोधिजल से निमग्न इस वसुन्धरा का उद्धार न करतीं, अर्थात् अव्यक्त—विश्वबीज को व्यक्त अवस्था में न लातीं, तो यह वसुन्धरा, यह चराचर कितने काल अज्ञान तिमिर में सुषुप्त रहता उसका कौन निर्णय कर सकता है? जीव समूह काम-कर्ममय इस स्थूल भाव का अवलम्बन करके ही जाने किंवा अजाने में मङ्गल की ओर—मोक्ष की ओर अग्रसर हो रहा है, यह तुम्हारी ही कृपा है। तुम शिवा—मङ्गलमयी नारायणी हो, तुम को प्रणाम।

हे माँ! इस बाराही मूर्त्ति के साथ ही साथ तुम्हारी नारसिंही मूर्त्ति का स्वरूप हमारे स्मृति पट पर फूट उठता है। ओफः! वह कैसा उग्र रूप था मा। दैत्य कुल निहत हुआ। हिरण्यकशिपु की स्थूल देह पर्य्यन्त तुमने स्वहस्त से खण्ड खण्ड कर दी, त्रिलोक ने असुर अत्याचार से परित्राण प्राप्त किया।

माँ, एक दिन तुम ने प्रह्लाद के प्रबल सत्यज्ञान के प्रभाव से जड़ स्फटिक स्तम्भ भेद करके स्वकीय चैतन्यमय स्वरूप को उद्भासित किया था। आज इस जड़त्व के युग में इस अनुभूतिहीन प्राणहीन मृत-कर्मानुष्ठान के युग में तुम एक बार फिर सत्यमूर्त्ति से प्रकटित होओ। जीवों के जड़बुद्धि रूप स्फटिक स्तम्भ को भेद करके चैतन्य मय आत्म स्वरूप को उद्भासित करो, जीवों का संशय तिरोहित होवे। मनुष्य जड़त्व का मोह परित्याग पूर्वक चैतन्य में प्रतिष्ठित हों; फिर से सत्य का प्राणों का आनन्द का प्रवाह आकर जगत् को परिप्लावित कर दे। जगत् फिर से सत्य सत्य ही देवतावृन्दों की न्याइं तुम को नारायणी-मूर्त्ति से सर्वत्र सर्वदा दर्शन करके "नमोऽस्तु ते" कहता हुआ प्रणत हो? मा, सन्तान की यह आशा कितने दिनों में-पूर्ण होगी?

——

किरीटिनी महावज्रे सहस्र नयनोज्ज्वले ।
वृत्रप्राणहरे चैन्द्रि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१८॥
शिवदूतीस्वरूपेण हतदैत्यमहाबले ।
घोर रूपे महारावे नारायणि नमोऽस्तु ते ॥१९॥
दंष्ट्रा कराल वदने शिरोमाला विभूषणे ।
चामुण्डे मुण्डमथने नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२०॥

अनुवाद—मा, तुम किरीटधारिणी, महावज्रधारिणी, सहस्र-नयन-परिशोभिता वृत्रप्राण-हरणकारिणी इन्द्राणी हो। तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम। तुमने शिवदूती-रूप धारण करके दैत्य सैन्यगणों को निहत किया है। तुम भयङ्करी एवं घोर निनादकारिणी हो। तुम नारायणी हो, तुम को प्रणाम। हे चामुण्डे! तुम दंष्ट्रा कराल वदना हो, तुम्हारा विभूषण नरमुण्डमाला है, तुम मुण्डासुर मथन कारिणी हो, तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, निर्मल ज्ञान-रत्नस्वरूप किरीट तुम्हारा शिरोभूषण है; इसीसे तुम किरीटिनी हो। फिर तुम ही महावज्रधारिणी हो। श्रुति कहती है—"महद्‌मयं वज्रमुद्यतम्।" मा, तुम महद्‌मय रूप वज्र उद्यत किये हुए हो। तुम्हारे ही भय से सूर्य उदय होता है, तुम्हारे ही भय से वायु प्रवाहित होती है, तुम्हारे ही भय से अग्नि ताप देती है, तुम्हारे ही भय से मृत्यु धावित होती है, तुम्हारे ही प्रशासन से यह विश्व नियन्त्रित है। यही तो मा तुम्हारी वज्रधारिणी मूर्त्ति का स्वरूप है।

तुम सहस्र नयनोज्ज्वला हो। असंख्य नेत्र हैं तुम्हारे—विश्वतश्चक्षु हो तुम मा, प्रत्येक जीव, प्रत्येक क्षुद्रतम परमाणु पर्य्यन्त तुम्हारे उन चक्षुओं में—उस तीक्ष्ण दृष्टि में उद्भासित है? तुम्हारे अगोचर कहीं कुछ नहीं है। मा, अपनी स्नेहभरी सन्तान मनुष्यगण को कह दो, वे जिससे सत्यच्युत होकर, असत्य के आश्रय में रहकर, तुम से छिपाकर कोई काज न करें। तुम जो विश्वतश्चक्षु रूप से

सर्वत्र अवस्थित हो, अन्तर से अन्तरतम प्रदेश में भी तुम्हारी सब प्रकाशक दृष्टि प्रसारित हो रही है, इस बात को स्मरण रख सकने से, फिर कोई असत्य मार्ग में धावित नहीं होगा। सभी सत्यपरायण होंगे ; सुतरां सभी के हृदय की संकीर्णता दूर हो जायेगी।

मा, तुम वृत्रप्राणहारिणी इन्द्राणी हो। अनात्मबोधरूपी वृत्रासुर तुम्हारे ही वज्र प्रहार से निहत होता है। ब्राह्मण के अस्थि द्वारा निर्म्मित तुम्हारा वज्र है। ब्राह्मण ही मूर्त्तिमान् ब्रह्म हैं— जगत के एकमात्र धर्त्ता हैं। मा इस ब्राह्मण के अस्थि के बिना तुम्हारा वज्र निर्मित नहीं होता। ब्राह्मण के स्थूल शरीर का प्रत्येक क्षुद्रतम अंश पर्य्यन्त निर्मल ब्रह्मज्ञान के प्रकाश से उद्भासित—विशुद्ध है। सुतरां केवल ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही जो ब्राह्मणगण जगत् को धारण किये हुए हों सो नहीं ; उनकी भौतिक देह की अस्थि पर्य्यन्त असुर भावों का विनाश करने में समर्थ है—जगतके मङ्गल साधन में समर्थ है। केवल इसी बात को समझाने के लिये क्या तुमने ब्राह्मण की अस्थि द्वारा वज्र निर्माण करके असुर निधन किया था ? सत्य ही माँ ब्राह्मण का अस्थि बिना असुरघातक वज्र निर्मित नहीं होता। तभी तो जगत में आज तक एकमात्र ब्राह्मणगण ही असुर घातन में समर्थ हैं। ब्रह्मज्ञान के आचार्य रूप से—आसुरिक भाव समूहों के दलनकारी रूप से इस जगत में एकमात्र ब्राह्मण ही नित्य विद्यमान है। हे मा ! ब्राह्मण ही तुम्हारे इस सृष्टि प्रपञ्च के गौरव के स्थानीय हैं। तुम जो मा हो, सो तुम्हारे इन ब्राह्मण सन्तान द्वारा ही जगत में प्रचारित और प्रतिष्ठित है। तुम इन्द्राणी हो, तुम्ही नारायणी हो, तुमको प्रणाम।

माँ, तुम शिवदूती हो। शुम्भ वध के उपक्रम में ईशान को दूत रूप से नियुक्त करके तुम शिवदूती नाम से आख्यात हुई हो। भीषण असुर संग्राम में तुमने असंख्य असुर निधन किये हैं। तुम्हारी घोरामूर्त्ति के दर्शन से, और भयङ्कर नाद के सुनने से एकान्त भयातुर असुरभाव समूह शीघ्र ही बिलय को प्राप्त होते हैं। तुम नारायणी हो, तुम को प्रणाम।

माँ, तुम चण्डमुण्ड की निधन कारिणी चामुण्डा हो। तुम्हारे दंष्ट्रा कराल मुख मण्डल में द्वैत प्रतीतिरूप दैत्यकुल प्रविष्ट होकर, साधकों को अद्वय ज्ञान प्रकाश का सुयोग कर देता है। तुम पञ्चाशत् मुण्डमालिनी हो। पञ्चाशत्-मातृकावर्ण रूप नरशिरोमाला तुम्हारे कण्ठदेश में विलम्बित है। तुम नारायणी हो, तमको प्रणाम।

मा, तुम इसी प्रकार ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी प्रभृति अष्टशक्ति रूप से प्रकाशित होकर, हमारी घृणा लज्जा प्रभृति अष्टपाशरूपी असुरकुल को विलय कर देती हो। और अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य की आकांक्षा को भी विमर्दित करती हुई–सुदुर्लभ ईश्वरत्व-प्राप्ति के प्रलोभन को भी विदूरित करती हुई, हमको अद्वयतत्वमें—विशुद्ध बोध स्वरूप में उपनीत करती हो। मा, तुम्हारा यह अष्टविध शक्ति का प्रकाश जीवत्व के अष्टपाश को छिन्न करके, ईश्वरत्व के अष्टऐश्वर्य को तृणीकृत करता हुआ, हमको मुक्ति के मन्दिर में पहुंचा देता है। तुम प्रति नर में ऐसे ही भाव से स्नेहमयी जननी रूप से आत्मप्रकाश करती हो; इसीसे तुम नारायणी हो। तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम। आशा है—एक दिन तुम सत्य सत्य ही प्रति जीव में, इस नारायणी मूर्त्ति से दर्शन दोगी।

——

लक्ष्मी लज्जे महाविद्ये श्रद्धे पुष्टि स्वधे ध्रुवे।
महारात्रि महाऽविद्ये नारायणि नमोऽस्तु ते ॥२१॥
मेधे सरस्वति वरे भूति वाभ्रवि तामसि।
नियते त्वं प्रसीदेशे नारायणि नमोऽस्तुते ॥२२॥

अनुवाद—तुम लक्ष्मी लज्जा महाविद्या श्रद्धा पुष्टि स्वधा महारात्रि एवं महा-अविद्या हो; तुम नारायणी हो, तुमको प्रणाम। मा, तुम मेधा सरस्वती वरा भूती वाभ्रवी तामसी एवं नियता हो, तुम प्रसन्न होओ। हे ईशे, हे नारायणि, तुमको प्रणाम।

व्याख्या-मा, तुम लक्ष्मी-प्राणस्वरूपिणी सौन्दर्य्यरूपिणी, सम्पद-रूपिणी हो, तुम लज्जा—निन्दितकार्य-वैमुख्यरूपा हो, तुम महाविद्या—काली तारादि दशमहाविद्या, अथवा महती श्रेष्ठा ब्रह्मविद्या हो, तुम श्रद्धा—सत्यनिष्ठा, गुरुवेदान्तवाक्य में दृढ़प्रत्यय रूपा हो, तुम पुष्टि—पञ्चकोष की परिपूर्णता रूपिणी हो, तुम स्वधा—श्राद्धादि पितृकृत्यरूपा हो, तुम ध्रुवा—निश्चला हो, तुम महारात्रि—प्रलयरूपा अज्ञानरूपा हो, तुम महा-अविद्या—अनात्मप्रत्ययरूपा हो, तुम नारायणी हो, तमको प्रणाम।

मा, तुम मेधा—धारणावती बुद्धि ब्रह्मविद्या धारण की सामर्थ्य रूपा हो, तुम सरस्वती—विशुद्ध ज्ञानरूपा ब्रह्मविद्या हो, तुम वरा—श्रेष्ठा वरप्रदा हो, तुम भूति—सत्वगुणस्वरूपा हो, तुम वाभ्रवी—रजोगुणस्वरूपा हो. तुम तामसी—तमोगुणस्वरूपा हो, तुम नियता—निश्चयात्मिका वृत्तिरूपा हो। मा तुम प्रसन्न होओ। तुम ईशा—ईश्वरी जगत की सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्री होते हुये भी, प्रति नर में विशिष्ट भाव से नारायणी मूर्त्ति से विराजिता हो। तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

सर्व्वस्वरूपे सर्व्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अनुवाद—हे देवी ! तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी एवं सर्वशक्ति-समन्विता हो। तुम हमारा भय से परित्राण करो। हे दुर्गे देवि ! तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, देवतागण तुम्हारा स्तव करते करते तुम्हारी ब्राह्मी प्रभृति अष्टशक्ति, एवं लक्ष्मी लज्जा प्रभृति विशेष विशेष स्वरूप लक्ष्य करके पुनः पुनः प्रणाम किये हैं। "प्रसीद" कहकर कातर प्राणों से तुम्हारी प्रसन्नता की प्रार्थना की है। अब "सर्व-स्वरूपे सर्वेशे" कह कर तुम्हारी प्रसन्नता का लक्षण प्रकाश कर रहे हैं। तुम्हारे प्रसन्न

होने से जीवों के सामने तुम्हारे जो तीन स्वरूप उद्भासित होते हैं; अब उसे स्मरण करके देवतागण प्रणाम कर रहे हैं।

मा, तुम सर्वस्वरूपा हो। हमारा परिदृश्यमान यह जो सर्व है, अर्थात् प्रतिनियत हम जिस बहुत्व का वा सर्वत्व का अनुभव करते हैं, यह सर्व ही तुम्हारा प्रथम स्वरूप है। यही तुम्हारी स्थूल देह है। जो सन्तान तुम्हारी इस सर्वस्वरूप मूर्त्ति को सत्य सत्य ही तुम्हारी स्थूल देह रूप से परिग्रह कर सकते हैं, उन्हीं के सामने तुम्हारी द्वितीय स्वरूप सर्वेश्वरी मूर्त्ति उद्भासित होने लगती है। इस सर्व की—इस बहुत्व की सृष्टि स्थिति प्रलयकर्त्री ईश्वरी रूप से तुम उनके सामने आत्मप्रकाश करती हो। यही है तुम्हारा सूक्ष्म शरीर। इस प्रकार सन्तान तुम्हारी ईश्वरी मूर्त्ति का साक्षात्कार लाभ करके, जीवत्व के क्षुद्रत्व के मोह से परित्राण पाते हैं। तब तुम अपना तृतीय मूर्त्ति—सर्वशक्ति-समन्वित-स्वरूप को उद्भासित करती हो। सर्वरूप से जो शक्ति प्रकाशित है, एवं सर्व को सृष्टि-स्थित्यादिकर्त्रीरूप से—सर्वेश्वरीरूप से जो शक्ति प्रकाशित है, सो सब जहाँ पर समन्वय को प्राप्त होती है; जहाँ पर शक्ति रूप से किसी का भी विकाश नहीं, अथच सर्वशक्ति जिसमें समन्वित हैं, वही है तुम्हारा तृतीय स्वरूपा सर्व रूप से जिसकी प्रतीति होती है, वह शक्ति व्यतीत अन्य कुछ नहीं है, इसे हम तुम्हारी कृपा से इससे पूर्व समझ चुके हैं। माँ! यह सर्व शक्ति समन्वित स्वरूप ही तुम्हारा कारण शरीर बोला जाता है। वह ब्रह्म परमात्मा निरञ्जन इत्यादि आख्याओं से परिचित होता है। तुम्हारे ये तीनों स्वरूप ही युगपत् (एक साथ) तुल्य (समान) सत्य हैं। उपनिषत् अर्थात श्रुति वाक्य समूह ने तुम्हारे इन्हीं तीन स्वरूपों की बात ही समान भाव से कीर्त्तन की है। भगवद्गीता में भी क्षर अक्षर एवं पुरुषोत्तम रूप से तुम्हारे त्रिविध स्वरूप का उल्लेख किया है। तब हाँ आधुनिक मायावादीगण मात्र तुम्हारे निर्गुण स्वरूप का सत्य स्वीकार करके, अपर दो स्वरूपों का मिथ्यात्व कीर्त्तन किये हैं, उससे भी हानि कुछ नहीं हुई। सत्य ही तो माँ तुम्हारे निरञ्जन स्वरूप

में जगत नामक कुछ नहीं है ; सुतरां जगदीश्वर कहने को भी कुछ नहीं रह सकता। आचार्य भाष्यकार ने इसी निर्गुण स्वरूप को विशेष भाव से समझाने के लिये प्राणपण से अपर दो स्वरूपों का अकिञ्चित्करत्व प्रतिपादन किया है। सो जो भी हो मा ! तुम हमारे सामने तो त्रिविध स्वरूप से ही तुल्य (समान) सत् हो। "भयेभ्यस्त्राहिनो देवि" तुम हमारा भय से परित्राण करो। मेरे एका का नहीं ; "नः"—हमारा सबका भय दूर करो मा, सबका भय दूर करो। जन्म मृत्यु क्लिष्ट अल्पज्ञ संसार भय से भीत निराश्रय जीवगणों का भय हरण करने में एकमात्र तुम ही समर्था हो, माँ ! तुम दुर्गा—दुर्गतिहरा हो ; हमारी यह जीवत्व रूप दुर्गति हरण करो। तुम्हारे चरणों में कोटि प्रणाम।

एतत्ते वदनं सौम्यं लोचनत्रय भूषितम्।
पातु नः सर्व भूतेभ्यः कात्यायनि नमोऽस्तु ते ॥२४॥

अनुवाद—हे माँ, तुम्हारा लोचनत्रय-विभूषित यह मनोज्ञ मुख मण्डल हमारी सर्वभूतों से रक्षा करे। हे कात्यायनि ! तुमको प्रणाम।

व्याख्या—मा, त्रिलोक प्रकाशक त्रिकालदर्शी नयनत्रयभूषित केवलानन्द स्वरूप सर्व मनोहर तुम्हारा मुखमण्डल हमको सर्वभूतों से रक्षा करे। एकमात्र आनन्दस्वरूप तुम ही तो स्थूल में सर्वरूप से सूक्ष्म में सर्वेश्वरी रूपसे एवं कारण में सर्वशक्तिसमन्वित निरञ्जन स्वरूप से नित्य प्रकाशित हो, यह बात जीव जब तुम्हारी कृपा से सम्यक् रूप से उपलब्धि कर सकता है तभी उसका सर्वभूतो का धाँधा कट जाता है। ये सर्व भूत हैं, ऐसा अज्ञान विदूरित हो जाता है। भूत कहने को पृथक कुछ भी नहीं है, इसे समझने लगता है। आनन्दमयी तुम ही सर्वभूत रूपों से अभिव्यक्त हो, इसकी उपलब्धि कर सकने ही से भूतों का भय हमेशा के लिये विदूरित हो जाता है। अरी ! तुम मेरी,

मेरी नहीं—हमारी सब की सर्वरूप भूत से रक्षा करो। एकमात्र आनन्द वस्तु ही तो सर्वरुप से प्रकटित है, इसे हमारे रोम रोम में समझा दो। माँ! तुम कात्यायनी, ब्रह्मविद् पुरुषों की एकान्त आश्रयणीया हो। कात्यायन ऋषि ने जैसे तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त की थी, मा, हमारे प्रति भी तुम तैसे ही प्रसन्न होओ। तुमको प्रणाम।

———

ज्वालाकरालमत्युग्रमशेषासुरसूदनम्।
त्रिशूलं पातुनो भीतेर्भद्रकाली नमोऽस्तु ते ॥२५॥
हिनस्ति दैत्यतेजांसि स्वनेनापूर्य्य या जगत्।
सा घन्टा पातु नो देवि पापेभ्योऽनः सुतानिव ॥२६॥
असुरासृग् वसा पङ्कचर्चितस्ते करोज्ज्वलः।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम् ॥२७॥

अनुवाद—हे भद्रकालि! ज्वाला-कराल (अग्निशिखा द्वारा भीषण) अति उग्र एवं अशेष असुरनाशकारी, तुम्हारा त्रिशूल हमारी भय से रक्ष करे। जिसकी ध्वनि ने जगत् परिपूर्ण करके दैत्यकुल का तेज क्षय किया था, हे देवि, तुम्हारा वही अनः अर्थात् मातृसदृशी घन्टा, हमको पुत्र की नाईं पाप से रक्षा करे। असुरों के असृक् एवं वसारूप पङ्क से लिप्त तुम्हारे करशोभित खड्ग हमको शुभदायक हो। हे चण्डिके! हम तुमको प्रणाम करते हैं।

व्याख्या—इन तीन मन्त्रों में त्रिशूल घन्टाध्वनि एवं खड्ग, इन तीनों अस्त्रों के पास भय से परित्राण एवं मङ्गल प्रार्थना की गई है। त्रिपुटी ज्ञान, अनाहत नाद एवं अनात्मप्रतीति-विलय कारक प्रज्ञा, यही तीनों विशेष रूप से असुरभावसमूहों का विनाश करते हैं, इसीसे देवतागण उनसे मङ्गल प्रार्थना करते हैं।

मा! तुम स्वयं हमारी रक्षा करती हो, तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र समूह भी हमारी पुत्र की न्याईं रक्षा करें। उन्हों ने इसके पूर्व असुर भावों

के समूह को विनष्ट करके जीवत्व के महानिगड़ से हमको विमुक्त किया है। वे अब भी समस्त प्रारब्ध-क्षय पर्य्यन्त ठीक इसी प्रकार हमारी असुर-अत्याचारों से रक्षा करें। मा! जब तुम स्वयं चण्डिका मूर्त्ति से प्रकटित होती हो, तभी तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र, तुम्हारी विभिन्न शक्ति हमारी रक्षा करने के लिये असुर कुल को विनष्ट करने में उद्यत होते हैं; सुतरां तुम्हारी चण्डिका मूर्त्ति को ही लक्ष्य करके हम विशेष भाव से प्रणत होते हैं—"चण्डिके त्वां नता वयम्।"

साधक, इस प्रकार अस्त्र शस्त्रों से प्रार्थना अस्वाभाविक नहीं है वैदिक युग के सत्यदर्शी सरल प्राण ऋषिवृन्दों के हृदय में ऐसा प्रार्थना भाव स्वतः ही उद्भूत होता था! इससे वे संकीर्णहृदय वा वद्धजीव नामसे परिचित नहीं होते थे। आजकाल कैसा एक निष्काम शब्द का सुर उठा है, वह तो तामसिक-प्रकृति जीवों की अलसता ही की सूचना करता है। निष्काम क्या वस्तु है, जो उसे यथार्थ उपलब्धि कर सकते हैं, सोई सरल प्राणों से प्रार्थना करने में समर्थ हैं! अज्ञ वा सकाम व्यक्ति की प्रार्थना ही नहीं होती। प्रार्थना से इस जगत की सृष्टि हुई है, प्रार्थना से जगत अवस्थित है, और प्रार्थना ही के फल से जगत् आनन्दमय ब्रह्मसत्ता में विलीन हो जाता है। सृष्टि स्थिति प्रलय, जीव जगत् बन्धन मुक्ति, सभी प्रार्थना मूलक है। प्रार्थना भिक्षा नहीं है। प्रकृष्ट रूप से अर्थना कर सकने से, समस्त कामना ही सिद्ध होती है! जो ईश्वर सत्ता में एकान्त विश्वासवान् हैं, जिनका ईश्वर की सर्वशक्तिसत्तामें अविचलित विश्वास प्रतिष्ठित हुआ है, सोई प्रार्थना करने में समर्थ हैं। ठीक ठीक प्रार्थना कर सकने से, उसकी सफलता अवश्यम्भावी है। प्रार्थना से साधना में कुछ भी व्याघात नहीं होता। प्रार्थना ही तो यथार्थ साधना है। किन्तु ये सब बातें यहाँपर अप्रासङ्गिक हैं।

——

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तु कामान् सकलानभीष्टान् ।
त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ।।

अनुवाद – मा, तुम तुष्ट होकर अशेष रोग दूर करती हो, और रुष्ट होकर समस्त अभीष्ट विनाश करती हो। तुम्हारा आश्रय लेने से मनुष्य को कोई विपद नहीं रह सकती, जो तुम्हारे आश्रित हैं, सोई यथार्थ आश्रयता प्राप्त होते हैं (अर्थात् अन्यों के आश्रयनीय होते हैं)।

व्याख्या—मा, तुम्हारी तुष्टि रुष्टि दोनों ही हमारी मंगलदायक हैं। जब तुम्हारी तुष्टि होती है, अर्थात् नित्य तुष्टा तुम्हारे तुष्ट भाव की जब हम विशेष भाव से उपलब्धि कर सकते हैं, नित्य प्रसन्ना मा, जब तुम्हारी प्रसन्नता हमारी प्रतीतियोग्य होने लगती है, तब ही हम अशेष रोगों से विमुक्त होते हैं। स्थूल देह के रोग त्रिविध हैं। आध्यात्मिक – वात पित्त श्लेष्मा के असाम्य-निवन्धन से, आधिदैविक—शीतोष्ण-वातवर्षादि निबन्धन से एवं आधिभौतिक—व्याघ्र तस्करादि दंशमशकादि निवन्धन से स्थूल देह में जो सब विकार उपस्थित होते हैं, वही स्थूल देह के त्रिविध रोग बोलकर कथित हैं। सूक्ष्म देह के रोग मानसिक। इष्ट वियोग एवं अनिष्ट प्राप्ति वशतः जो सब मानसिक विकार उपस्थित होते हैं, सोई सूक्ष्म देह के रोग हैं। अज्ञानता—आत्मविस्मृति ही कारण देह के रोग का स्वरूप हैं। इन त्रिविध रोगों को लक्ष्य करके ही देवताओं ने अशेष रोग कहा है। मा, तुम्हारी प्रसन्नता की उपलब्धिके साथ-साथ ही यह सर्वविध रोग विनष्ट होने लगते हैं, तुम्हारी तुष्टि-मूर्त्ति के प्रत्यक्ष करने का यही फल है। मा, जो इन वाक्यों में विश्वास स्थापन नहीं कर सकते, उनको तुम स्वयं अपने मुख से कह दो—यह अर्थवाद वाक्य नहीं है, यथार्थ ही अशेष रोग दूर हो जाते हैं ! सत्य सत्यही मनुष्य जब भगवत् प्रसन्नता लक्ष्य करने लगता है, तव समझ सकता हैं, कि उसका सभी विषयों में शुभ होता है—अभ्युदय होता है ।

मा, तुम्हारे रुष्ट होने से जीव की सभी कामना, सभी अभीष्ट विनष्ट हो जाते हैं ; मन्त्रमें 'कामना' एवं 'अभीष्ट' एकार्थ वाचक दो शब्दों का प्रयोग है। वर्तमान काम्य वस्तु को कामना, एवं भविष्यत् काम्य वस्तु को अभीष्ट कहा जाता हैं। सो जो हो, मनुष्य जब तुम्हारी अप्रसन्नता लक्ष्य करने लगता है—तुम्हारे रोषरक्तनयन देख कर भीत होता है, तब ही उसके यावतीय काम्य एवं अभीष्ट विनष्ट हो जाते हैं। यद्यपि स्थूल दृष्टि से ये तुम्हारे रोष का लक्षण अवश्य हैं, तथापि थोड़े धीर भाव से देखने से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं, तुम जब रोषान्वित होकर हमारे काम्य एवं अभीष्ट विनष्ट कर देती हो, तब ही हम यथार्थ मंगल के मार्ग में अग्रसर होते हैं। हमको बहुकामना, बहु अभीष्ट एवं अति इच्छाओं के संकट में से मुक्त करने ही के लिये तुमको रुष्टा चण्डिका मूर्त्ति से प्रकाशित होने होता है। हमारे काम्य और अभीष्टों के विनाश नहीं करने से, हम चिर दिन ऐसे जीवत्व के घोर अन्धकार में आछन्न रहते। तुम्हारे रुष्टा मूर्त्ति से हमारे संकीर्ण हृदय की कामनाओं को विदूरित बिना किये, हम महामंगल स्वरूप हिरण्मय मन्दिर का सन्धान ही नहीं पाते, इसीसे कहता था, मा ! तुम्हारे रोष और तोष दोनों ही हमारे पक्ष में तो यथार्थ मंगलदायक हैं। इसीसे कहने होता है, "त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां"। तुमको आश्रय करने से—तुम्हारे शरणागत होने से जीवों पर फिर कोई विपद ही नहीं रहती। तुम्हारी तुष्टि से अभीष्ट लाभ, रुष्टि से अभीष्ट नाश ; उभय पक्ष में ही जीवों का मंगल है। मा ! तुम इन द्विविध भावों से आत्म प्रकाश करती हो तभी तो सृष्टि का इतना वैचित्र्य है, इतना माधुर्य्य है ? जो तुम्हारा आश्रय लेते हैं, उनको तो फिर विपद नामक कुछ रहता ही नही; अधिकन्तु वे अपरों के आश्रयदाता होते हैं। कितने ही जीव उनके आश्रय में रहकर स्व स्व अभीष्ट पूर्ण कर लेते हैं। यही है तुम्हारा विशेषत्व।

इस मन्त्र में "नराणां" पद नर एवं नारी उभय बोधक है। एक शेष द्वन्द्व समास करके ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है।

एतत् कृतंयत् कदनं त्वयाद्य धर्म्मद्विषां देवि महासुराणाम् ।
रूपैरनेकैर्व्वहुधात्म मूर्त्ति कृत्वाम्बिके तत् प्रकरोति कान्या ॥२६॥

अनुवाद – हे देवि अम्बिके ! यह जो तुमने अपने को बहुमूर्त्ति में प्रकटित करके धर्म्मद्वेषी महासुरों का विनाश साधन किया, इसे तुम्हारे व्यतीत और कौन कर सकता है ?

व्याख्या—मा, तुम एका, अद्वितीया विशुद्धबोध स्वरूपा होते हुए भी बहुरूपों से आत्मप्रकाश करके—ब्राह्मी वैष्णवी माहेश्वरी कौमारी प्रभृति बहुमूर्त्ति से प्रकटित होकर, धर्म विरोधी असुर भाव समूहों का कदन (नाश) करती हो। जो इसे स्वीकार नहीं कर सकते, जो तुम्हारे केवल निरञ्जन स्वरूप को स्वीकार करके, बहुधा प्रकटित मूर्त्ति समूह को मिथ्या कहकर उड़ा देना चाहते हैं, उनको जान रखना उचित है कि, जबतक जगत् प्रतीति है, तब तक तुम्हारे बहुरूपों को उड़ा देने का उपाय नहीं। "रूपं रूपं प्रति रूपो वभूव" कहकर उपनिषत् ने तुम्हारे सर्वरूप बहुरूप को स्वीकार किया है। हम अपनी बुद्धि की माप-सलाका लेकर तुम्हारे परिमाण करने जाते हैं इसीसे, तुममें एकत्व बहुत्व का समन्वय नहीं कर सकते। वास्तव में किन्तु तुम एक होते हुए भी बहुरूपों से विराजिता हो "कान्या" – अन्या का ! तुम को छोड़कर और कौन है ? कोई भी नहीं ; रह ही नहीं सकते। "एकमेवाद्वितीयम्" यही सत्य है। इस अद्वितीय सत्य वस्तु के व्यतीत फिर आगन्तुक नया कोई आकर आत्ममूर्त्ति बहुधा प्रकटित नहीं करता। सुतरां एक रूपसे भी तुम्हीं, और बहुरूप से भी तुम्ही हो मा। विशेषत्व यह है कि, बहुरूपों में प्रकटित होनेपर भी तुम्हारा एकत्व अक्षुन्न ही रहता है। यह सकोरा उदकुम्भ प्रभृति विभिन्न रूप और नाम से परिचित होनेपर भी, मृत्तिकात्व सर्वत्र अक्षुन्न ही रहता है। हमारी क्षीण बुद्धि से एकत्व और बहुत्व का समन्वय मीमांसित नहीं भी हो सकता है, तुम किन्तु एक होते हुए भी बहु, और बहु होते हुए भी एक हो। "एको बहुधा प्रकरोति रूपम्" एक साधारण योगि

पुरुष यदि स्वइच्छा से अपने को बहुधा विभक्त करके भी, अपने एकत्व को अक्षुन्न रख सकता है ; और जगदीश्वरी तुम सगुणरूप से प्रकटित होकर भी निर्गुणत्व को अक्षुन्न जो रख सकोगी उसमें विचित्रता ही क्या है ? इसीसे देवतागण बोले—"अनेकैरूपैः आत्म मूर्त्ति बहुधा कृत्वा" एक आत्म मूर्त्ति तुम ही अनेक रूपों से प्रकाशित होती हो। तुम आत्मा रूप से एका अद्वितीया हो, ईश्वर रूप से स्वगत भेदमयी बहुरूपा हो। तुमने धर्मद्वेषी महा-असुरों का कदन अर्थात् निधन करके हमारी रक्षा की है। मा तुम्हारे चरणों में कोटिः प्रणाम।

——

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपे ष्वाद्ये षु वाक्येषु च का त्वदन्या।
ममत्वगर्तेऽतिमहान्धकारे विभ्रामयत्येतदतीव विश्वम् ॥३०॥

अनुवाद—मा, (एक ओर) विद्या—समस्त शास्त्र और विवेक दीप सदृश समस्त आद्यवाक्य एवं (दूसरी ओर) महान्धकारमय ममत्वरूप गर्त्त, तुम्हारे बिना उभयत्र इस विश्व को पुनः पुनः भ्रमण कराने में और कौन समर्थ होगा।

व्याख्या—हे मा ! इस विश्व को विद्या अविद्या रूप से ऊर्द्धाधो भावों में एकमात्र तुम ही परिभ्रमण कराती रहती हो। एक ओर विद्या—ब्रह्मविद्या, तत्साधनभूत शास्त्र समूह एवं आत्मानात्म-विवेक के लिये दीप सदृश आद्यवाक्य समूह, अर्थात् वेद-उपनिषत्। दूसरी ओर अविद्या—ममत्व रूप महान्धकारमय गर्त्त, अर्थात् पूर्ण अज्ञान। एक ओर विद्या पक्ष—शास्त्र बिवेक उपनिषत्, दूसरी ओर अविद्या पक्ष—ममत्वरूप महान्धकाराच्छन्न गर्त्त। इन दोनों ही पक्ष में "का त्वदन्या" तुमको छोड़कर और कौन है ? मा ! तुम ही तो अनात्म पदार्थों की द्रष्टा होकर उसमें ममत्व बुद्धि स्थापन पूर्वक आत्मज्ञान हीन अन्धकारमय गर्त्त में कितने जन्म-जन्मान्तरों से लेकर भ्रमण

करती हो ? और फिर तुम ही स्वयं आत्मा—स्वप्रकाश-स्वरूपा होते हुए भी तुमको पाने के लिये कितने शास्त्र पाठ, कितना वेद अध्ययन एवं विवेकख्याति के कितने उपाय निर्धारण करके परिभ्रमण कर रही हो ? हे मा ! एक ओर देखते हैं, तुम आत्महारा (आत्मभूला) अज्ञान शिशु हो, और दूसरी ओर देखते हैं, तुम अपने को खोज पाने के लिये कितनी न अध्यवसायशील पुरुष हो ? मा ! तुम सर्व प्रकाश रूपिणी चिन्मयी हो, तुममें विन्दुमात्र आवरण नहीं है ; तब भी यह भ्रान्ति, यह कल्पित विश्व-भ्रमण-लीला बड़ी ही विचित्र है ? मा ! तुम विद्या अविद्या दोनों ही की ईशिता—विद्या अविद्या दोनों ही से पृथक् वाक्य मन के अगोचर स्वरूप होने पर भी, विद्या एवं अविद्या रूप से स्वयं भ्रान्तवत् यह विश्व-परिभ्रमण लीला सम्पादन कर रही हो। एक ओर तुम ईश्वररूप से सर्वभूतों के हृदय देशमें अधिष्ठित होकर माया के वश सर्वभूतों को परिभ्रमण कराती हो, और दूसरी ओर जीव रूपसे अज्ञों की तरह उसी भ्रमण यन्त्र से स्वयं निष्पेषित होती हुई हाहाकार करती हो। एक ओर उज्ज्वल प्रकाश-विवेकदीप, दूसरी ओर महान्धकार—ममत्व-गर्त्त। दोनों ओर ही तुम्हारा अभाव परिस्फुटित है। अथच किन्तु तुम को छोड़कर और कोई भी नहीं है ; "का त्वदन्या" तुम्हारा अभाव कहीं नहीं है। धन्य है मा तुम्हारी यह आनन्दलीला।

ओ मा ! "विभ्रामयति" पद के बीच में हम और तुम्हारा एक विचित्र रहस्य देखते हैं। तुम स्वयं विभान्त होकर—आत्मस्वरूप विस्मृत होकर, बहुरूप से आत्म प्रकाश करके, फिर उसी बहुरूप को ही विभ्रान्त कर देती हो—भुला देती हो। निज ही निज को भूलकर अज्ञान अन्धकार में निपतित हो जाती हो, अथवा विवेकदीप जला कर निज को अन्वेषण करके बाहिर करने की चेष्टा करती हो। तुम नित्य ज्ञानमयी हो, तुम्हारी यह लीला बड़ी ही विचित्र है ?

साधक ! यहाँपर बहुदिन पूर्व प्रकाशित एक आत्म सम्वेदन सङ्गीत का उल्लेख शायद अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

सत्य आमार, जननी आमार, धात्री आमार, आमार प्राण !
केनो मा तोमार शुष्क वयान, केनो मा तोमार वद्धमाण ?
केनो मा तोमार हताश वक्षे, वहिछे विषाद अश्रुधार ?
तुमि जे मुक्त विराट ब्रह्म, तुमी जे सत्य सारात्सार ?
कोथाय जन्म, कोथाय मृत्यु, कोथाय बन्धन तोमार आर ॥१॥

तुमि ये नित्य महान् सत्य, तूमि ई जे एई विश्व-प्राण ।
तुमि जे शुद्ध अपापविद्ध, तूमि जे पूर्ण महाज्ञान ॥
आनन्द तोमार स्वरूप-तत्व, तूमि गो जननी कामचार ।
स्वेच्छाय तूमि हयेछ क्षुद्र, स्वेच्छाय वहिछ त्रितापमार ॥२॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

तूमि जे सूर्य, तूमि जे चन्द्र, तूमिई धरेछ विश्व-साज,
तूमिई आवार दर्शक रूपे "आमि" हये बहु कर विरज ।
पुण्य पूर्ण परम ज्योति तूमि गो सर्व्वं विकाशकार,
तुमिई आवार तोमाय ना देखे, स्वेच्छाय हेरिछ अन्धकार ॥३॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

तोमारई आँखिर पलकमात्र, भाविछ तूमि गो युगान्तर ।
स्वप्रकाश तूमि हये प्रतिहत, हेरिछ कतई देशान्तर ।
कालदिक् मागो; तोमारई व्याप्ति, स्वेच्छाय अधीन तूमिगोतार,
स्वेच्छाय तूमि हयेछ वद्ध, स्वेच्छाय वहिछ विषाद-भार ॥४॥
(कोथाय जन्म इत्यादि)

हे आमार प्राण ! जननि ! तोमार स्वेच्छार खेला सहे ना आर,
देख् चेये मागो, सन्तान तोर, कल्पित अभावे दीनेर सार ।
स्नेह-दयामयी जननी आमार, दाँड़ाउ स्वरूपे दाँड़ाउ एकबार,
महामाया तूमि मायाय तोमार, डुबाउ आमार आमित्व भार॥५॥
(कोथाई जन्म इत्यादि) *

---

* झिंझिटि—एकताला ; अथवा ईमन्—एकताला वा चौताल १-भाण=ढोंग ।

(पद्यानुवाद)—

सत्य हमारी, जननी हमारी ; धात्री हमारी, हमारी प्राण !
क्यों मा तुम्हारा शुष्क वयान, क्यों मा तुम्हारा बद्ध भाण ?
क्यों मा तुम्हारे हताश हृदय में, बहती विषाद अश्रुधार,
तुम तो मुक्त विराट ब्रह्म, तुम तो सत्य सारात् सार ?
कहाँ है जन्म कहाँ है मृत्यु कहाँ है बन्धन तुम्हारा फिर ॥१॥
तुम तो नित्य महान् सत्य, तुम्ही तो इस विश्व की प्राण।
तुम तो शुद्ध अपापविद्ध तुम तो पूर्ण महाज्ञान्,
आनन्द तुम्हारा स्वरूप-तत्व तुम्ही हो जननी कामचार[1]।
स्वेच्छा से तुम ही हुई हो क्षुद्र, स्वेच्छा से बहती त्रिताप भार॥२॥
(कहाँ है जन्म कहाँ है मृत्यु इत्यादि)

तुम्हीं हो सूरज तुम्हीं चन्द्रमा, तुम्हीं धरे हो विश्व का साज,
फिर तुम्हीं दर्शक रूपसे होकर, "मैं" बहु बनकर करो बिराज।
पुण्य पूर्ण परम ज्योति, तुम्ही हो सर्व विकाशकार।
फिर तुमही मा तुमको नहीं देखकर: स्वेच्छा से हेरो अन्धकार॥३॥
(कहाँ है जन्म इत्यादि)

तुम्हारी (ही) आँखों का पलकमात्र, मानो तुम ही युगान्तर।
स्वप्रकाश तुमही होकर प्रतिहत, हेरो कितने देशान्तर।
ओमा कालदिक् तो तुम्हारी(ही) व्याप्ती, स्वेच्छासे हुईहो अधीनतार[2]।
स्वेच्छा से तुमही बद्ध होकर, स्वेच्छा से ढोती विषाद भार॥४॥
(कहाँ है जन्म इत्यादि)

हे मेरी प्राण ! जननी ! तुम्हारा स्वेच्छाका खेला (अब) सहा न जाय,
देखो मुझे हे मा, सन्तान तेरो, कल्पित अभाव से दीनों की सार ?
स्नेह-दयामयी जननी मेरी, जागो स्वरूपे जागो एक बार,
महामाया तुम अपनी ही माया से डुवाओ मेरा मैत्व भार॥५॥
(कहाँ है जन्म कहाँ है मृत्यु इत्यादि)

१—कामचार=कामना कल्पतरु। २—तार=उसके।

रक्षांसि यत्रोग्र विषाश्च नागा यत्रारयो दस्युबलानि यत्र ।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये तत्रस्थिता त्वं परिपासि विश्वम्॥३१॥

अनुवाद—मा ! जहाँपर राक्षसकुल है, जहाँपर उग्र विष-सर्प समूह हैं, जहाँ अरिवृन्द हैं, जहाँपर दस्युबल है, जहाँपर दावानल है एवं जहाँपर (बाड़वानल पूर्ण) समुद्र है, उन सब जगहों में भी तुम स्वयं अवस्थान पूर्वक इस विश्व की रक्षा करती हो।

व्याख्या—ओ मा ! केवल जो तुम इस विश्व को पूर्वोक्त रूप से विभ्रान्त ही करती हो, सो नहीं ; सर्वत्र स्वयं अबाध भाव से अवस्थान पूर्वक इसकी यथायोग्य रक्षा भी करती हो। राक्षसरूपी विषयों के प्रलोभन, उग्रविष सर्परूपी द्वेष हिंसा प्रभृति, अरिरूपी काम-क्रोधादि, दस्युबलरूपी दम्भ दर्प अभिमान, दावानल रूपी शोक दुःखादि, एवं दुस्तर समुद्र रूपी संसार—जिन सब स्थानों में रक्षा करने को दूसरा कोई और नहीं है, जहाँपर अज्ञान का पूर्ण आवरण है, जहाँपर आत्म-अस्तित्व नाश की पूर्ण विभिषिका है, जहाँपर अवश्यम्भावी मृत्यु की कराल कृष्ण छाया है, वहाँपर भी तो मा तुम परिपालिनी मूर्त्ति से—स्नेहमयी मातृ-मूर्त्ति से प्रकटित होकर स्नेह भरी सन्तान जीववृन्दों की रक्षा करती हो—विश्व की रक्षा करती हो। और स्थूल जगत में भी पूर्वोक्त राक्षस सर्प शत्रु दस्यु दावानल एवं बाड़वानल पूर्ण दुस्तर समुद्रमध्य प्रभृति घोर विपदग्रस्त स्थानों में निपतित अपनी स्नेह भरी सन्तानों की तो कैसे अलौकिक भावों से कैसे विस्मयप्रद उपायों से रक्षा करती हो, इसे बारंबार देखते हुए भी हम मूढ़ तुम्हें नहीं जानना चाहते ; जानने पर भी तुम्हारी सत्ता को नहीं मानना चाहते ; मानने पर भी सम्पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते। तुम जो सत्य ही हो, तुम जो सत्य सत्य ही जीवों की रक्षा करती हो, इसे हम निःसंशय रूप से स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु हमारे न स्वीकार करने पर भी तुम्हीं जो एकमात्र रक्षाकर्त्री हो, इसमें किन्तु कोई भी संशय नहीं है मा।

पक्षान्तर में, जो पूर्वोक्त रूप विपदों में पड़ने पर हमारी दृष्टि में रक्षित नहीं होता (नहीं जान पड़ता है), अर्थात् विनाश को प्राप्त होता हैं, वह भी तो तुम्हारी ही स्नेहमयी गोदी में ही चिर रक्षित है, इसमें भी किसी प्रकार के विचार वा संशय को स्थान नहीं है। कारण "तत्र स्थिता त्वं" तुम वहांपर अवस्थिता हो। उसी विपद ग्रस्त स्थान में—उसी विनाश स्थान में और काल में (समयमें) एक-मात्र तुम्ही तो मौजूद हो ; सुतरां जीवरूपी स्नेह भरी सन्तानें यदि विपदों में पड़कर साधारण दृष्टि से विनष्ट हो भी जायें, उससें भी उनकी कुछ भी हानि नहीं होती। तुम्हारी ही शान्तिमयी गोदी में स्थान पाती है। अरी तुम तो सर्बत्र अवस्थिता हो मा, तुम तो सर्वत्र रक्षाकर्त्री जननी हो? अतएव रक्षा वा विनाश दोनों ही स्थानों में तो "परिपासि विश्वं" तुम विश्व की रक्षा करती हो ; यह ध्रुव सत्य है। जो तुमको इस विश्व रक्षाकारिणी-मूर्त्ति से सर्वत्र अवस्थिता देखते हैं, सो कभी भी किसी भी विपद में ही विनाश को प्राप्त नहीं होते।

"तत्र स्थिता त्वं परिपासि" वाक्य में एक साधन रहस्य छिपा है, साधकगण समझ लेंगे। हिरण्यकशिपु के आदेश से प्रज्वलित अग्नि के बीच में पड़कर प्रह्लाद ने भगवान को अनलबिहारी के नाम से न पुकार कर वैकुण्ठनाथ प्रभृति नामों से पुकारा था। फिर कौरव सभा में दुःशासन कर्त्तृक वस्त्रहरण काल में द्रौपदी ने भी इसी प्रकार प्राणनाथ प्रभृति नामों से न पुकार कर द्वारिकानाथ प्रभृति नामों से भगवान को आह्वान किया था, उभयत्र ही भगवान के आगमन में किञ्चित विलम्ब हुआ था, कारण प्रह्लाद एवं द्रौपदी "तत्रस्थिता त्वं परिपासि" वाक्य का रहस्य उस समय विस्मृत हो गये थे। भगवान् सर्वत्र विराजित हैं, इस अग्नि रूप से भी वही हैं, इस वस्त्र रूप से भी वही हैं, और सर्वजीवो के हृदयाधिष्ठित प्राणपति रूप से भी वही विराजित हैं। अतएव जहांपर जिस प्रकार की विपद में ही जीव क्यों न पड़े, वहींपर एवं उसी विपद रूप से भी तो मा ही उपस्थित

हो रही हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास हृदय में रखते हुए मा को स्मरण कर सकने से ही जीव विपदमें से अचिरकाल ही में परित्राण पा सकता है। मा तो सर्वदा सर्वत्र सन्निहिता हैं, इस भाव को हृदय में दृढ़ता से प्रतिष्ठित रख सकने से, फिर जीव को किसी भी प्रकार की विपद में विचलित नहीं होने होता है।

———

विश्वेश्वरी त्वं परिपासि विश्वं विश्वात्मिका धारयसीति विश्वं।
विश्वेशवन्द्या भवती भवन्ति विश्वाश्रया ये त्वयि भक्ति-नम्राः॥

अनुवाद—मा ! तुम विश्वेश्वरी हो ; तभी तुम विश्व की रक्षा करती हो। विश्व ही है तुम्हारा शरीर ; इसीसे तुम विश्व को धारण करती हो। तुम विश्वेशगणों की वन्दनीया हो। जो तुम्हारे सामने भक्ति विनम्र होते हैं, सो भी विश्व के आश्रय स्वरूप हो जाते हैं।

व्याख्या—मा ! तुम जो पूर्वोक्त राक्षसादि रूप महाविपदों से भी अलौकिक उपायों से जीवों की रक्षा करती हो, इसमें विस्मित होने को कुछ नहीं। अरे तुम विश्वेश्वरी—इस विश्व की अधिपति हो। जो जिसका अधिपति होगा, वह उसकी तो रक्षा करेगा ही ; तो फिर देवतागणों ने "विश्वेश्वरी त्वं परिपासि विश्वं" वाक्य क्यों कहा—जो तुम को विश्वेश्वरी हो ऐसा जानते हैं, केवल वे ही समझ सकते हैं कि, एकमात्र तुम ही इस विश्व की रक्षा करती हो। फिर तुम्ही तो इस विश्व को धारण किये हुए हो, इसमें भी विस्मय का विषय कुछ नहीं, कारण, तुम्ही तो विश्वात्मिका हो। "एकोऽहम् बहु-स्याम" कहकर तुम्हीं तो बहु रूपसे प्रकाशित हो रही हो। यह विश्व ही तो तुम्हारा शरीर है ; सुतरां इसको धारण करना ही तुम्हारा स्वभाव है।

प्रसङ्गक्रम से यहाँपर विशिष्टाद्वैतवाद सम्बन्ध में दो एक बात कहना नितान्त अन्याय नहीं होगा। उसके मतावलम्बीगण कहते हैं

यह विश्व ही भगवान का शरीर है। हमारा यह स्थूल शरीर यह मन बुद्धि आत्मा, इन सबों की समष्टि जैसे मैं हूं ; ठीक उसी प्रकार यह व्यक्त विश्व, विराट मन, समष्टि बुद्धि, इन सब के समन्वित परमात्मा ही एकमात्र उपास्य वा लभ्य हैं। साधना जगत में यह मत विशेष आदरणीय एवं परिग्राह्य है ? यह उपनिषद् विरुद्ध भी नहीं ? उपनिषत् ने भी अनेक स्थलों में इस विश्व को परमात्मा का स्थूल शरीर कहा है किन्तु इस मत की एक बात विशेष रूप से चिन्तनीय है। विशिष्टाद्वैतवादीगण इस परिदृश्यमान जड़ अंश को बिलकुल अचित्-तत्व कहते हैं। अचित् शब्द का अर्थ जड़ होने से वह श्रुति-विरुद्ध होता है। कारण श्रुति ने इस जड़ अंश को भी ब्रह्म स्वरूप कह कर कीर्त्तन किया है। अचित् शब्द को यदि चित् का ही स्वल्प प्रकाशरूप अर्थ स्वीकार किया जाय, ईषदर्थ में नञ् समास किया जाय, तो फिर किसी प्रकार के संशय को अवसर नहीं रहता।

अच्छा जो हो, मा तुम हो विश्वेशवन्द्या। विश्वेशगण—विश्वाधिपतिगण—ईश्वरगण अर्थात् ब्रह्मादि देवतावृन्द हमेशा तुम्हारी वन्दना करते हैं ? वे सर्वतोभाव से तुम्हारे ही शरणागत हैं ; एवं तुम्हारे शरणागत हो सके हैं इसीसे, उनने विश्वाधिपत्य प्राप्त किया है। अतएव जो "त्वयि भक्तिनम्राः" तुम में भक्तिनत हैं, सो निश्चय ही विश्व के आश्रय स्वरूप होते हैं। विश्वासी जन समूह उनका आश्रय लेकर ज्ञान भक्ति और शान्ति प्राप्त करने के लिये यत्नपरायण होते हैं।

———

देवि ! प्रसीद परिपालय नोऽरिभीतेर्नित्यं यथासुरवधादधुनैव सद्यः।
पापानि सर्वजगताञ्च शमं नयाशु उत्पातपाकजनितांश्चमहोपसर्गान्॥

अनुवाद—हे देवि ! तुम प्रसन्न होओ। जिस प्रकार अभी असुर वध करके हम को शत्रु भय से सद्य मुक्त किया, उसी प्रकार नित्य हमारी शत्रु भय से परिपालना करना। और इस जगतके पाप समस्त

एवं उत्पातों के परिणाम स्वरूप महाउपसर्ग समूहों को शीघ्र प्रशमित करो।

व्याख्या—मा ! तुम प्रसन्न होओ ! तुम जो हमारे प्रति नित्य ही प्रसन्ना हो, इसे हमें सर्वतोभाव से समझने दो ! और "अधुनैव" अभी हाल में जिस प्रकार असुरों के निहत करके हमको भय से मुक्त कर दिया, इसी प्रकार नित्य—आवहमान काल (सब समय) तुम हमारी (नः)—हम कहने में जो कुछ है, इस बहु मैं की अज्ञान कल्पित मैं की (हमारी) अरिभीति—शत्रुभय अर्थात् कामादि रिपु कर्त्तृक जो आच्छन्न भाव है, उसे विदूरित करो, हमारी परिपालना करो।

माँ ! एक बार देखो—तुम्हारी स्नेहभरी सन्ताने अरिभय से—कामादि रिपु गणों के उत्पीड़न से सदा उत्पीड़ित हैं। यह सुनो मा, वे अरियों के अत्याचार से उपद्रुत होकर तुमको सुदुर्लभ बताकर घोषणा कर रहे हैं, कोई कोई तुमको निष्ठुरा पाषाणी कहता हुआ तिरस्कार कर रहा है, और कोई अरिभय से परित्राण पाने के लिये कठोर संयम और नानारूप योग कौशलादि का अवलम्बन कर रहे हैं। माँ ! शत्रुभयसे भीत अपनी इन सन्तानों की तुम रक्षा करो। तुम उनसे कह दो—"मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्ति ते" मेरे शरणागत होने ही से शत्रुभय प्रशमित हो जाता है। केवल यही नहीं—"पापानि सर्वजगतांश्च शमं नयाशु" सर्व जगत में पाप नामक जो संस्कार है; उसे भी शीघ्र प्रशमित करो। जीवों को पाप बोध क्यों होता है ? 'मैं' कर्त्ता हूं सजकर कर्म करता है, इसीसे कर्म फलरूप पाप मैं के साथ विजड़ित हो जाता है। (साधारण भाषा में जिसे पुण्य कहते हैं, सो भी इसी प्रकार पाप के अन्तर्गत है।) मा ! जीव यदि तुम्हारी शरण में आता है, तो अल्प दिनों में ही उसका कर्त्तृत्व ज्ञान तिरोहित हो जाता है ; सुतरां पाप कहने को, कर्मफल कहने को फिर कुछ भी नहीं रहता; इसीसे तो कहता हूँ मा, अपनी स्नेहभरी सन्तानों से कह दो—"यह जो अहं है, वही तो पाप है ; अहं बोध को छोड़ो, अहं तो मैं—तुम्हारी मा हूँ। मुझे (मैं को) छोड़कर तुम अब अहं होने

मत जाना। मेरी (मैं की) ओर लक्ष्य राखो, मेरे (मैं के) शरणागत होओ, देखोगे अल्प दिनों के ही बीच में तुम्हारे—जगत के यावतीय पाप दूरीभूत हो जावेंगे।”

उत्पातपाकजनितांश्च महोपसर्गान्। उत्पात—उल्कपात, गन्धर्व नगर दर्शन, धूमकेतु का उदय, परिवेश (सूर्यके चतुः पार्श्ववर्त्ती भयङ्कर कृष्णवर्ण मण्डल) इत्यादि। इन उत्पात समूहों का जो पाक, अर्थात् फल-परिणति, तज्जनित जो उपसर्ग—दुर्भिक्ष महामारी जलप्लावन अकालमृत्यु प्रभृति, ये सब, पापों ही के प्रत्यक्ष फल हैं। अहं बोध से कार्य करने जाने से वहिर्मुखी जोवबृन्द ऐसे विविध उपसर्गों में निपतित होते हैं (पड़ते हैं)। मा, तुम जगत के इन पापों को दूर करो ? इन उपसर्गों को प्रशमित करो ? आनन्दमयी की सन्तान फिर आनन्द का सन्धान पाकर—अमरत्व का सन्धान पाकर विषम उपसर्गों के हाथ से परित्राण प्राप्त करें!

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्त्तिहारिणी।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव ॥३४॥

अनुवाद—हे देवि! हे विश्वार्त्तिहारिणी! तुम प्रणत जनगणों के प्रति प्रसन्न होओ। तुम त्रैलोक्यवासी जीवगणों की स्तुतियोग्या हो। तुम सब लोकों के प्रति वरदायिनी होओ।

व्याख्या—तुम देवी द्योतनशोला स्वप्रकाश-रूपिणो हो। तुम ही विश्व की यावतीय आर्त्ति हरण करती हो, तुमको पाने से ही जीवों की सब आर्त्ति विदूरित होती है, प्रणतजनों के प्रति प्रसन्न होना ही तुम्हारा स्वभाव है। अथवा जो यथार्थ प्रणत हो सके है, सोई तुम्हारी नित्य-प्रसन्न-मूर्त्ति प्रत्यक्ष करने में समर्थ हैं। मा आज हम भी तुम्हारे चरणों में प्रणत—प्रकृष्टिरूप से नत होते हैं, हमारे मैंत्व का उच्च शिर तम्हारे चरणों में अवनत हुआ है, तुमही ने अवनत करा लिया है ; सुतरां अव तो “प्रसीद” अब तो तुमको प्रसन्न होने ही होगा। मा

त्रिलोकवासी सुर नर गन्धर्व, जिसकी जैसी सामर्थ्य है, निज निज वाग् यन्त्र को विशुद्ध करनेके लिये सभी तुम्हारा स्तव करते हैं, इसीसे तुम "त्रैलोक्य वासिनामीडये" हो। तुम सभीको बरदान करती हो, इसीसे तुम "लोकानां वरदा" हो। मा! तुम वरदायिनी मूर्त्ति से खड़ी होओ! आज सन्तानगण निर्भय से अकपट से तुम्हारे पास से सत्य-वर ग्रहण करके धन्य हों? जगत् फिर सत्य के आलोक (प्रकाश) से उद्भासित होवे?

देव्युवाच

वरदाहं सुरगणा वरं यं मनसेच्छथ।
तं वृणुध्वं प्रयच्छामि जगतामुपकारकम् ॥३५॥

अनुवाद—देवी बोलीं—हे सुरगण! मैं वरदायिनी हूँ। जगत् के उपकार के लिये तुम्हारी जिस वर की इच्छा हो प्रार्थना करो, मैं सोई प्रदान करूँगी।

व्याख्या—देवताओं के स्तोत्र पाठ के फल से, मा हमारी विशेष भाव से प्रसन्न हुई है, वरदायिनी मूर्त्ति से आविर्भूत होकर जगन्मङ्गल-विधायक वर प्रदान को उद्यत हुई हैं। साधक! सत्य ही ऐसा होता है। अभी भी—इस अविश्वास के युग में भी ऐसे ही कर के सत्य ही मा आती है, सत्य ही सन्तानों को वराभय प्रदान करके धन्य करती हैं। उस वर से जगत का मङ्गल साधित होता है; कारण सन्तान जब जगदात्मा में एकीभूत हो जाता है; तब जगत् का मङ्गल साधन ही उसका एकमात्र लक्ष्य हो पड़ता है। व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थ की ओर लक्ष्य नहीं रहता। इसीसे निष्काम साधकों की तपस्या का फल जगत के सभी लोग अल्पाधिक लाभ करते हैं निष्काम साधकों की साधना के फल से ही विश्वमङ्गल साधित होता है।

इसी प्रकार निष्काम कर्मियों के कर्मफल बिभाग के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने जो कहा है, यहाँपर उसका उल्लेख करना भी कुछ

अप्रासङ्गिक नहीं होगा। श्रुति कहती हैं—आत्मज्ञ पुरुषो के जो सुहृत् हैं, वही उनके सुकृत को पाते हैं। और जो विद्वेषी हैं, सो उनके दुष्कृत को ग्रहण करते हैं, और जो पुत्रादि उत्तराधिकारी हैं, वे दाय अर्थात् धन वित्तादि लाभ करते हैं। उपनिषत् ने भी अभ्युदय कामी जनों को आत्मज्ञ पुरुषों की अर्चना करने का उपदेश दिया है। इस प्रकार विश्वमङ्गल साधन करने ही के लिये जगत में आत्मज्ञ पुरुषों का आविर्भाव हुआ करता है। किन्तु वह और बात है।

——

देवाऊचुः

सर्ववाधा प्रशमनं त्रैलोक्यस्याखिलेश्वरि।
एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरिविनाशनम् ॥३६॥

अनुवाद—देवताओं ने कहा—हे अखिलेश्वरि! तुमने अभी जैसे हमारे वैरिकुल का विनाश किया, उसी प्रकार त्रिलोक की सर्व-वाधाओं को प्रशमित करो।

व्याख्या—मा! और मांगने को कुछ नहीं, तुम त्रिलोकों की सर्व वधायें प्रशमित करो। हे अखिलेश्वरि जननि! कुछ दिनों यावत् विश्वमय यह क्या आर्त्तनाद उठ रहा है—सर्व्व ही है वाधा। सर्वरूप वाधा का परित्याग न कर सकने से, तुमको प्राप्त नहीं किया जायगा, यह कैसी मर्म पीड़ादायक वाणी सुन रहे हैं? कार्यतः किन्तु देखते हैं—अति अल्प लोग ही सर्व त्याग कर सकते हैं। जो सकते हैं, सो तो सर्व को वाधा कहकर कीर्त्तन करेंगे ही। और जो अकृतकार्य होते हैं, वे भी सर्व को ही मातृलाभ का अन्तराय बोलकर घोषणा करते हैं। सर्व तो वास्तव में वाधा नहीं, सर्वरूप से तो तुम ही विराजित हो, इस सत्य में प्रतिष्ठित होने ही से तो जीव तुम्हारे सर्वातीत स्वरूप की उपलब्धि करने में समर्थ होते हैं। सर्व ही तो मा, जीव जब तक इसे नहीं समझ सकता है, तबतक ही यह सर्व मातृलाभ के अन्तराय स्वरूप दण्डायमान रहता है। इसीसे कहता हूं मा! जगत में फिर से

सत्य की प्रतिष्ठा करो,—एकमात्र तुम्हीं तो सर्व रूप से सत्य रूप से आत्मप्रकाश कर रही हो, इसे प्रत्येक जीव हृदय में स्वर्णाक्षरों से अङ्कित कर दो। सर्व तो वाधा नहीं; मातृवक्ष ही तो सर्वरूपसे सन्तान को क्रोड़ में धारण करने के लिये सर्व्वदा उन्मुक्त हो रहा है, इसीको अपनी सन्तानों के रोम रोम में समझा दो। फिर सभी सत्यप्रतिष्ठ हों? तुम्हारी सत्ता में विश्वास करें? तुम्हारी सत्ता में विश्वास होने ही से, यह सर्ववाधा प्रशमित हो जावेगी। जगत का यावतीय अभाव अभियोग कातर क्रन्दन विदूरित होगा। जगत् यथार्थ कल्याण लाभ (प्राप्त) करेगा।

देव्युवाच।

वैवस्वतेऽन्तरे प्राप्ते अष्टाविंशतिमे युगे।
शुम्भो निशुम्भश्चैवान्यावुत्पत्स्येते महासुरौ ॥३७॥
नन्दगोप गृहे जाता यशोदा गर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्धाचलनिवासिनी ॥३८॥

अनुवाद—वैवस्वत मन्वन्तर के अष्टाविंशतितम युग में पुनः शुम्भ निशुम्भ नामक दो असुर उत्पन्न होंगे, (तब) मैं नन्दगोप के गृह में यशोदा के गर्भ से जन्म ग्रहण करके विन्ध्याचल पर अवस्थानपूर्वक उन दोनों असुरों का विनाश करूँगी।

व्याख्या—देवता वृन्दों के प्रार्थित (त्रैलोक्यस्य सर्व्व वाधा-प्रशमनं) वर प्रदान को उद्यत होकर, मा ने यहाँपर अनेक रहस्य प्रकटित किये। देवीमाहात्म्य में जो तीन रहस्य वर्णित हुए हैं, मा ने स्वयं यहाँपर उनको प्रकट किया। देवी-वाक्य रूप से इस अध्याय में चतुर्दश मन्त्र है। उसका तात्पर्य्य निरूपण बड़ा ही दुरूह कार्य है। तब हाँ जिनके वाक्य हैं, वे यदि कृपापूर्वक साधकों का मोहावरण अपसृत कर दें, तभी उक्त मन्त्रों का रहस्य-निर्णय हो सकता है। आओ प्रिय साधक

गण ! हम मातृ चरणों में साष्टाँग प्रणिपात पूर्वक प्रार्थना करें—"हे मा ! अपने इन रहस्यमय वाक्य समूहों का असली तात्पर्य्य हमको हृदयंगम करा दो। हम जिससे "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" न्याय से भ्रान्त पथपर परिचालित न हों। जय मा ! तुम उद्भासित होओ।"

वैवस्वत मनु—सप्तम मनु। एक मनु के अधिकृतकाल को मन्वतर कहते हैं। इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। सत्यादि युग चतुष्टय का एक महायुग होता है। चतुर्दश मन्वन्तरों का एक कल्प वा एक बार प्रलय होती है। वर्तमान कल्प का नाम है-श्वेतवराह कल्प। इस कल्प के एक-सत्तर महायुगों में सत्ताईश अतीत (गत) हो चुके हैं। अष्टाविंशति महायुग के सत्य त्रेता और द्वापर युग बीत चुके हैं ; सम्प्रति (वर्त्तमान) कलियुग चल रहा है इसकी आयूः परिमाण चारि लक्ष बत्तीश हजार वत्सर है, जिनमें मात्र पाँच हजार वत्सर अतीत हुये हैं। यहाँपर हम प्रसंगक्रम से भारतीय काल गणना के प्रति साधारणों की दृष्टि आकर्षण करते हैं। जो भारतीय सभ्यता का काल निर्णय ग्रहण करने में, चारि पाँच हजार किंवा दश बीस हजार वत्सर मात्र सिद्धान्त करते हैं, वे एक बार अनुग्रह पूर्वक हमारी पूर्वोक्त प्रकार कालगणना की प्रणाली के प्रति लक्ष्य करें। जो कहते हैं —"भारतवर्ष अधःपतन में गया है, भारत चिर पराधीन ; चिरदास है इत्यादि" वे एक बार हिसाब करके देखें—भारतवर्ष की जो आयु परिमाण निर्दिष्ट है, उसके सामने दो एक हजार वत्सर, कितनी अल्प, कितनी क्षुद्र, विन्दु सदृश हैं ; सुतरां भारत की दुरवस्था दर्शन करके शङ्कित वा क्षुब्ध होने का कोई कारण नहीं। कुछ दिनों के बाद इस देश की यह शोचनीय कहानी दादीकी किस्से कहानियों में परिगणित हो जावेगी। यद्यपि ये सब बातें यहाँपर अप्रासङ्गिक हैं, तथापि इसकी आलोचना में मंगल है—अवसादग्रस्त जनों के हृदय में नया उत्साह, नया बल और आशा का संचार होगा। और एक महान उपकार है—जीव के अहंकार नाश होता है। अनन्तकाल समुद्र में

मैं कितना क्षुद्र हूं, हमारी सत्तामात्र कितनी अल्प है—कितने अल्प समय के लिये है, ऐसी चिन्ता से जीव का अहंकार ह्रास हो । है

जो हो, मन्त्र में उक्त है—मा बोलीं, वैवस्वत मन्वन्तरीय अष्टा-विंशतितम युग में फिर शुम्भ निशुम्भ नामक असुर दोनों उत्पन्न होंगे, एवं वे भी नन्दगोपगृह में यशोदा के गर्भ से जन्म ग्रहण करके विन्ध्याचल पर अवस्थान पूर्वक उनका विनाश करेंगी। यहाँपर मा ने जिस काल का उल्लेख किया है, उससे वर्त्तमान युग ही विशेष भाव से लक्षित होता है। यह देवीमाहात्म्य स्वारोचिष अर्थात् द्वितीय मन्वन्तरीय उपाख्यान है। तत् कालापेक्षा वर्त्तमान काल सुदूर भविष्यत् है। इसीसे मन्त्र में "उत्पत्स्येते" इस भविष्यत् काल बोधक क्रियापद का उल्लेख है। वर्तमान काल में अधिकांश मनुष्य ही शुम्भ निशुम्भ अर्थात् अस्मिता ममता कर्त्तृक अभिभूत निर्जित हैं। मा नन्दगोपगृहे जाता यशोदा गर्भ सम्भवा रूप से आविर्भूत होकर इन दोनों असुरों का विनाश साधन करेंगी।

नन्दगोप—आनन्दमय ब्रह्माभिमुखी मन। "गाः पाति इतिगोपः" गो शब्द का अर्थ इन्द्रिय। इन्द्रिय समूह का पालन एवं रक्षण करता है इसीसे मन को गोप कहा जाता है। यही मनरूप गोप जब नन्द अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्माभिमुखी होता है, तब ही उसका नाम होता है नन्दगोप। सर्वतोभाव से आत्माभिमुखी मन के आश्रय में जिस शक्ति का विकाश होता है, अर्थात् जिस प्रज्ञा के प्रभाव से अस्मिता ममता विनष्ट होती है, उसीको नन्दगोप गृहेजाता कहा जाता है। ये ही हैं यशोदागर्भसम्भवा। यशोदा—यशः दानकारिणी। मातृलाभ के लिये अध्यवसायशील होने ही से मा हमारी प्रथम तो यशोदायिनी मूर्त्ति से जीव को अङ्क में धारण कर बैठती है। उस समय अज्ञाता-वस्था में उसका यश चारो ओर प्रसारित होने लगता है। सन्तान "यशोदेहि" कहकर मा के सामने आब्दार करता है; इसीसे मा यशोदा रूप से प्रकटित होकर नन्दाशक्ति की परिपुष्टि का विधान करती हैं। यह यशोदा के क्रोड़ में परिवर्द्धित आनन्दमयी शक्ति ही

शुम्भ निशुम्भ का विनाश साधन करती हैं, इन्हीं का नाम है नन्दा शक्ति। ये विन्धाचल निवासिनी हैं। विन्धाचल—हृदय-देश। हृदयस्था आनन्दमयी शक्ति कर्त्तृक ही अस्मिता ममता का विनाश होता है। तन्त्र शास्त्र में सुमेरु पर्वत को मस्तक, विन्ध पर्वत को हृदय एवं कुल पर्व्वत को मूलाधाररूप से निर्द्देश किया है।

सीधी बात यह है कि, माँ ने कहा, इस युग में भी जीव जब विशेष भाव से सत्यच्युत हो पड़ेंगे, मेरा सन्धान न पाकर अहंकार विमूढ़ हो पड़ेंगे, तबही मैं जीव हृदय में यशोदागर्भ सम्भवा नन्दाशक्ति रूप से प्रकटित होकर, उनका अहंकार विनाशपूर्वक उन्हें सत्यलोक ले आऊँगी। द्वापर युग में भी माँ हमारी ने श्रीकृष्ण रूप में होकर इस नन्दगोप गृहेजाता यशोदागर्भसम्भवा नन्दाशक्ति रूप से आत्म प्रकाश किया था, एवं कंस शिशुपाल प्रभृति असुरों का विनाश करके धर्म्म राज्य की प्रतिष्ठा की थी।

मूर्त्ति रहस्य में ये नन्दादेवी ही विष्णुशक्ति रूप से—लक्ष्मी रूप से वर्णित हुई है। यथा—"कमलान्कुशपाशाब्जैरलन्कृत चतुर्भुजा। इन्दिरा कमला लक्ष्मीः सा श्रीरुक्माम्बुजासना" इत्यादि। ये जो विष्णु शक्ति हैं सो मधुकैटभ वध में भी उक्त हुआ है। उस प्रथम चरित में यही नन्दाशक्ति एवं रक्तदन्तिका बीज का उल्लेख है। रक्तदन्तिका का विषय परवर्त्ती मन्त्र में ही मिलेगा। जिस शक्ति ने विष्णुरूप से प्रकटित होकर तब मधुकैटभ को निहत किया था, वही शक्ति ही इस युग में नन्दाशक्ति रूप से प्रति जीव हृदय में आविर्भूत होकर शुम्भ निशुम्भ को निहत करेंगी।

सुनो—शक्ति वस्तु अदृश्य अनुभवगम्य कारण स्वरूप है। जब वह कार्य्यरूप से—दृश्यरूप से आत्मप्रकाश करती है, तब साधारण भाव से यही कार्य ही शक्तिमान रूप से व्यवहार का विषय होता है। देखो—एक वृक्ष है। वह स्वयं ही एक शक्तिमात्र होनेपर भी, हम किन्तु "वृक्षकी शक्ति", इसी प्रकार व्यवहार एवं अनुभव करते हैं। वास्तविक यहाँ शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद ही नहीं है। ठीक

इसी प्रकार एक अखण्ड महती शक्ति चितिशक्ति वा ब्रह्म जब जिस भाव से अपने को प्रकाशित करते हैं, तब वे उसी प्रकार के भाव से बिभिन्न नाम और रूप से परिचित हुआ करते हैं। इससे उनके एकत्व की कोई भी हानि नहीं होती। तभी तो इस देश के लोग तेत्रिश कोटि देवता दर्शन करके भी अद्वैतवादी हैं। इस धन्य देश के जनगण ऐसे ही शक्तिवादी और चैतन्यदर्शी हैं कि किसी भी स्थान में कोई भी प्रकार की विशिष्ट शक्ति का विकाश देखते ही, उसे मात्र एक जड़ शक्ति न देखकर, उसीको देवता मानकर, ईश्वर मानकर पूजा करते हैं। अन्य देशों के लोग इसकी वैज्ञानिकता एवं आध्यात्मिकता न समझ कर, कोई कोई तो इन्हें पौत्तलिक कहकर उपहास करेंगे; उससे विन्दुमात्र क्षोभ नहीं। इन्हीं पौत्तलिकगणों ही ने विश्वमे सबसे प्रथम "तत्वमसि" वाक्य से अद्वय ज्ञान की विजय-दुन्दुभि निनादित की थी। और अभी—इस पूर्ण अविश्वास के युग में भी इस देश के लोग नाना देवताओं की पूजा करके ही अभीष्ट फल-लाभपूर्वक अद्वय-ज्ञान के योग्य अधिकारी हो जाते हैं।

जो हो, यहाँपर फिर से साधन-समर के पाठको को स्मरण कराये देता हूं कि, यद्यपि इस ग्रन्थ में यावतीय देव देवी का आध्यात्मिक रहस्व ही कहा गया है, तथापि उनकी विशिष्ट मूर्त्तियों का अपलाप (खण्डन, अलीकता) नहीं किया गया है। इस नन्दाशक्ति प्रभृति की विशिष्ट मूर्त्ति जो हो नहीं सकती, अथवा अब आज ये सब मूर्त्ति दिखाई ही नहीं देती; कोई ऐसा मत समझ बैठना। "साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना" इस सत्य वाक्य के ऊपर लक्ष्य रखने ही से, मूर्त्त अमूर्त्त विषयक संशय विदूरित हो जायगा। मूर्त्तिरहस्य "पूजातत्व" नामक ग्रन्थ में विस्तृत भाव से आलोचित हुआ है।

—·—

पुनरप्यति रौद्रेण रूपेण पृथिवीतले ।
अवतीर्य हनिष्यामि वैप्रचित्तांश्च दानवान् ॥३९॥

भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान् वैप्रचित्तान् महासुरान् ।
रक्तादन्ता भविष्यन्ति दाड़िमीकुसुमोपमाः ॥४०॥

ततो मां देवताः स्वर्गे मर्त्यलोके च मानवाः ।
स्तुवन्तो व्यहरिष्यन्ति सततं रक्तदन्तिकाम् ॥४१॥

अनुवाद—फिर मैं भीषण आकार से पृथिवी पर अवतरणपूर्वक वैप्रचित्त नामक दानवों को निहत करूँगी। उस उग्र वैप्रचित्त नामक असुरों का भक्षण करके, मेरे दाँत समूह दाड़िमी पुष्प की न्याईं रक्तवर्ण होंगे, तब स्वर्ग में देवतागण एवं मर्त्यलोक में मानवगण सतत स्तव करते करते मुझे रक्तदन्तिका कहते हुये कीर्त्तन करेंगे।

व्याख्या—वेदविद-ब्राह्मण को विप्र कहते हैं—"वेदपाठात् भवेद् विप्रः"। जिनके चित्त में वेद अर्थात् आत्म-सम्वेदन प्रकाश पाता है वे ही वेदवित्, वे ही हैं विप्र, उनका जो चित्त है सोई विप्रचित्त है। इस विप्रचित्त में जो भाव वा वृत्तियां सब प्रकाश पाती हैं, उनको वैप्रचित्त नामक दानवगण कहा जाता है। इनका निधन करने के लिये मा को अति उग्र रूप से प्रकटित होने होता है; कारण, आत्म-सम्वेदन-सम्पन्न पुरुषों के चित्त अतिशय वीर्यशाली होते हैं, उनको विलय करने के लिये मा को भी अति उग्र रूप से आविर्भूत होने होता है।

इसके पूर्व योगियों के निर्माण चित्त का विषय कह चुका हूं। योग शास्त्र में एक सूत्र है—"निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्" आत्मवित् पुरुषगण मात्र अस्मिता से निर्माण-चित्त समूहों का संगठन करते हैं। अर्थात् चित्त विलय के बाद फिर अभिनव चित्त निर्माण करते हैं। उद्देश्य—विश्वहित—लोकैषणा। विश्वमंगल के लिये, योगी पुरुषगण जिस अभिनव कर्माशय का गठन करते हैं, उसे भी विप्रचित्त असुर

कहा जाता है। मा हमारी यथासमय में आविर्भूत होकर उसका भी विलय साधन करती हैं। कारण वह भी कैवल्य का बिरोधी है।

इस विप्रचित्त नामक असुरों के विनाश के लिये, मा को विशेष भाव से पराप्रकृति के रजोगुणात्मक चित्प्रवाह रूप से आत्मप्रकाश करने होता है। जो इसके पूर्व नन्दाशक्ति नाम से अभिहित हुई थीं, वे ही फिर वैप्रचित्त नामक भीषण असुरों का विनाश करके रक्त-दन्तिका नाम से आख्यात होती हैं। दन्त ही भाव राशियों के विलय करने को सर्वश्रेष्ठ साधन है। जब वह अति सूक्ष्म उच्चतम वृत्तियां संहार के अङ्क में विलय प्राप्त होने लगती हैं, तब सत्य ही जान पड़ता है—प्रलयङ्करी मा मानो रक्तवर्ण कराल दंशन-पंक्ति विस्तारपूर्वक भाव समूहों को ग्रास कर रही हैं। गीता के विश्वरूप दर्शन में अर्जुन ने भी ठीक इसी प्रकार ही दंष्ट्राकराल मुखके बीचमें सर्वभावों का विलय देखा था। गीता का वह "यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः"—प्रज्वलित अग्नि में पतङ्गों के समूह की भांति राजन्य वर्गों का विलय एवं यहाँ का दाड़िमी कुसुम सदृश रक्तवर्ण दन्त समूहों के द्वारा वैप्रचित्त असुर कुलों का भक्षण, ये उभय ठीक एक ही भाव के प्रकाशक हैं।

इसी समय से देवतागण एवं मानवगण नन्दाशक्ति को रक्त-दन्तिका बोलकर स्तुति करने लगते हैं। मा जब जैसे भाव से आत्मप्रकाश करती हैं एवं जैसा कार्य सम्पन्न करती हैं, देवतागण और मनुष्यगण मा को तब उसी प्रकार के भाव से और नामसे स्तुति करने लगते हैं; यह ही स्वाभाविक है। ये ही इसके पूर्व मधुकैटभ वध की शक्ति और बीज स्वरूप से वर्णित हुई थीं। यद्यपि वहाँपर विप्रचित्त के प्रलय रूप से कुछ नहीं बोला गया है, तथापि जानने होगा—बहुत्व की स्पृहा का नाश ही यावतीय चित्त विलयों का बीज स्वरूप होता है। बहुभावों की आकांक्षा की निवृत्ति होने ही से, अन्यान्य आसुरिक भावों का विलय होता है। इन रक्तदन्तिका देवी के आविर्भाव से विप्रचित्त नामक असुर एवं योगियों का निर्माण-चित्त पर्य्यन्त विनष्ट हो जाता है। निर्माण-चित्त के मूल में भी तो यही बहुत्व की

स्पृहा ही सूक्ष्म भाव से रहती है, इस बात के अस्वीकार करने का उपाय नहीं। यद्यपि वह बन्धनजनक नहीं है, तथापि भेद ज्ञान तो ठीक ही है। अच्छा जो हो, इस बहुत्व-स्पृहा का सम्यक् विलय साधन करके साधक को कैवल्य पद में प्रतिष्ठित करने के लिये ही नन्दाशक्ति मा का रक्तदन्तिका मूर्त्ति से आविर्भाव होता है।

भूयश्च शतवार्षिक्यामनावृष्ट्यामनम्भसि ।
मुनिभिः संस्तुता भूमौ सम्भविष्याम्ययोनिजा ॥४२॥
ततः शतेन नेत्राणां निरीक्षिष्यामि यन्मुनीन् ।
कीर्त्तयिष्यन्ति मनुजाः शताक्षीमिति मां ततः ॥४३॥

अनुवाद—फिर जब शतवर्ष व्यापी अनावृष्टिवशतः पृथिवी जल-शून्य होगी, तब मैं मुनियों द्वारा संस्तुत होकर अयोनिजा रूप में पृथिवी मे आविर्भूत होऊँगी। क्योंकि तब मैं शतनयनों से मुनियों का निरीक्षण करूँगी, इसीलिये तभी से मनुष्यगण मुझे शताक्षी नाम से कीर्त्तन करेंगे।

व्याख्या—इसके पूर्व नन्दाशक्ति एवं रक्तदन्तिका बीज रूप से प्रथम चरित का रहस्य व्याख्यात हो चुका है। अब मध्यम चरित के रहस्य वर्णन का उपक्रम हो रहा है। देवी बोली, "फिर मैं आविर्भूत होऊँगी। जब शतवर्ष व्यापी अनावृष्टिवशतः जगत जलशून्य होगा, अर्थात् आनन्दमय परमात्म रस के अभाव से जीवजगत शुष्क प्राणहीन साधना की कङ्काल (ठाँठर) मात्र लेकर नाड़ाचाड़ा करेंगे, मुनिगण—ब्राह्मणगण उस धर्म की ग्लानि भय अवस्था से मर्म पीड़ित होकर मेरा स्तव करेंगे, तब अकस्मात् 'भूमौ सम्भविष्यामि' भूमि मे ही मैं प्रकटित होऊँगी—भूमिका अर्थात् भौत्तिक पदार्थ समूह का जड़त्व-ज्ञान तिरोहित करके चित् सत्ता की वा सत्य की प्रतिष्ठा करूँगी। इसी समय में मुनियों को—मननशील साधकों को शतनेत्रों से निरीक्षण करूँगी, अर्थात् मननशील साधकगण तब मुझे विश्वतश्चक्षु

रूप से—विश्वव्यापी दृक्‌शक्तिरूप से दर्शन करेंगे। उसी समय मनुजगण आनन्द से उत्फुल्ल होते हुये, मुझे शताक्षी नाम से कीर्त्तन करेंगे। मनुष्य तब जिधर देखेंगे, उधर ही मेरी दिव्य दृष्टि—स्नेहमय विलोकन देखेंगे, इसीसे शताक्षी नाम कीर्त्तन बिना किये न रह सकेंगे। मैं तब भूमि में अर्थात् जड़पदार्थ समूहों में विशेष भाव से सत्यरूप से चैतन्य रूपसे आत्मप्रकाश करूँगी, सर्वत्र अपनी सत्ता उद्भासित करूँगी, इसीलिये मनुजगण—मनु की सन्तानें सर्वत्र ही-मेरा विशिष्ट प्रकाश अवलोकन करते हुये अतिशय हर्ष को प्राप्त होंगे।"

ततोऽहमखिलं लोकमात्मदेहसमुद्भवैः।
भरिष्यामि सुराः शाकैरावृष्टेः प्राणधारकैः ॥४४॥
शाकम्भरीति विख्यातिं तदा यास्याम्यहं भुवि ॥४५॥

अनुवाद—हे सुरगण! तब मैं आत्मदेह समुद्भूत प्राणधारक शाक समूहों के द्वारा वृष्टि न होने पर्य्यन्त समग्र लोकों का भरण अर्थात् प्रतिपालन करूँगी। उसी समय में मैं पृथ्वीपर शाकम्भरी नाम से विख्यात होऊँगी।

व्याख्या। देवी बोलीं—"हे देवता वृन्दो? वह शताक्षी मैं ही फिर शाकम्भरी नामसे प्रसिद्ध होऊँगा। कारण, उस अनावृष्टि समय में आत्म-देहसमुद्भुत प्राणधारक शाक समूहों के द्वारा अखिल लोक का भरण अर्थात् प्रतिपालन करूँगी।" नागोजीभट्टने इस शाकम्भरी मूर्त्ति का आविर्भाव काल निरुपण किया है—चत्वरिंशत्तम महायुग। अर्थात् वर्त्तमान युग अपेक्षा और एकादश महायुग अतीत होनेपर, तब वह काल आवेगा। उस समय दीर्घकाल व्यापी अनावृष्टि वशतः शस्यादि का सम्पूर्ण अभाव होगा, तब स्नेह विह्वला मा स्वकीय शरीरोत्पन्न शाकके द्वारा पुनः वृष्टि न होने पर्य्यन्त जीव-सन्तानों की रक्षा करेंगीं। ऐसे दुःसमय के उपस्थित होने में अभी भी बहुविलम्ब

है। वर्त्तमानकालीय जीवों के अगणित अधस्तन पुरुषों को भी वैसे विपदापन्न होने की कोई आशन्का नहीं है।

अच्छा जो हो, हम इसके आध्यात्मिक अर्थ को समझने की चेष्टा करें। आत्मदेह समुद्भुत शाक शब्द से क्षितितत्वका रस वा जीवनी शक्ति समझमें आती है। क्षितिही आत्मा की देह है; उससे समद्भूत जो प्राण-धारक शाक अर्थात् जीवनी शक्ति है, सोई आ-वृष्टिकाल जीवों की रक्षा करेगी। तात्पर्य्य यह है कि जब तक वृष्टि नहीं होगी, अर्थात् आनन्दमय ब्रह्मप्रज्ञा की धारासे समग्र विश्व परिप्लावित नहीं होगा, (साधक, समग्र विश्व शद्बसे यहाँपर समग्र बुद्धि समझना) जब तक जीव आनन्दमयब्रह्म सत्ता में पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं होगा, तबतक माँ शाकम्भरी रूप से आत्मदेह समुत्पन्न प्राणधारक शाक के द्वारा जगत का परिपोषण करेंगीं, अर्थात् प्राणप्रतिष्ठाका अनुशीलन करातीहुई त्रिताप सन्तप्त जोवों के हृदयमें शान्तिका उत्स खोल देनेकी चेष्टा करेंगीं।

सुनो—खुलाशा कहते हैं; मा वोलीं—जगत में ऐसा एक समय आवेगा, जब अनावृष्टि से अर्थात् ब्रह्मरसधारा के अभाव से जीव गण अतिशय दुःखित और सन्तप्त हो पड़ेंगे, जब फिर स्थूल जगतमें आत्मरस का सन्धान नहीं पायेंगे, आत्माको जगदतीत अज्ञेय वस्तु कहते हुये परित्यागपूर्वक जीवगण एकान्त वर्हिमुख हो पड़ेंगे, तव मैं शाकम्भरी मूर्त्तिसे आविर्भूत होऊँगी। यह विश्वही तो मेरी देह है, इसे जीवों को समझा दूँगी। तब वे मेरे इस विश्व-शरीर में प्राणधारक शाकका सन्धान पायेंगे। विश्वका प्रत्येक पदार्थ ही तो प्राणमयहै—एकमात्र चैतन्य वस्तुही तो इस विश्वका उपादान है, यह तब अनायास में जीव वृन्दों के उपलब्धि योग्य होगा। तब वे जिधर ही दृष्टिपात करेंगे, उसी ओर ही प्राणधारक शाक देखेंगे, अर्थात् चैतन्य का सन्धान पाकर स्वयं परिपुष्टिता लाभ करेंगे।

एक प्रकार बोला जा सकता है—प्राणहीन, जड़त्वमुग्ध, संसार-सन्तप्त मनुष्यों को फिरसे प्राणप्रतिष्ठ करनाही माकी शाकम्भरी

मूर्त्ति का कार्य्य है। जड़पदार्थों में चैतन्य दर्शन ही शाक के द्वारा जीवनरक्षा का रहस्य है। जो हो, हमने समझा—माँ शाकम्भरी रूपसे हमें प्राणप्रतिष्ठ करा देती हैं। ये शाकम्भरीही मध्यमचरितकी शक्ति रूपसे वर्णित हुई हैं। शाक के द्वारा जीवगणों का भरण अर्थात् पोषण करती हैं इसीसे मा यहाँपर इस नाम से परिचिता हैं। इस शाकम्भरी शब्दका और एकप्रकार अर्थ हो सकता है—कठोपनिषत् ने "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवति ओदनं" इत्यादि मन्त्र से जीवों को अन्न एवं मृत्यु को उपसेचन—व्यञ्जन अर्थात् शाक रूपसे कीर्त्तन किया है। शाक-स्थानीय मृत्यु को जो भरण करती हैं, अथवा आत्मदेह समुद्भूत शाकस्थानीय मृत्यु द्वाराही जो जीवों को भरण करती हैं; अर्थात् पुनः पुनः मृत्युरूप आहार्य्य देकरही जो जीव सन्तानगणों को परिपुष्ट करती हैं, वही हैं शाकम्भरी; अर्थात् अमृत स्वरूप आत्माही शाकम्भरी नाम से परिचित होती हैं।

तत्रैव च वधिष्यामि दुर्गमाख्यं महासुरम्
दुर्गादेवीति विख्यातं तन्मे नामभविष्यति ॥४६॥

अनुवाद। उसी समय में दुर्गम नामक महासुर को निधन करूँगी। तभी से मेरा दुर्गादेवी यह विख्यात नाम प्रचलित होगा।

व्याख्या। मा बोलीं "उसी शाकम्भरी मूर्त्तिही से मैं दुर्गम नामक असुरको निधन करके दुर्गादेवी नाम से विख्यात होऊँगी। जो आत्मतत्व बड़ाही दुर्गम है, जिसकी उपलब्धि नितान्त दुरुह है, श्रुति ने जिसे क्षुरधारा की न्याईं निशित दुर्गपथ बोलकर निर्देश किया है, उसी दुर्विज्ञेय आत्मतत्वको सहजलभ्य कर देने ही के लिये मैं शाकम्भरी शक्तिरूप से आविर्भूत होऊँगी। प्राण प्रतिष्ठा कराके आत्माका सन्धान दूँगी। तब जीवों का दुर्ग अर्थात् जीवत्वरूप दुरावस्ता अनायासमें विनष्ट होजायेगीं, इसीसे उसी समय से वही शाकम्भरी मैं ही दुर्गादेवी नाम से ख्यात होऊँगी।"

दुर्ग शब्द के उत्तर हननाथक आ धातु से दुर्गा शब्द निष्पन्नहुआ है। दुर्गा शब्द का अर्थ—दुर्गति हारिणी जननी है। ये दुर्गाही मध्यम चरित की बीज हैं। दुर्गति-हरण ही इनका उद्देश्य है। इसीसे मध्यम चरित के उपोद्घात में शाकम्भरी शक्ति और दुर्गा वीज का विषय उल्लिखित हुआ है।

प्राचीन ग्रन्थोंमें "दुर्गादेवितिविख्यातं तन्मे नाम भविष्यति" यह अंश नहीं है। प्राचीन टीकाकारों ने भी इसका उल्लेख नहीं किया। पुस्तकों में उल्लेख न रहने पर भी हम किन्तु प्रतिजीवों में ही माका दुर्गादेवी रूप से आविर्भाव देखने में पाते हैं—जबही जीव दुर्गत होता है, दुर्गम असुर के अत्याचार से विव्रत होकर आत्मज्ञानाभिमुखी अग्रसर होने में असमर्थ होता है, तबही मा हमारी दुर्गादेवी रूपसे आविर्भूत होकर दुर्गम असुर को निपातित करती हुई स्नेहभरी सन्तानों की दुर्गति हरण करती हैं, एवं आत्मज्ञान का पथ सुगम करदेती हैं। मालूम होता है भारत में विशेषतः बङ्गदेशमें बहुपुर्वकाल से ही दुर्गा इसीसे पूजा का प्रचलन हुआ है। अभी—इस अविश्वास के युग में—इस श्रद्धाहीनता के युग में भी मनुष्य दुर्गापूजा करके "भूतानि दुर्गा भुवनानि दुर्गा, स्त्रियोनरश्चापि पशुश्च दुर्गा, यद् यद् हि दृश्यं खलुसैव दुर्गा हुर्गा स्वरुपादपरं न किञ्चित्" बोलते बोलते सर्वत्र दुर्गास्वरूप देखकर धन्य होते हैं, किन्तु वह और बात है—

पुनश्चाहं यदाभीमं रूपं कृत्वा हिमाचले।
रक्षांसि क्षययिष्यामि मुनीनां त्राणकारणात् ॥४७॥
तदा मां मुनयः सर्वे स्तोष्यन्त्यानम्रमूर्त्तयः।
भोमादेवीति विख्यातं तन्मे नाम भविष्यति ॥४८॥

अनुवाद—फिर मैं जब अति भयंकर रूप धारणपूर्वक हिमाचल पर अवतीर्ण होकर मुनियों की रक्षा के निमित्त राक्षसों का क्षय करूँगी, तब मुनिगण विनम्र मूर्त्ति से मेरा स्तव करेंगे। तब मेरा

भीमा देवी यह प्रसिद्ध नाम (प्रचलित) होगा।

व्याख्या—लक्ष्मी तन्त्र के प्रमाण अनुसार इस भीमा अवतार का कालवैवस्वत मन्वन्तरीय पञ्चशत्तम चतुर्युग है। उस काल के आने में अभी बहुविलम्ब है। अभी तो हाल में अष्टाविंशति महायुग चल रहा है, अभी और इक्कीस महायुगों से अतीत होने पर, तब कहीं भीमा—आविर्भाव का काल उपस्थित होगा। हम किन्तु मा का इस भीमा मूर्ति में आविर्भाव इस युग में भी कभी कभी प्रत्यक्ष करते हैं। कुछ दिन अतीत हुये, पृथ्वी के पश्चिम भाग में मा ने भीमा मूर्त्ति से आविर्भूत होकर बहुसंख्यक राक्षस प्रकृति जीवों का विनाश साधन किया था। जड़त्व में मुग्ध जीवगण जब एक दूसरे के मुख का ग्रास अपहरण करने को उद्यत होते हैं, तभी समझ में आता है—मा हमारी ने राक्षस प्रकृति से उन्हें अङ्क में धारण कर रक्खा है ; ऐसे जीवों के ही विनाश के लिये मा को बीच बीच में भीमा मूर्त्ति से—भयन्करी रूप से आविर्भूत होने होता है।

अच्छा जो हो, आध्यात्मिक दृष्टि से देखने में आता है—मुनियोंके परित्राण ही के लिये इस भीमाशक्ति का आविर्भाव होता है। मुनि-गण—मननशील साधकगण जब राक्षसी प्रकृति के द्वारा उत्पीड़ित हो पड़ते हैं, तभी मा ऐसे भयंकर-मूर्त्ति से आविर्भूत होती हैं। 'हिमाचल' पर मा का आविर्भाव होता है। जड़त्व विमूढ़ जीवों ही को हिमाचल कहा जाता है। जीव जब जड़त्व में सम्पूर्ण मुग्ध हो पड़ता है, जड़ की उन्नति साधन ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझ बैठता है, तब ही मा भीमा मूर्त्ति से प्रकटित होकर, दुर्भिक्ष महामारी राष्ट्रविप्लव जलप्लावन प्रबल वात्या प्रबल भूमिकम्प प्रभृति रूप से आत्मप्रकाश करके, राक्षस प्रकृति जीवों का विनाश साधनपूर्वक, मननशील साधकों की रक्षा करती हुई, जगत में फिर से सत्य और धर्म्म का प्रतिष्ठा करती हैं। इस प्रकार की भीमा मूर्त्ति में आविर्भाव के समय विश्व हित के लिये धृत-व्रत मुनिगण नम्र मूर्त्ति से मा का स्तव करने लगते हैं। मा उस स्तव से सन्तुष्ट होकर पूर्वोक्त रूप भयन्करी मूर्त्ति

परित्याग करती हैं। तब फिर प्रशान्त मूर्त्ति से—जगद्धात्री मूर्त्ति से आत्मप्रकाश करती हुई चगत् की अशान्ति दूर कर देती हैं।

यदारुणाख्यस्त्रैलोक्ये महावाधां करिष्यति।
तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वाऽ संख्येयषट्पदम् ॥४९॥
त्रैलोक्यस्य हितार्थाय बधिष्यामि महासुरम्।
भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्व्वतः ॥५०॥

अनुवाद—जब अरुणाख्य असुर त्रिलोक को अत्यन्त उत्पीड़ित करेगा, तब मैं त्रिलोक के हित के लिये असंख्य षट्पद् परिवृत भ्रामरी रूप धारण करके, उस अरुण नामक महासुर को वध करूँगी। उसी समय लोक समूह भ्रामरी कहकर मेरा स्तव करेंगे।

व्याख्या—लक्ष्मीतन्त्र के वाक्य अनुसार जाना जाता है—इस भ्रामरी अवतार का काल - वर्त्तमान मन्वन्तरीय षष्ठितम युग है। जोकि वर्तमान युग से इकत्रींश महायुगों के अतीत होनेपर वह काल आवेगा। वह सुदूर भविष्यत की बात है; वर्तमान में उस काल की कल्पना भी नहीं की जाती। जो हो इस मूर्त्ति के स्वरूप वर्णन में उक्त है—"तेजोमण्डल दुर्द्धषा भ्रामरी चित्रकान्तिभृत्। चित्रभ्रमर-पाणिः सा महामारीति गीयते॥" असंख्य भ्रमर परिवेष्टित अथवा विचित्र भ्रमर-पाणि यह मूर्त्ति अरुण नामक असुर को हनन करेगो।

अब हम इसके आध्यात्मिक रहस्य में प्रवेश करने की चेष्टा करेंगे, आत्मज्ञान उदय की पूर्वावस्था को ही अरुण नामक असुर कहा जाता है। जैसे सूर्योदय के पूर्व अरुणोदय होता है, ठीक वैसे ही ज्ञान सूर्य उदयके पूर्वही चिदाभासरुप अरुण का उदय होता है। उसे देखकर जो सब साधक उसी को चरम ज्ञान मान बैठते हैं, जानलो—वे इसी अरुणासुर कर्त्तृक उत्पीड़ित हैं। उत्तम चरित में जो शुम्भासुर नामसे कहागया है, उसीका अपर नाम अरुणाख्व असुर है। यह अरुणासुर यथार्थ ही त्रिलोक का उत्पीड़क है—त्रिलोककी महावाधा—अतिशय

उत्पीड़न संघटन करती है। अहं आत्मा सजकर अनेक कर्त्तृत्व भोक्तृत्व प्रभृति व्यापार समूहों का आश्रय हो जाता है। इसीसे मा हमारी भ्रामरी रूपसे भ्रमविनाशिनी रूप से आविर्भूत होकर चिदाभास के आत्मत्वभ्रम को विनष्ट कर देती हैं। अन्नमयादि षाट्कौषिक देह का नाम है षट्पद। यहाँपर पद शब्द का अर्थ है स्थान। अनात्म वस्तु में आत्मत्वभ्रम इन्हीं छ स्थानों में ही प्रकाश पाता है इसीसे चिन्मयी मा हमारी षट्पद परिवृतारूप से भ्रामरो नामसे परिचिता होती हैं। जब परमात्मा मा स्वरूप से प्रकाशित होकर इस दुरपनेय भ्रमर का विनाश साधन करती हैं; अर्थात् ज्ञानाभासरूप त्रिलोक उत्पीड़क अरुणासुर को विनाश करती हैं तब लोक सब विशुद्ध चैतन्य का सन्धान पाकर निरवच्छिन्न आनन्द सत्तामें प्रतिष्ठित होते हैं एवं भ्रम विनाशिनी मा की भ्रामरी नामसे नानाविध स्तव करने लगते हैं। इसीसे मन्त्रमें "भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वतः" ऐसे देवी वाक्य का उल्लेख है। ऋषि च्छन्द में ये भ्रायरी देवीही उत्तमचरित के बीज रूपसे एवं भीमादेवी शक्तिरूप से उल्लिखित हुई हैं। जो भीमा देवी रूपसे राक्षसी प्रकृति को विलय करती हैं, सोई चिदाभासरूप अरुणासुर का विनाश करके भ्रामरी नामसे परिचित होती हैं आनन्द प्रतिष्ठाही उत्तम चरित का प्रतिपाद्य विषय है।

अब हम संक्षेपमें पूर्वोक्त कई एक मन्त्रोंका सारमर्म जानने की चेष्टा करेंगे। प्रथम—नन्दा शक्ति, रक्तदन्तिका बीज, यह मधुकैटभ-वध—सत्यप्रतिष्ठा वा ब्रह्मग्रन्थि भेदका सूत्र है। द्वितीय—शाकम्भरी शक्ति, दुर्गा बीज, यह महिषासुर-वध—प्राण प्रतिष्ठा वा विष्णुग्रन्थि भेद का सूत्र है। एवं तृतीय—भीमा शक्ति, भ्रामरी वीज, यह शुम्भ निशुम्भ वध—आनन्द प्रतिष्ठा वा रुद्रग्रन्थि भेद का सूत्र है। देवी माहात्म्य वर्णित तीन रहस्योंके यही तीन संक्षिप्त विवरण हैं। केवल अतीत युगों में ही इस प्रकार विशिष्ट आत्मप्रकाश हुआहो, सो नहीं; वर्त्तमानकाल में भी प्रत्येक साधक-हृदय में ऐसेभाव से माका आविर्भाव होता है। और भविष्यत में भी मा हमारी ठीक इसी

प्रकारसे ही जो आत्मप्रकाश करेंगीं। यहीं पर उसकी प्रतिश्रुति भी दे रही हैं।

वर्त्तमान साधन-समरमें मा हमारी ने जिन सब मूर्त्तियों से जिन सब असुरों का निधन किया है, भविष्यत में भी इसी प्रकार करेंगी; उससमयमें मूर्त्ति समूहों के नाम और रूपों की विभिन्नता एवं असुर-गणों के भी नाम और कार्य प्रणाली की विभिन्नता दिखाई देगी। पूर्वोक्त कई एक मन्त्रों से ऐसा ही तात्पर्य्य लक्षित होता है। यह एक सोचने का विषय भी ठीक है। सुदूर भविष्यतकालमें (१) सत्य सत्य ही जीव समूह वर्त्तमान कालीय जीवों की अपेक्षा अधिक विमूढ़ एवं अनेक विभिन्न प्रकृति सम्पन्न होंगे। तबकी आसुरिक वृत्तियांसव यथार्थही वर्त्तमान कालापेक्षा और भी भीषणतर होंगीं। तब अज्ञान इस जीव जगत को और भी आच्छन्न करेगा। इसी प्रकार अज्ञा-नान्धकार जब अत्यन्त घन होगा, ज्ञानमयी माभी तब अधिक सुलभा होगीं। इसी से, मन्त्रमें भी देखते हैं, भविष्यत् युगमें सर्व प्रथम ही नन्दामूर्तिसे शुम्भ निशुम्भवध है। उसके बाद शाकम्भरी मूर्त्तिसे अनावृष्टि से स्वदेहोत्पन्न शाक के द्वारा देश रक्षा, दुर्गारूपसे दुर्ग-मासुर वध, भीमा मूर्त्तिसे राक्षस निधन पूर्वक मुनियों की रक्षा एवं भ्रामरी रूपसे अरुणासुर वध। यही है माकी भविष्यत् कर्मसूची।

इत्थं यदा यदा वाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्य्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥५१॥

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणे सावर्णिक-मन्वन्तरे देवी माहत्म्ये देव्याःस्तुतिः।

---

(१) वर्त्तमान कलियुग के बाद फिर सत्य त्रेता और द्वापर युग अतीत होने पर, द्वितीय बार कलियुग आवेगा। इसी प्रकार एकादश कलियुग अतीत होनेपर जो कलियुग आवेगा उसमें नन्दाशक्ति—इसी प्रकार इक्कीस कलियुग बीतने पर शाकम्भरी शक्ति, एवं इकत्रींश कलियुग बीतने पर भीमा शक्ति का आविर्भाव होगा। यह तन्त्र के प्रमाणों से जानने में आता है।

अनुवाद—इसी प्रकार जब जब दैत्य कर्त्तृक उत्पीड़न होगा तब तब ही मैं अवतीर्ण होकर अरि-संक्षय करूँगी ।

इति श्रीमार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवी माहात्म्य-प्रसङ्गमें देवी की स्तुति ।

व्याख्या—यही है देवी वाक्य का उपसंहार। देवतागणों ने त्रैलोक्य की सर्ववाधा-प्रशमन रूप वर की प्रार्थना की थी, मा ने उस वर प्रदान को उद्यत होते हुए जो सब बातें कहीं, उसमें सुदूर भविष्यत् काल में भी जितने प्रकार के उत्पीड़न होंगे, सो भी परिव्यक्त हुये है। सर्व शेष में बोलीं—"जब जब ही असुर उत्पीड़न उपस्थित होंगे, तब तब ही इसी प्रकार मैं स्वयं अवतीर्ण होकर अरिकुल विनष्ट कर दूंगी।" आत्मज्ञान लाभ के मार्ग में जितने प्रकार को वाधा-उत्पीड़न ही क्यों न आकर उपस्थित हों, मातृचरणों में सर्वतोभाव से शरणागत सन्तानों के उन सब वाधा-विघ्नों को मा स्वयं स्वहस्त से विदूरित कर देती हैं। यह ही हमारे पक्ष में एकमात्र आशा की वाणी और भरोसा का स्थल है। गीता में श्री भगवान ने भी यही बात पुनःपुनः कही है। आत्म समर्पण—योगी का समस्त भार एकमात्र मातृ अङ्क में विन्यस्त है; सुतरां वे सम्यक् भाव से निश्चिन्त है, पूर्ण आनन्दमय—मातृ अङ्कस्थ नग्न शिशु हैं। उनपर जितने रकम की वाधा ही क्यों न उपस्थित हो, मा स्वयं ही उसे दूर कर देती हैं, वर्तमानकाल में भविष्यत काल में एवं अतीत काल में इसका अन्यथा कभी भी नहीं होता, हो नहीं सकता। आओ साधक, हम भी "शरणागत-दीनार्त्त-परित्राणपरायणे। सर्वस्यार्त्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते॥" बोल कर मातृचरणों में शरणागत हों। मा हमारी सर्वविध असुर अत्याचार से रक्षा करके आनन्दमय ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित कर देंगी।

मा ने यहाँ पर "अवतीर्य्याहं" कहकर जिस अवतार तत्व का आभास दिया है, परवर्त्ती अध्याय में "एवं भगवती" इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या में सो सम्यक् रूप से व्यक्त होगा।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य व्याख्या में नारायणी स्तुति समाप्त।

साधन-समर
वा
देवी माहात्म्य ।

रुद्र ग्रन्थिभेद ।

फलश्रुति ।

देव्युवाच ।

ऐभिः स्तवैश्च मां नित्यं स्तोष्यते यः समाहितः ।
तस्याहं सकलां वाधां शमयिष्याम्यसंशयम् ॥१॥

अनुवाद—देवी बोलीं—जो व्यक्ति समाहित होकर इन सब स्तवो के द्वारा मेरा स्तव करेगा, मैं निःसंशय रूप से उसकी सारी वाधायें प्रशमन करूँगी ।

व्याख्या—देवताओं को वाञ्छित वर प्रदान करके, मा ने साधारण भावसे कुछ उपदेश प्रदान किये। इन उपदेशों को हम फलश्रुति नाम से परिचित करते हैं । मा की प्रथम बात "एभिः स्तवैः" । मधुकैटभ वध में ब्रह्मा का स्तव (त्वं स्वाहा इत्यादि), महिषासुर वध में शक्रादि स्तुति, देवी दूत-संवाद में नमस्तस्यै स्तुति एवं शुम्भ वध के अवसान में नारायणी-स्तुति, इन सब स्तवों को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "एभिः स्तवैः" कहा गया है ।

मा की द्वितीय बात—समाहित । चित्त यदि समाहित अर्थात् आत्मस्थ होता है, तबही स्तवादि पाठ का यथार्थ फल लाभ होता है । यहठीक है कि सम्यक् भाव से आत्मस्थ होनेसे तो फिर स्तव होही नहीं सकता; उस अवस्था में तो ज्ञातृ-ज्ञेयादि त्रिपुटी ज्ञानका भी विलय हो जाती है; यहाँ पर ऐसी समाहित अवस्था की बात नहीं

कही गई है। यहाँपर समाहित शब्द से जानने होगा—माकी ओर लक्ष्य स्थिर रखना। माकी ओर देखते हुये, चित्तकी वृत्ति मातृमुखी करके स्तुति वाक्यों का यथायथ अर्थ बोध करते हुये, उसी अर्थानुयायी भावसे और रससे स्वयं भावुक और रसिक होकर, यथासाध्य मातृ-महत्व कीर्त्तन कर सकने ही से समाहित अवस्था में स्तुति पाठ होता है। महत्व कीर्त्तन एवं नाम कीर्त्तन एकही बात है। ऐसा कोई नाम नहीं है, जिसमें माका महत्व कीर्त्तित नहीं होता है। हरि कृष्ण राम दुर्गा श्यामा शिव शंकर प्रभृति जो कोई भी नाम उच्चारण क्यों न किया जाय, उस नामके यथार्थ अर्थ के प्रति अभिनिवेश प्रयोग करने ही से साफ समझ में आता है कि प्रत्येक नामही महत्व ज्ञापक है। यदि नाम के साथ साथ सत्यार्थ-ज्ञानरूप सद्गुरु का आविर्भाव होवे तो निश्चयही ये ही सब नाम प्राणमय और महत्वमय होकर अभीष्ट देवता को सन्निहित करदेते हैं; सुतरां जो साधक हैं, वह नाम कीर्त्तन के साथ साथ ही नामानुयायी भाव एवं रससे भावमय और रसमय हो जाते हैं। इसीसे सर्वाग्रे मन्त्रचैतन्य के विषयमें अभिज्ञता लाभ करना साधकमात्रका ही एकान्त (कर्त्तव्य है) आवश्यक है। मन्त्रचैतन्य न होने पर्य्यन्त स्तव स्तुति पूजा जप उपासना सभी मानो प्राणहीन अनुष्ठान मात्र में पर्य्यवसित होजाते हैं। प्रथम खण्डमें मन्त्रचैतन्य व्याख्यात होचुका है।

जो समाहित-चित्तसे स्तोत्रपाठ कर सकते हैं, मा सत्यसत्यही उनकी सब बाधायें स्वयं प्रशमित करदेती है। क्यों करती हैं ? मानलो, तुम बोलते हो—समाहित चित्तसे सत्यज्ञान से सरल प्राणों से बोलते हो-"ध्वान्तारिं सर्व्वपापघ्नं" ऐसे बोलते बोलते अज्ञान-अन्धकार नाश एवं पापक्षय का भाव तुम्हारे चित्तमें निश्चयही फूट उठेगा। कार्य्यतः वही संघटित होगा; कारण चित्तमें जो भाव सम्यक् रूपसे आहित होता है कुछ दिन बाद फलरूपसे भी वही प्रकाश पाता है। चित्तको जैसे भाव से गठित किया जाता है; चित्त ठीक तैसा ही फल आनयन करता है। इन सब विषयों की युक्तियों के द्वारा समझाने

काभी कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि, इसका फल प्रत्यक्ष है। जब इस प्रकार का अनुष्ठान किया जाता है तभी इसकी सत्यता भी अनुभव की जा सकती है। केवल वाक्यों में जान रखने से नहीं होता, काय्य में करने से निश्चय ही फल पाया जाता है।

——

मधुकैटभनाशञ्च महिषासुर-घातनम्।
कीर्त्तयिष्यन्ति ये तद्वद्वधं शुम्भ निशुम्भयोः ॥२॥
अष्टम्याञ्च चतुर्द्दश्यां नवम्याञ्चैकचेतसः।
श्रोष्यन्ति चैव ये भक्तया मम माहात्म्यमुत्तमम् ॥३॥
न तेषां दुष्कृतं किञ्चिद् दुष्कृतोत्था न चापदः।
भविष्यति न दारिद्रयं न चैवेष्ट वियोजनम् ॥४॥

अनुवाद। जो एकाग्र चित्तसे अष्टमी नवमी एवं चतुर्दशी में मधुकैटभ-नाश, महिषासुर-निधन और शुम्भनिशुम्भ-वध-रूप मेरा उत्तम माहात्म्य कीर्त्तन करता है, अथवा जो भक्ति के साथ श्रवण करता है, उसकी कोई प्रकार की दुष्कृति, अथवा दुष्कृत जन्य कोई आपद नहीं रहती; एवं दारिद्रय किंवा इष्टवियोग उपस्थित नहीं होता।

व्याख्या। पूर्व मन्त्रमें केवल स्तवपाठ का फल कहा गया है, इन मन्त्रोंमें समग्र देवीमाहात्म्य पाठ और श्रवण का फल कहा गया। अष्टमी चतुर्दशी प्रभृतिका आध्यात्मिक अर्थ कीलक स्तोत्रमें व्याखात होचुका है; पुनरुक्ति निष्प्रयोजन। इन सब मन्त्रों में जिस फल श्रुति का उल्लेख है, वह अर्थवाद मात्र नहीं है। यथार्थ ही ये सब मन्त्रोक्त फल प्राप्त होते हैं—देवी ने जो दो बातें विशेष भावसे कही हैं यदि साधक उनकी ओर लक्ष्य राखे।

देवी बोली हैं – 'एकचेतसः एवं 'भक्तया'। प्रथमतः—एक जो वस्तु है—जिसमें कोई प्रकार का भेद नहीं, चित्तको उसके अभिमुखी करके

रखने होगा। और द्वितीयतः—भक्ती के साथ स्तोत्रादि पाठ करने होगा। देवी के वाक्यमें अचल विश्वास एवं देवी के अभिमुख चित्त विन्यास, इन दोनों के रहने ही से देवीमाहात्म्य कीर्त्तन वा श्रवण का जो यथार्थ फल है, सो अवश्य ही प्राप्त होगा (होता है) दुष्कृतादि यथार्थ ही दूरीभूत होजाते हैं। विशेष बात—हम यहाँतक देवीके इन तीन चरित्रों की जैसे भावसे आलोचना करते आरहे हैं, उस तत्त्व को स्थिर राखते हुये यदि कोई चण्डीपाठ वा श्रवण करैंगे, तो उनके सामने माका यथार्थ स्वरूप निश्चयही उद्भासित होगा। उनके लिये दुष्कृत नामक कुछ नहीं रहेगा। सुतरां दुष्कृत जन्य आपदों की भी सम्भावना नहीं रहेगी। इसके बाद दारिद्रय की बात। अभाव बोधका नाम है दारिद्रय। जो "पूर्णमदः पूर्णमिदं" सत्ता में प्रतिष्ठित हैं, उनको अभाव बोध रहही नहीं सकता। इसीसे मन्त्रमें "भविष्पति न दारिद्र्यं:" कहागया है।

"न चैवेष्टाबियोजनम्"—इष्ट वस्तु के साथ वियोग नहीं होता। एकमात्र प्रियतम परमात्माही तो यथार्थ इष्ट वस्तु हैं। उनके साथ कभी भी वियोग संघटित नहीं होता। आशंका होसकती है कि, परमात्माके साथ तो किसी के भी वियोग की सम्भावना नहीं; तो फिर देवीमाहात्म्य के पाठ और श्रवण के फलसे इसप्रकार इष्ट-वियोग के अभाव कहने से क्या लाभ हुआ? यह आपत्ति सत्य है। उत्तर यह है कि परमात्मा के साथ कभी भी किसीका भी वियोग संघटित जो नहीं होता है (वा न हो सकता है), इसे केवल वही समझ सकते हैं, जो समाहित चित्तसे भक्तीके साथ देवी-माहात्म्य पाठ और श्रवण करते हैं।

एकमात्र आत्माही सबका इष्ट है? ज्ञानी अज्ञान धार्मिक-अधार्मिक सभी की एक मात्र इष्ट वस्तु है आत्मा। जो समझते हैं, कामिनी काञ्चन ही उनका इष्ट है, वेभी थोड़ा धीरभाव से चित्तमें विचार करनेसे समझ सकेंगे, एकमात्र आत्माकी प्रीति साधन के लिये ही मनुष्य काम काञ्चन में आसक्त होता है। इस जगत में कोई भी

पार्थिव वस्तु के लिये आत्मा को नहीं चाहता, आत्माके लिये ही पार्थिव विषयों का अन्वेषण करता है। इसीसे (कहने होगा) कहता हूँ—आत्माही है एकमात्र इष्टदेव। उनके साथ देवी माहात्म्य-तत्त्वाधिगामी साधकों का किसी भी काल में वियोग नहीं घटता, घट नहीं सकता।

और साधारण अर्थ में इष्टवियोग शब्दसे, पार्थिव प्रियजन वा प्रिय वस्तु का अभाव समझलेने में भी कोई हानि नहीं। कारण, देवीमाहात्म्य तत्त्वाधिगामी साधकगण मृत प्रियजन, अथवा विनष्ट प्रिय वस्तु को इच्छामात्र से ही स्वकीय हृदय कमल में देखते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यह बात कही गई है। सुतरां कार्यतः तत्त्वदर्शी साधकों को किसी भी अवस्था में इष्टवियोग नहीं होता।

और यदि "न चैवेष्टवियोजनम्" वाक्य का अर्थ करने में बोलो, कि इष्टवियोग जन्य दुःख नहीं होता, तो यह तो और भी सुन्दर अर्थ है। श्रुति कहती है "तरति शोकमात्मवित्" जो आत्मज्ञ पुरुष हैं, सो शोक से—इष्ट-वियोग जनित दुःखसे हमेशा के लिये परित्राण पाते हैं।

शत्रुतो न भयं तस्य दस्युतो वा न राजतः।
न शस्त्रानलतोयौघात् कदाचित् संभविष्यति ॥५॥

अनुवाद। शत्रु दस्यु राजा शस्त्र अनल एवं जलप्लावन से उसकी (देवीमाहात्म्य पाठक का) कभी भी कोई भय नहीं रहता।

व्याख्या। साधारण अर्थ तो ठीक ऐसाही है। भक्ति के साथ समाहित चित्तसे देवीमाहात्म्य पाठ करने से, शत्रु दमन होता है, दस्यु दलन होता है, शस्त्र अग्नि जलप्लावनादि विपत्तियां विदूरित हो जाती हैं। और दूसरी ओर देखो—देवीमाहात्म्य के इस प्रकार पाठ वा श्रवण करने से साधक को आत्मज्ञान लाभ होता है। उसके फल से काम-क्रोधादि शत्रुगण किसी प्रकार से अनिष्ट साधन नहीं कर सकते, विवेक धन हरणकारी मोहरूप दस्युगण विपन्न नहीं कर सकते।

जब तक आत्म साक्षात्कार न हो, तब तक प्रवल प्रारब्ध संस्कारों के वश साधना से भ्रष्ट होने का भय रहता है—आशंका रहती है। अनेक साधक ही आशंका करते हैं – कब कोन गुप्त संस्कार रूपी दस्यु अतर्कित आक्रमण से उसका अति कठोर साधनालभ्य ज्ञान भक्ति किंवा सिद्धि छीन लेंगे; यह जो दस्यु भीति है, यह परमात्म साक्षात्कारी के पक्षमें उपहास मात्र है। कारण वे देखते हैं, आत्मा व्यतीत कहीं भी कुछ भी नहीं है। सत्यदर्शी साधकों के लिये फिर भय ही क्या, और पतनही क्या ?

इसके बाद में रही राजभय की बात। इन्द्रिय वर्गों का राजा है मन, उससे भी कोई भय नहीं रहता। मन की चञ्चलता, विषयाभिमुखिता आत्मविद् गणों के सामने अर्थहीन वाक्य-स्वरूप है। अरे, मन चञ्चल ही रहे वा स्थिर ही रहे, आत्माभिमुखीही रहे अथवा विषयाभिमुखी ही रहे, उससे आत्माका क्या ? 'मैं' तो आत्मा मा हूँ। 'मेरा' फिर राजभय—मनकी चञ्चलता के लिये भय क्या ? जिसने मुझे (मैं को) पहचाना नहीं है, धर नहीं सके हैं, समझ नहीं सके हैं, सोई बोलते हैं—मनकी चञ्चलता के लिये ही साधन भजन नहीं हुआ। अरे चञ्चलता के भीतर होकर ही थोड़े समय के लिये मा को—आत्माको देखो। उसी क्षणार्द्ध काल में ही तो जीवन धन्य हो जावेगा।

"न शस्त्रानलतोयौघात" यह वाक्य गीताके ठीक उसी "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापः" वाक्य के साथ समानार्थक है। शस्त्र अनल एवं जलौघ से उसे कोई भय नहीं। गीतामें जो उपदेश शिक्षा और श्रवण है, देवीमाहात्म्य में उसीकी प्रत्यक्षता उपलब्धि एवं आनन्द है।

——

यस्मान्ममैतन्माहात्म्यं पठितव्यं समाहितैः।
श्रोतव्यञ्च सदा भक्त्या परं स्वस्त्ययनं हि तत् ॥६॥

अनुवाद। अतएव समाहित चित्तसे भक्ति के साथ मेरा यह माहात्म्य सर्वदा पाठ और श्रवण करे; यहही परम स्वस्त्ययन— अतिशय मङ्गलजनक है।

व्याख्या। अतएव क्या ऐहिक सुखभोगार्थी, क्या पारलौकिक स्वर्ग-भोगार्थी, क्या मुमुक्षु, सभी को भक्ति पूर्वक एकाग्रचित्त से यह देवीमाहात्म्य पाठ एवं श्रवण करना उचित है। एकवार पढ़कर "सकृत् कृते कृतः शास्त्रार्थः" कहकर पुस्तक उठाकर रख देने से नहीं चलेगा। देवी ने कहा है—"सदापठितव्यं श्रोतव्यश्च" सर्वदा पढ़े एवं श्रवण करे। बारंबार पठन एवं श्रवण करते करते यह चण्डीतत्त्व तुम्हारे जीवन के प्रत्येक कार्य के साथ समन्वित हो जावेगा। तब देखोगे, तुम्हारे जीवनकी गति आत्माभिमुखी होती हुई, देवीमाहात्म्य प्रोक्त सब साधना तुम्हारे ही जीवन में अनुष्ठित होरही हैं—दिन पर दिन असुरों के साथ युद्ध चलरहा है। तबही समझोगे -देवी ने "सदा" शब्द का प्रयोग करके साधकों को कहाँ जाने के लिये कहा है। यह ही परम स्वस्त्ययन --अर्थात् श्रेष्ठ कल्याण है। जागतिक सर्व विध कल्याण इस देवीमाहात्म्य के पाठ वा श्रवण से लाभ किये जाते हैं। इसीसे मा कहती हैं—यह ही स्वस्ति लाभ का एकमात्र उपाय है। इससे कोई पाठक यह न समझें कि, वेद वेदान्त परित्याग करके केवल देवीमाहात्म्य का ही पाठ और श्रवण करने होगा, नहीं तो कल्याण लाभ नहीं होगा; बात किन्तु सो नहीं है। यदि कोई यथार्थ कल्याणकामी होकर किसी शास्त्र ग्रन्थ का आश्रय ग्रहण करे, वह शास्त्र वेद वेदान्त ही हो, अथवा दर्शन पुराणादि ही हो, इसमें कुछ हानि नहीं। सभी शास्त्रों ने एक ही बात कही है, किसी शास्त्र के साथ किसी शास्त्र का कुछ भी विरोध नहीं है, इसे समझ सकने ही से शास्त्रपाठकी सार्थकता होजाती है। वेदशास्त्र एवं ब्रह्म अभिन्न हैं। इसीसे वेद का भी एक नाम ब्रह्म है। वेदादि शास्त्रों का भी व्यक्तित्व है। वे चैतन्यमय एक जन हैं। शास्त्र रूपिणी मा कृपाकरके जब श्रद्धावान पाठक के हृदयमें सत्यार्थ का प्रकाश करती हैं, तबही

पाठक शास्त्र रहस्य अवधारण कर सकते हैं। इसीसे कहता था कि, शास्त्र की वह विशिष्ट कृपा लाभ करनो हो तो अतिशय श्रद्धा के साथ पूजादि करके शास्त्र पाठ करना कर्त्तव्य है।

शास्त्र कहने से प्रथमही श्रुति उपनिषत् इन सबको समझना। अन्यान्य शास्त्रों का तात्पर्य्य जितना ज्यादा श्रुतियों के अनुगामी करसकोगे, उतनी ही उन सब शास्त्रों की गौरव रक्षा होगी। श्रुति विरुद्ध वाक्य कभी भी उपादेय नहीं। जिसमें आपाततः विरुद्धरूप प्रतीयमान शास्त्र वाक्यों को श्रुति अनुयायी एकार्थ वाची करसको, उसकी चेष्टा करोगे। ऐसी सब चेष्टाओं के सफल होने का ही नाम परम स्वस्त्ययन परम कल्याण है। शास्त्र के वाक्य समूहों की एकार्थ वाचकता हृदयङ्गम कर सकने ही से संशयच्छेद रूप परम कल्याण लाभ होता है। इस देवीमाहात्म्यमें इसी प्रकार सर्वशास्त्र समन्वय विशेष भावसे परिव्यक्त हुआ है (कहा गया है)। इसीसे, इसका पाठ और श्रवण यथार्थही परम स्वस्त्ययन है।

व्यावहारिक जगतमें भी देखने में आता है—गुरु पुरोहितगण शिष्य यजमान के शान्ति और पुष्टि कार्यों के लिये देवीमाहात्म्य-पाठ रुप स्वस्त्ययन के अनुष्ठान करते हैं।

———

उपसर्गानशेषांस्तु महामारीसमुद्भवान् ।
तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम ॥७॥
यच्चैतत् पठ्यते सम्यङ् नित्यमायतने मम ।
सदा न तद्विमोक्ष्यामि सान्निध्यं तत्र मे स्थितम् ॥८॥

अनुवाद। मेरा यह माहात्म्य महामारीजनित अशेष उपसर्ग एवं त्रिविध उत्पातों को प्रशमित करता है। जिस आयतन में मेरा यह माहात्म्य नित्य सम्यक् पठित होता है, उस आयतन को मैं कदाच परित्याग नहीं करती मेरी सान्निध्य वहाँपर सर्वदाही रहती है।

व्याख्या। देवी माहात्म्य-पाठसे महामारी एवं तज्जन्य-उपसर्ग समूह प्रशमित होते हैं। महामारी शव्दका साधारण अर्थ है—जनपद उत्सादक व्याधि। उत्पात एवं उपसर्ग का विषय नारायणी-स्तुतिमें कहा जा चुका है ? मोटी बात यह है कि, समाहित चित्तसे भक्ति के साथ देवी माहात्म्य पाठ करने से, त्रिविध उत्पात, त्रिविध उपसर्ग एवं महामारी प्रशमित होजाती है। आध्यात्मिक अर्थमें महामारी शव्दसे पुनः पुनः मृत्यु जानी जाती है। मृत्युजनित भय से ही नानाविध उपद्रव उपस्थित होते हैं, एवं मृत्यु होनेसे ही पुनः जन्मग्रहणरूप भौम नरकभोग—आध्यात्मिकादि त्रिविध ताप अवश्यम्भावी हैं; देवी माहात्म्य का पाठ एवं श्रवण (आत्मसाक्षात्कारके द्वारा) इन सब उत्पातों के प्रशमनका हेतु स्वरूप होजाता है।

जिस आयतन में अर्थात् गृह में नित्य यह चण्डी पाठ होता है। उस गृह में मा हमारो नित्यही सन्निहित रहती हैं। यह साधारण अर्थ है। आध्यात्मिक भाव से आयतन शव्दका अर्थ है भोगायतन क्षेत्र—देह। मा ने कहा जिस भोगायतन क्षेत्र में मेरा माहात्म्य सम्यक् पठित होता है अर्थात् जो मनुष्य समाहित चित्तसे भक्ति के साथ देवी माहात्म्य पाठ करता है उस स्थान को मैं कभीभी परित्याग नहीं करती, मेरी सान्निध्य वहांपर सर्वदाही वर्त्तमान रहती है। अर्थात् देवी माहात्म्य पाठकों के अन्तरमें बाहिर में सर्वदाही मा विराजित रहती हैं। गीताके राजगुह्य योग में भी ठीक ऐसी ही बात है—"ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।"

अच्छा मा, तुमने कहा—जहाँपर चण्डीपाठ होता है, तहाँपर तुम नित्य सन्निहिता हो; और जहाँपर नहीं होता, वहाँ क्या तुम सन्निहिता नहीं हो ? सुनो, मुझे (मैंको) छोड़कर वास्तव में तो कोई आयतनही नहीं। सुतरां को आयतनही मेरे असन्निहित हो नही सकता। तब बात यही है कि, मैं जो सदा सन्निहित रहती हूं, इसे वेही समझ सकते हैं, जो भक्ति के साथ मेरी भजना करते हैं, अर्थात्

सम्यक् रूपसे देवी माहात्म्य पाठ वा श्रवण करते हैं। समझे साधक। यही है मन्त्र का रहस्य।

बलिप्रदाने पूजायामग्निकार्य्ये महोत्सवे।
सर्व्वं ममैतच्चरितमुच्चार्यं श्राव्यमेव च ॥९॥
जानताजानता वापि बलि पूजां तथा कृताम्।
प्रतिच्छिष्याम्यहं प्रीत्या वह्निहोमं तथा कृतम् ॥१०॥

अनुवाद। बलिदान पूजा याग यज्ञादि अग्निकार्य एवं महोत्सव प्रभृति में भी मेरी यह सब चरित कथा पाठ और श्रवण करे। ज्ञानतः वा अज्ञानतः बलि पूजा होमादि यदि पूर्ववत् भावों से अनुष्ठित हो, अर्थात् मेरी चरित कथा के पाठ वा श्रवण पूर्वक, अनुष्ठित हो, तो ऐसा होने ही से मैं उन सब कार्यों को अतिशय प्रीति के साथ ग्रहण करती हूं।

व्याख्या। पूजा होमादि वैध कार्य्यों में एवं महोत्सवादि लौकिक कार्यों में यह देवी माहात्म्य पाठ एवं श्रवण करना एकान्त कर्त्तव्य है? ऐसा करने से वैध एवं लौकिक कार्य समूह निर्विघ्नतासे सुसम्पन्न होते हैं। यह इस मन्त्रका साधारण अर्थ है। आज पर्य्यन्त भारत में प्राय सर्वत्र ऐसा व्यवहार प्रचलित है।

आध्यात्मिकभावमें देखा जाता है—बलिप्रदान पूजा होम प्रभृति वैधकार्य एवं महोत्सवादि लौकिक कार्य समूह यदि मेरी ओर—माकी ओर—आत्मा की ओर लक्ष्य रखते हुये अनुष्ठित हों, तबही वे सुसम्पन्न एवं शुभ फलदायक होते हैं। कारण, "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च, प्रभुरेव च" मैं ही सब कर्मयज्ञों का एक मात्र भोक्ता और प्रभू हूँ (है)। मेरी ओर (मैंकी ओर) लक्ष्य रखते हुये कार्यों का अनुष्ठान नहीं करने से, वह शिवहीन यज्ञ में परिणत होते हैं। मैं ही तो है शिव। कर्म रूपसे अनुष्ठानरूपसे कर्मफलरूपसे एवं कर्त्तारूपसे मैं ही तो नित्य

प्रकाशित हूं (वा है), इसे स्थिर रखते हुये कर्म का अनुष्ठान करने से, सभी कार्यों में होकर मेरी ही चरित कथा का अनुशीलन होजाता है; एवं उसीके फल से कर्म सब सुसम्पन्न होते हैं।

जो जानते हैं कि, यावतीय कर्मों के द्वारा एकमात्र मेरी (मैंकी) ही पूजा होती है, वेही ज्ञानी वा विधिज्ञ हैं। उन्हीं को लक्ष्य करके ही मन्त्र में 'जानता' पद प्रयुक्त हुआ है। इस विषयमें एक आत्म सम्वेदन भी है—"योगध्यान जपार्चनादि नाम संकीर्त्तनानि च अहंदेव–वियुक्तानि विकलान्याह ब्रह्मवित्॥" योग ध्यान जप पूजा नाम-संकीर्त्तन, इन सबके साथ जब तक अहंदेव युक्त न हों, तबतक वह विकल हैं, अर्थात् अति सामान्य फलदायक हैं। और वैध कर्मादि के अनुष्ठान समय में जो ऐसे लक्ष्य से विच्युत रहते है, उन्हीं को लक्ष्य करके ही मन्त्र में "अजानता" पदका प्रयोग हुआ है। देवी ने कहा—जानता किंवा अजानता, ये दोनों ही अधिकारी कर्त्तृक अनुष्ठित कर्मसमूह मैं प्रीति के साथ ग्रहण करती हूँ। कारण, मेरे (मैं के) व्यतीत और तो किसीको भी यज्ञभाग ग्रहण का अधिकार है नहीं। मैं सबके सब कर्म प्रीति के साथ ग्रहण करती हूं। किन्तु थोड़ा विशेषत्व है। जो ज्ञानी, अर्थात् मेरी ओर लक्ष्य करके कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, मात्र वेही मेरा यह प्रीति के साथ यज्ञभाग ग्रहण समझ सकते हैं। और जो अज्ञानी हैं, अर्थात् जो मेरी ओर से लक्ष्यहीन होकर कर्मो का अनुष्ठान करते हैं, वे मेरा प्रीति पूर्वक यज्ञभाग ग्रहण नहीं देख पाते। ज्ञानीगण जब पत्र पुष्प फल जल हविः प्रभृति मेरे उद्देश्य से अर्पण करते हैं तब उसी अर्पण-समयही प्रत्यक्ष करसकते हैं कि, सत्य सत्य ही मैं यह सब प्रीति के साथ ग्रहण कररही हूँ। सुतरां कर्मों के अनुष्ठान काल में ही उनकोभी तृप्तिलाभ होती है। और अज्ञानजन उस सौभाग्य से वञ्चित होते हैं। जो हो, उभयत्रही—मेरे प्रीति के साथ परिग्रहण के विषयमें कोई संशय नहीं – "प्रतीच्छिष्यामहं प्रीत्या"।

बलि के सम्बन्ध में भी यहाँपर दो एक बात कहना कोई अप्रासङ्गिक नहीं होगा। जो मांस प्रिय हैं, सो छागादि (बकरा) बलिदेंगे।

उनके लिये वही विहित है। उच्छृङ्खल भाव से वृथा-मांस-भोजन से संयत करने के लिये ही शास्त्रने ऐसे बलिदान का विधान किया है। राजसिक पूजामें बलिदान निषिद्ध नहीं। किन्तु जो सात्विक प्रकृति के लोग हैं, जो मत्स्य-मांस-परित्यागी हैं, जो सर्व जीवों में एकही प्राणोंकी विद्यमानता देखते हैं, उनके पक्षमें छागादि-पशु-बलिदान एकान्त असम्भव है। 'पूजातत्व' नामक ग्रन्थ में बलिदान रहस्य सविस्तार आलोचित हुआ है। और एक श्रेणी के साधक निर्विचार से पशु बलिदान कर सकते हैं, जो अपने पुत्रकोभी निष्कम्प हृदय से देवी के उद्देश्य से बलिदान की सामर्थ्य रखते हों। जोभी हो, यहांपर मन्त्रस्थ बलि शब्द को पूजोपहार रूप अर्थ समझलेने ही से सर्व सामञ्जस्य होजाता है।

——

शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी।
तस्यां ममैतन्माहात्म्यं श्रुत्वा भक्ति समन्वितः ॥११॥
सर्ववाधा विनिर्मुक्तो धन धान्य-सुतान्वितः।
मनुष्यो मत्प्रसादेन भविष्यति न संशयः ॥१२॥

अनुवाद। शरत्काल में मेरी जो वार्षिकी महापूजा का अनुष्ठान किया जाता है, उसमें भक्ति के साथ मेरा यह माहात्म्य श्रवण और पाठ करके मनुष्य मेरे प्रसाद से सर्व वाधाओं से मुक्त एवं धनधान्य सुतान्वित होते हैं; इसमें कोई संशय नहीं।

व्याख्या। अभीभी भारत के अधिकांश स्थानों में शरतकालमें महापूजा का अनुष्ठान होता है, किन्तु मन्त्रकथित फललाभ खूब कम लोगों ही को होता है। उसका एकमात्र कारण—यही है कि, समाहित भावसे एवं भक्ति के साथ यथायथभाव से महापूजाका अनुष्ठान नहीं होता। प्रथम बात देवी के वाक्यमें ही संशय रहता है—सत्यही जो महापूजा में चण्डीपाठ के फल से सर्व वाधा विपत्ति दूर

होती हैं, सत्यही जो मनुष्य धनधान्य सुतान्वित होते हैं, इसका अनेक ही विश्वास नहीं कर सकते। ऐसा संशय एवं अविश्वास रहता है इसीसे, इसयुगके वैधकर्म आशानुरूप फलदायक नहीं होता हैं।

शरत्काल - क्षितितत्त्वका विशेष प्रकट-काल है। इसदेशकी ऋतुयें भी विशेष विशेष तत्त्वों के प्रकट भाव की सूचना करती हैं। प्रसङ्ग क्रमसे वे यहाँ पर कही जाती हैं। शरत्काल-क्षितितत्त्व। वर्षाकाल-अप्तत्त्व, ग्रीष्मकाल—तेजस्तत्त्व, वसन्तकाल—मरुत्तत्त्व, एवं शीत-काल—व्योमतत्व। हेमन्त ऋतु को कार्त्तिक मास शरतऋतू को एवं अग्रहण मास शीत ऋतु के अन्तर्गत है। जब जिस तत्त्वकी विशेष अभिव्यक्ति (प्राकटय) होती है, विश्व प्रकृतिमें तव उसी तत्त्व की क्रिया विशेष भावसे प्रकाश पाती है। जो हो, हम यहाँपर शरत्काल की बात कहरहे थे। इस समय में क्षितितत्त्वकी अर्थात घनीभूत जड़त्व की विशेष अभिव्यक्ति होती है। जो इस शरत्कालीय महापूजाका अनुष्ठान करते हैं अर्थात् जड़त्व के आधिपत्य काल में चैतन्यमयी मा की विशेष प्रतिष्ठा करनेमें यत्नवान होते हैं- (जिस पूजामें स्नपन पूजन बलिदान-एवं होमरूप चार अङ्गों का अनुष्ठान होता है,उसे महा पूजा कहते हैं) महापूजा के अङ्गरूपसे देवीमाहात्म्य पाठ वा श्रवण करते हैं, वे सर्व वधाओं से अर्थात् आसुरिक वृत्तियों के उत्पीड़न से परित्राण पाते हैं और धनधान्य-सुतान्वित होते हैं। प्रेमरूप धन, विश्वास रूप धान्य अर्थात् खाद्यसम्भार एवं निर्मल बोधस्वरूप पुत्र लाभ करते हैं। जो माकी पूजाकरके समाहितचित्तसे चण्डीपाठ और श्रवण करते हैं, उनको प्रेमधनका अभाव नहीं होता। विश्वासरूप शस्यसे वा खाद्यसम्भार से उनका हृदय प्राङ्गण नित्य परिपूर्ण रहता है; एवं ज्ञानमय पुत्र जन्म ग्रहण करके पुनः पुनः जन्ममृत्यु रूप संसार नरकसे उनका परित्राण करता है।

श्रुत्वा ममैतन्माहात्म्यं तथा चोत्पत्तयः शुभाः।
पराक्रमञ्च युद्धेषु जायते निर्भयः पुमान् ॥१३॥

रिपवः संक्षयं यान्ति कल्याणञ्चोपपद्यते ।
नन्दते च कुलं पुंसां माहात्म्यं मम शृण्वताम् ॥१४॥

अनुवाद। मेरा यह माहात्म्य एवं शुभ आविर्भाव का विवरण श्रवण करके, मनुष्य युद्धमें पराक्रम लाभ करता है और निर्भीक होता है। मेरे इस माहात्म्य को श्रवणकारी जनगणों के रिपुक्षय होते हैं, कल्याणलाभ होता है एवं कुल आनन्दित होता है।

व्याख्या। देवीमाहात्म्यमें देवीकी विभिन्न प्रकारकी शुभ उत्पत्ति अर्थात् मङ्गलजनक आविर्भाव-विवरण वर्णित हुआ है। महाराज सुरथ ने "कथमुत्पन्ना" कहकर जो प्रथम प्रश्न किया था, उसका उत्तर देते हुये महर्षि मेधसने नानारूपसे देवीके आविर्भाव का विवरण वर्णन किया है। इस देवीकी उत्पत्ति के विवरण को समाहित चित्तसे पाठ वा श्रवण करने से, युद्धमें पराक्रम लाभ होता है, अर्थात् आसुरिक वृत्तियों के दमन की सामर्थ्य प्राप्त होती है। और लाभ होती है निर्भीकता। आत्माही एकमात्र अभय है। श्रुतियों ने पुनः पुनः इस अभयस्वरूप आत्माका प्राप्त करने के लिये उपदेश किया है। "अभयं वै प्रतिपद्यस्व" हे वत्स! तुम अभय अमृतस्वरूप आत्मा को लाभ करो।" उपनिषत् कथित यह अभयवाणी देवीमादात्म्य में भी जो पुनः पुनः उक्त हुई है—इसीके दिखाने के लिये ही लेखक की इतनी चेष्टा (अध्यवसाय) है।

अच्छा जो हो, मन्त्रमें उक्त हुआ है—देवी-माहात्म्य-श्रवणकारी जनगणों के रिपुक्षय होते हैं। रिपुक्षय शब्दसे काम क्रोधादि रिपुगणों का दमन समझने होगा। पक्षान्तर में, इन सब रिपुओं के प्रति साधकों का जो स्वाभाविक एक विद्वेषभाव रहता है, सो दूरीभूत होता है। सर्वत्र आत्मदर्शन के फलसे, रागद्वेष से विमुक्त होकर विषयसमूहों को निर्विचार से भोग करने की सामर्थ्य पैदा होती है। "कल्याणञ्चोपपद्यते"—कल्याण लाभ होता है। आत्मज्ञानही यथार्थ कल्याण है। आत्मज्ञान लाभ होनेसे, जन्ममृत्युरूप अकल्याण हमेशा के लिये दूरीभूत होजाता है।

"नन्दते च कुलं" कुल नन्दित होता है। जिसकुल में आत्मज्ञ पुरुष जन्म ग्रहण करते हैं, उस कुलके ऊर्द्ध तनपुरुषगण आनन्द से नृत्य करने लगते हैं। कारण, उनका मुक्तिमार्ग सुगम होता है। और अधस्तन पुरुषगण आत्मज्ञ पुरुष की कृपासे और आशीर्वाद से परम कल्याण लाभ करते हैं। साधारणों के पक्षमें जो बिल्कुल दुर्लभ है, उस कुलबालो के लिये सो अयत्न लभ्य होता है; इसीसे, आत्मज्ञ पुरुष के ऊर्द्ध तन और अधस्तन कुल के पुरुषगण सर्वदाही आनन्दित रहते हैं। *

——

शान्तिकर्मणि सर्व्वत्र तथा दुःस्वप्नदर्शने।
ग्रहपीड़ासु चोग्रासु माहात्म्यं शरणुयान्मम ॥१५॥
उपसर्गाः शमं यान्ति ग्रहपीड़ाश्च दारुणाः।
दुःस्वप्नञ्च नृभिर्दृष्टं सुस्वप्नमुपजायते ॥१६॥

अनुवाद। सर्व प्रकार के शान्ति कार्यों में, दुस्वप्न दर्शन में एवं उग्रपीड़ा उपस्थित होनेसे, मेरा यह माहात्म्य श्रवण करे। इससे सर्व उपसर्ग उपशान्त होते हैं, दारुण ग्रहपीड़ा विदूरित होती है, एवं मनुष्यों के दुःस्वप्न देखने परभी वह सुस्वप्न में पर्यवसित होता है।

व्याख्या। देवी माहात्म्य श्रवण का यही फल है। इसके पूर्व दो मन्त्रोंमें भी श्रुत्वा' और शृन्वतां, शब्द से केवल श्रवण की ही बात कही गई है। साधक! श्रवण ही तो प्रथम एवं प्रधान साधना है। जिसका श्रवण जितना विशुद्ध एवं सत्यावगाही है, उसका फललाभ भी उतना ही शीघ्र एवं सुनिश्चित है। श्रुतिने भी श्रवण, मनन एवं निदि-

* भक्ति शास्त्र में भी उक्त है—
"कुलं पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा स वसतीश्चधन्या।
नृत्यन्ति स्वर्गे पितरोपि तेषां येषां कुले वैष्णव नामधेयम् ॥
(श्री चैतन्य चरितामृत से-अनुवादक)

ध्यासन कोही श्रेष्ठ साधना कहा है। श्रवण विशुद्ध नहीं होनेसे, मनन विशुद्ध नहीं होता, मनन ठीक न होनेसे, निदिध्यासन का फल व्यर्थ होता है। सुतरां श्रवण जिसका जितना विशुद्ध होगा फल भी उसका उतना ही सुनिश्चित होगा। इस श्रवण के अच्छे होने का उपाय क्या? सबसे प्रथम श्रोता को विनीत और श्रद्धावान होना आवश्यक है, इसके बाद जो वक्ता है अर्थात् जो आत्मतत्त्व के उपदेष्टा हैं, उनका भ्रम प्रमाद-शून्य होना आवश्यक है। यदि सौभाग्यवश से, बहु पुण्यों के फलसे इसप्रकार योग्य वक्ता और श्रोता का मिलन संघटित हो, तब उस स्थान में फललाभ के विषय में कोई संशय ही नहीं रहता। इन उभयों में पूर्वोक्तरूप योग्यता न होनेसे श्रवण वा साधना विफल होजाती है। जहाँपर वक्ता मूक एवं श्रोता वधिर हो, वहाँ पर उभय ही विड़म्वित होते हैं।

अच्छा जो हो, मन्त्रमें उल्लिखित हुआ है, शान्ति कर्मों में दुःस्वप्न दर्शन पर उग्र ग्रह पीड़ा में यह देवी माहात्म्य श्रवण करने होता है (करना चाहिये)। देखो जीव, तुमको हमेशा ही शान्ति का अभाव है, हर हमेशा विषयचिन्तारूप दुःस्वप्न दर्शन कररहे हो, एवं इन्द्रिय रूपी विषय लोलुप ग्रहगण (१) तुमको अहर्निश उत्पीड़ित कररहे हैं। यदि तुम यथार्थ शान्तिलाभ करना चाहो, यदि दुःस्वप्न से विमुक्त होना चाहो, यदि कठिन (भयंकर) ग्रह पीड़ा से परित्राण लाभ करना चाहो, तो "माहात्म्यं शृणुयान्मम" मेरा माहात्म्य श्रवण करो। श्रवण करनेहीसे मनन और निदिध्यासन होगा। तब तुम आत्मज्ञान लाभ करके धन्य होओगे। तुमको निरवच्छिन्न शान्ति लाभ होगी, इन्द्रियों का उत्पीड़न एवं संसार दुःस्वप्न विदूरित होगा। मेरे माहात्म्य श्रवण का यही फल है।

---

(१) वृहदारण्यक उपनिषद में ग्रहशब्दसे इन्द्रियगण को ही लक्ष्य किया गया है। रवि चन्द्र प्रभृति ज्योतिषशास्त्रोक्त ग्रहों के साथ इनका वास्तव में कोई विरोध नहीं। कारण रवि चन्द्रादि ग्रहों के अधिष्ठातृ चैतन्य एवं जीव देहस्थ इन्द्रियों के अधिष्ठातृ चैतन्य अभिन्न हैं।

बालग्रहाभि भूतानां बालानां शान्तिकारकम् ।
संघातभेदे च नृणां मैत्रीकरण मुत्तमम् ॥१७॥
दुर्वृ त्तानामशेषाणां बलहानिकरं परम् ।
रक्षोभूतपिशाचानां पठनादेव नाशनम् ॥१८॥
सर्व्वं ममैतन्माहात्म्यं मम सन्निधिकारकम् ॥१६॥

अनुवाद । जैसे मेरा यह समस्त माहात्म्यपाठ मेरे सानिध्य का सम्पादक है, तैसे ही यह बालग्रह कर्त्तृक अभिभूत बालकों को शान्ति प्रदान करता है, मनुष्य के परस्पर विवाद को विदूरित करके मित्रता सम्पादन करता है, दुर्वृत्तगणों की बलहानि एवं राक्षस भूत और पिशाचों का विनाश साधन करता है ।

व्याख्या । इन तीनों मन्त्रोंमें तृतीय मन्त्र हेतु रूपसे उक्त हुआ है । इसलिये पहिले उसीका उल्लेख आवश्यक है । मा ने कहा मेरा माहात्म्य मेरा सान्निध्यकारक है । पूर्व भी कहा गया है—जहाँपर देवी-माहात्म्य पाठ होता है, वहीं मा सन्निहित होती हैं । मा के सान्निध्य होनेही से अर्थात् विशुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माका प्रकाश होनेही से यावतीय विघ्न और विपद विदूरित होते हैं । बाल शब्दका अर्थ है शिशु अर्थात् अज्ञान, उसके प्रति ग्रहों का जो अभिभव वा आक्रमण है, सो प्रशमित होजाता है । विशुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्माके प्रकाश से अज्ञान जन्य (जनित) यावतीय दुःख दूरहोजाते हैं ।

"सङ्घातभेदे च नृणां" जीवोंका जो परस्पर भेदज्ञान है, सो दूर होता है एवं मैत्रीभाव उत्पन्न होता है । कारण, मनुष्य तब देखता है कि—एक मैं ही तो सबमें समभाव से विराजित है (हूं); आत्मा मनुष्य मात्र ही के प्रियतम हैं । सो सर्वत्र विराजित है; सुतरां भेद-ज्ञान रह ही नहीं सकता । परस्पर मैत्रीभाव स्वतः ही उत्पन्न होता है ।

फिर दुर्वृत्तगणों की—असच्चरित्रोंकी बलहानि होती है, अर्थात् असद् भावापन्न जो जीवप्रकृति है, सो एकान्त दुर्वल होपड़ती है; सम्पूर्ण विनाश को प्राप्त नहीं होती । जबतक देह रहती है, तबतक

जीवप्रकृति रहेगी ही, तब हाँ बलहीन होजाती है। और राक्षसी वृत्ति और पैशाचिक वृत्तियाँ दूरीभूत होती हैं। भूत-प्रकृति, अर्थात् भूतों के प्रति जो आसक्ति—भूत और भौतिक पदार्थों में जो नित्यत्व बोध है, सोभी विलय को प्राप्त होता है। "रक्षोभूत पिशाचानां नाशनं" वाक्य का यही तात्पर्य्य है।

—

पशुपुष्पार्घ्यधूपैश्च गन्धदीपैस्तथोत्तमैः।
विप्राणां भोजनैर्होमैः प्रोक्षणीयैरहर्निशम् ॥२०॥
अन्यैश्च विविधैर्भोगैः प्रदानैर्वत्सरेण या।
प्रीतिर्मे क्रियते सास्मिन् सकृत् सुचरिते श्रुते ॥२१॥

अनुवाद। उत्तम उत्तम पशु पुष्प धूप गन्धद्रव्य एवं दीपादि द्वारा पूजा, ब्राह्मणभोजन होम अभिषेक एवं नानाविध भोग्य वस्तु प्रदान, वे सब कार्य संवत्सरकाल प्रतिदिन अनुष्ठित होनेसे मुझे जिस प्रकार प्रीति प्राप्त होती है, मेरे इस सुचरित के एकवार मात्र श्रवण करने से तैसीही प्रीति होती है।

व्याख्या। मा कहती हैं बाह्य कर्मानुष्ठान अपेक्षा श्रवण का फल अधिक है। नानाविध-उत्कृष्ट उपचारों के द्वारा पूजा, ब्राह्मणभोजन, अभिषेक एवं भूरिदान प्रभृति वैध कार्य नियमित रूपसे दीर्घकाल व्यापी अनुष्ठानों के फलसे मनुष्य जितना शुद्धचित्त होता है—जितना मेरा स्वरूप जान सकता है, जितना मेरे समीपस्थ हो सकता है, समाहित भावसे श्रद्धा के साथ मेरा यह सुचरित यह माहात्म्य एकबार श्रवण करने से मनुष्य उतनी चित्तशुद्धि, उतना ज्ञान और उतना सामीप्य लाभ कर सकता है। सद्गुरु के मुखसे अद्वैत ज्ञान का रहस्य श्रवण करने से अज्ञानान्ध जीव को चाहे क्षणकाल के लिये ही हो एक प्रबुद्ध भाव आता है। मैं कौन हूँ, जगत् क्या है, ईश्वर किसे कहते हैं, उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, उनको पानेसे हमें क्या लाभ होगा, इत्यादि तत्त्व विषयक परोक्षज्ञान केवल श्रवण ही के फलसे

लाभ होता है। यह परोक्ष ज्ञानही तो मातृप्रीति का परिचायक है! मा जहाँपर आत्मप्रकाश करती हैं, वहाँपर इसीप्रकार के भावों से उनकी प्रीति के लक्षण प्रकाश पाते हैं।

पूजा होमादि किंवा भूरि दानादि कार्य दीर्घकाल अनुष्ठानों के फलसे जो चित्तशुद्धि होती है, सो श्रद्धाके साथ एकबारमात्र सद्‌गुरु वाक्य श्रवण से सुनिष्पन्न होजाती है; यह जानकर के ही शायद आचार्य शङ्कर ने कर्मकाण्ड के अनुष्ठानों की अपेक्षा, श्रवण मननादि के ऊपर अधिक जोर दिया है। यहाँपर देयी-वाक्यसे भी वही भाव ही प्रकाश पारहा है। हाँ, तत्त्वज्ञानशून्य प्राणहीन कर्मकाण्ड के दीर्घ-काल अनुष्ठान की अपेक्षा, एकबार मात्र तत्त्वज्ञानोपदेश के श्रवण का फल जो अनेक अधिक है, इसमें कोई संशय नहीं। तब यह भी खूबही सत्य है कि, इस कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के भीतर होकर ही श्रद्धा भक्ति एवं तत्त्वज्ञान धारण की उपयोगिनी धी' का विकाश होता है। प्रश्न उठ सकता है—कर्मकाण्ड परित्याग पूर्वक केवल श्रवण मनन करने से होगा नहीं क्या? नहीं, कर्मकाण्डही तो श्रवण मननादि की सामर्थ्य पैदा करता है। जब किसी को कर्मकाण्ड के त्याग की यथार्थ योग्यता आजाय, तबभी लोकशिक्षा के लिये उन्हें यथाविहित कर्मानुष्ठान करना निन्दनीय तो हैही नहीं, वरं एकान्त प्रयोजनीय है। कारण कर्मकाण्ड ही इस हिन्दूजाति की एकमात्र विशिष्टता है। इसके विलुप्त होनेसे, अथवा इसकी निष्प्रयोजनीयता जनसमाज में परिख्यापित होने से अदूर भविष्यत में वह देश जो म्लेच्छ देशमें परिणत होसकता है ऐसी आशंका करना भी अन्याय नहीं। साधक! यद्यपि तुम यथार्थ ही कर्मकाण्ड के ऊपर उठ चुके हो, तथापि उसी तत्त्वज्ञानरूप भित्ति के ऊपर खड़ेहोकर ही प्राणमय कर्मों का अनुष्ठान करो। गीतामें भी स्वयं भगवान ने ठीक यही बात कही है। कर्त्तव्यरूप से कुछ न रहनेपर भी केवल लोकस्थिति की रक्षा के लिये ही शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान करना उचित है। देशके पक्ष में वही यथार्थ मङ्गल जनक है। जो है, उसे नष्ट मत करो, रक्षा करने की चेष्टा करो।

मृतकर्मों को प्राणमय करो, सत्य सत्य ही कल्याण लाभ होगा। किन्तु यह और बात है :—

इस मन्त्रमें देखा जाता है—माने कहा, "प्रातिर्म्मेक्रियते" मेरी प्रीति को किया जाता है। मा की तो अप्रीति कुछ है नहीं, वे तो नित्य प्रीता हैं उनको फिर प्रीति क्या? वास्तव में उनमें अप्रीति (नामक) कुछ नहीं है यह सत्य होने परभी, वे जो नित्यप्रीता हैं इस तत्त्व को मात्र वेही समझ सकते हैं, जो श्रद्धा के साथ देवीमाहात्म्य श्रवण करते हैं।

——

श्रुतं हरति पापानि तथारोग्यं प्रयच्छति।
रक्षां करोति भूतेभ्यो जन्मनां कीर्त्तनं मम ॥२२॥
युद्धेषु चरितं यन्मे दुष्टदैत्य-निबर्हणम्।
तस्मिन् श्रुते वैरिकृतं भयं पुंसां न जायते ॥२३॥
युष्माभिः स्तुतयो याश्च याश्च ब्रह्मर्षिभिः कृताः।
ब्रह्मणा च कृतास्तास्तु प्रयच्छन्ति शुभां मतिम् ॥२४॥

अनुवाद। मेरे जन्म समूहों का अर्थात् आविर्भाव-विवरण समूहों का श्रवण एवं कीर्त्तन करने से (मनुष्यों के) पाप दूर होते हैं, आरोग्य लाभ होता है, एवं (मनुष्यगण) भूत समूह से रक्षा पाते हैं। युद्धमें दुष्ट दैत्यकुल के विनाश विषयक मेरे चरित-महत्त्व का श्रवण करने से, मनुष्यों को वैरिकृत भय नहीं रहता। (हे देवतागण!) तुमने जो मेरा स्तवन किया, ब्रह्मर्षिगण एवं स्वयं ब्रह्मा ने जो स्तव किया था, सो सब स्तोत्रपाठ मनुष्यों को शुभामति प्रदान करते हैं।

व्याख्या। फलश्रुति वाक्यों में एकही प्रकार बात पुनः पुनः उल्लिखित हुआ करती है। अल्पबुद्धि एवं संशयापन्न लोगों के लिये इसी प्रकार की पुनरुक्ति का विशेष प्रयोजन है। हम यहाँ पर मन्त्र की मात्र कई एक बातों ही का अर्थ करेंगे। "पापानि हरति"—पाप हरण करती है। अनात्मबोधका नाम पाप है। जबतक आत्मातिरिक्त और

किसी की कुछ प्रतीति रहती है, जानना चाहिये—तबतक ही पाप है। इस मातृमहत्त्व एवं मातृ स्वरूप को पुनः पुनः श्रवण मनन करने से साधक "अत्मैवेदं सर्व्वं" इस ज्ञान में उपनीत होता है, सुतरां उसका सर्व पाप दूर होता है।

"आरोग्यं प्रयच्छति" पुनः पुनः जन्म मृत्यु रूप इस भवव्याधि से आरोग्यता लाभ होती है। "भयं न जायते," अभय अमृतस्वरूप आत्मज्ञान लाभ होने से मृत्यु भय हमेशा के लिये विदूरित होता है। "रक्षां करोति भूतेभ्यः" इस अंशका तात्पर्य्य पूर्व ही कहा जा चूका है। एतद्व्यतीत माने और भी कहा—यदि कोई समग्र देवी माहात्म्य के पाठ और श्रवण करने सें असमर्थ होकर, मात्र स्तोत्रों का पाठ और श्रवण करे, तो उसको भी शुभामति अर्थात् आत्मज्ञान-धारणोपयोगी बुद्धि प्राप्त होती है।

——

अरण्ये प्रान्तरे वापि दावाग्नि-परिवारितः।
दस्युभिर्वा वृतः शून्ये गृहीतोवापि शत्रुभिः ॥२५॥
सिंह-व्याघ्रानुयातो वा वने वा वनहस्तिभिः।
राज्ञा क्रुद्धेन वाज्ञप्तो वध्यो वन्धगतोऽपि वा ॥२६॥
आघूर्णितो वा वातेन स्थितः पोते महार्णवे।
पतत्सु वापि शस्त्रेषु संग्रामे भृशदारुणे ॥२७॥
सर्ववाधासु घोरासु वेदनाभ्यर्द्दितोऽपि वा।
स्मरन् ममैतच्चारितं नरो मुच्येत सङ्कटात् ॥२८॥
मम प्रभावात् सिंहाद्या दस्यवो वैरिणस्तथा।
दूरादेव पलायन्ते स्मरतश्चरितं मम ॥२९॥

अनुवाद। अरण्यमे किंवा प्रान्तरमें पतित, दावाग्नि कर्त्तृक परिवृत, असहाय अवस्था में दस्यु अथवा शत्रुगण कर्त्तृक आक्रान्त, वन

मध्य में सिंह व्याघ्र वा वन्यहस्ती कर्त्तृक अनुधावित, क्रुद्ध राजाके आदेश से वध्य अथवा वन्धनदशा प्राप्त, महासमुद्र के मध्य पोतस्थ होताहुआ झड़ (तूफान) द्वारा विघूर्णित, अत्यन्त दारुण संग्राम के शस्त्रपात में निपतित, सर्वविध भयङ्कर विपदों में पतित, एवं रोग यातना से अत्यन्त पीड़ित होकर मनुष्य यदि मेरा चरित स्मरण करे, तो (पूर्वोक्त) सर्वविध सङ्कटों से परित्राण पाता है। (क्योंकि) मेरा चरित स्मरण करने से मेरे प्रभाव से सिंहादि हिंस्रजन्तुगण, दस्युगण एवं वैरिगण दूरसे ही पलायन करते हैं।

व्याख्या। पूर्व में माकी चरितकथा कीर्त्तन का और श्रवण का फल वर्णित हुआ है, अब स्मरण का फल कहा जाता है। श्रवण कीर्त्तन में असमर्थ होकर यथार्थ कातरभाव से मा के इस पवित्र चरित्र का स्मरण कर सकने से भी, मनुष्य पूर्वोक्त विपदों से परित्राण पा सकता है। संसार में जिन जिन कारणों से मनुष्यों के कातरता उपस्थित हो सकती है, उसे बताते समय, माने यहांपर अरण्य प्रान्तर दावाग्नि दस्यु प्रभृति अनेक बातें हो कही हैं। गीतामें भगवानने भी कहा है— "अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम्"। यह मनुष्यलोक अनित्य एवं असुखमय है। संसार की अनित्यता एवं असुख नित्य ही मनुष्यों को कातर बनाये रखती है। उस कातर अवस्था में भी जीव यदि भगवान को स्मरण करे, तो उस स्मरण के फल से कातरता की हेतुभूत जो विपत्ती है उससे परित्राण तो अवश्यम्भावी है ही, अधिकन्तु जीव धीरे धीरे भगवत् सत्तामें भी विश्वासवान होता है। जहाँपर ऐसे आर्त्तजीवों का कातर क्रन्दन है, वहीं पर माँ हमारी का सुप्रकट आविर्भाव भी है।

देखो जीव, तुम क्या सुखी हो! तुम्हारी अवस्था की ओर लक्ष्य करके ही माने यहाँपर "अरण्ये प्रान्तरे वापि" इत्यादि वाक्यों का उल्लेख किया है? देखो, तुम्हारा संसार क्या अरण्य किंबा प्रान्तर सदृश नहीं? असंख्य वन्धु वान्धवों द्वारा परिवेष्टित होते हुये भी यथार्थ ही तुम एका इस संसार-प्रान्तर में पड़कर, सुखकी आशामरी-

चिका में मुग्ध होकर नित्य प्रति प्रतारित होरहे हो। फिर देखो, तुम्हारे चारोही ओर अशान्ति की दावाग्नि जलरही है या नहीं? जिसे तुम शान्ति बोलकर मान रहे हो, (लेते हो) थोड़ा धरिचित्त से लक्ष्य करने ही से समझ सकोगे—तुम्हारी यह शान्ति भी अशान्ति-मिश्रित है। देखो तुम्हारी साधु वृत्तियां बहिर्मुख-विषय-लोलुप वृत्ति रूपी दस्युगण द्वारा विलुन्ठित है या नहीं? देखो, जिन्हें तुम मित्र समझ रहेहो, वही काम क्रोधादि मित्ररूपी वैरिगण तुम्हारी शान्ति नदी का किनारा तोड़दे रहा है या नहीं? देखो, सिंह व्याघ्रादि हिंस्रजन्तुरूपी दुर्दमनीय प्रवृत्ति-निचय कर्त्तृक तुम नित्य-प्रति आक्रान्त हो या नही? देखो तुम शून्य—एका—असहाय हो या नहीं? इसके भी ऊपर देखो—राजाका क्रोध। जो ईश्वर है, जो इस विश्वके राजा हैं, उनके सब आदेशों को पालन करके उनकी सन्तुष्टि का विधान किसी प्रकार भी नहीं कर सक रहे हो; सुतरां उनके पास तुम्हारे उपस्थित होने का उपाय नहीं। उन्हीं के आदेश से तुम वध्य—मरण के पथपर अग्रसर एवं बद्ध संसार शृङ्खलों में आवद्ध होरहे हो। और भी देखो, इस संसार महार्णव में पतित होकर तुम्हारी जीवन नौका अदृष्ट (प्रारब्ध) वायु द्वारा नित्य विघूर्णित होरही है। देखो, तुम प्रवृत्ति निवृत्ति के दारुण संग्राम में नित्य प्रति क्षत विक्षत होरहे हो। फिर शारीरिक व्याधि एवं मानसिक व्याधि द्वारा कितनी यातना भोग कररहे हो। इस प्रकार से तुम घोर सङ्कट में पड़े हो। अपना वर्त्तमान जीवन विशेषरूप से पर्य्यालोचना करके देखो, सत्य सत्यही तुम घोर सङ्कटों में पड़े हो। देखकर आर्त्त होओ, कातर होओ, एकबार मुझे (मैंको) स्मरण करो। जिस महूर्त्त में स्मरण करोगे, उसी महूर्त्त में ही तुम सङ्कटों से परित्राण पाओगे। पुनः पुनः स्मरण करो, पुनः पुनः इस सङ्कट परित्राण का आस्वाद पाओगे। जिनके जीवन में पूर्वोक्त सङ्कट समूह अभी तक उपस्थित नही हुआ है, वे मेरे स्मरण करने का सुयोग नहीं पाते। किन्तु वत्स, मैं तो तुमको बहुत प्यार करती हूं; तुमको इस प्रकार सङ्कटाकुल करके

अपने स्मरण करने का सुयोग प्रदान करती हूँ। आज हो, कलहो, कुछ दिन बाद हो, निश्चय ही तुम इस सुयोग को प्राप्त करोगे। उस शुभ सुयोग के उपस्थित होनेपर मुझे (मैंको) स्मरण करना मत भूलना। स्मरण करसकने ही से सङ्कटों में से परित्राण और क्रम से मेरे दर्शन पाओगे, यही हैं मेरी शेष वाणी।

——

ऋषिरुवाच

इत्युत्वा सा भगवती चण्डिका चण्डविक्रमा।
पश्यतामेव देवानां तत्रैवान्तरधीयत ॥३०॥
तेऽपि देवा निरातङ्काः स्वाधिकारान् यथा पुरा।
यज्ञभागभुजः सर्वे चक्रुर्विनिहतारयः ॥३१॥

अनुवाद। ऋषि बोले—चण्डविक्रमशालिनी वेही भगवती चण्डिका देवी देखते देखते देवताओं के सन्मुख ही अन्तर्हित होगईं। एवं शत्रुकुल के निहत होनेसे देवतागण भी निर्भय होकर यथापूर्व यज्ञभाग-भोगरूप स्व स्व अधिकार प्राप्त किये।

व्याख्या। सत्य सत्यही मा हमारी इसी प्रकार देखते देखते ही अन्तर्हित होजाती हैं। मा को निरवच्छिन्न भाव से पकड़ रखने का अधिकार किसी को भी नहीं। वे अपनी इच्छा से प्रकाशित होती हैं, और अपनी ही इच्छा से अन्तर्हित होजाती हैं। उनके आविर्भाव तिरोभाव के ऊपर हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य किसीको भी नहीं। तब हाँ एक बात यह है कि, मा जब चण्डविक्रमा चण्डिकामूर्त्ति से आविर्भूत होती हैं, तबही जीव यथार्थ धन्य होते हैं। उनके जीवत्व का अवसान होता है—बड़े आग्रह के तीनों खेला के घर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) खस पड़ते हैं, जीव तब अपने स्वरूप का सन्धान पाकर जीवत्व के मोह से हमेशा के लिये परित्राण पाता है। तब देवतागण भी असुर-उत्पीड़न से विमुक्त होकर यज्ञभाग ग्रहण रूप स्व स्व अधिकार प्राप्त करते है– परमात्म-सम्भोग जनित विशिष्ट आनन्द भोग का सुयोग पाजाते हैं।

दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि ।
जगद्विध्वंसिनि तस्मिन् महोग्रेऽतुलविक्रमे ॥
निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः ॥३२॥

अनुवाद । जगद्विध्वंसी अति उग्र अतुल विक्रमशाली देवरिपु शुम्भ एवं महावीर्य निशुम्भ युद्ध में देवी कर्त्तृक निहत होनेपर, हतावशिष्ट दैत्यों ने पाताल में प्रवेश किया ।

व्याख्या—अनुचरों के साथ शुम्भ और निशुम्भ देवी द्वारा निहत होनेपर, हतावशिष्ट दैत्यों ने पाताल में प्रवेश किया । पूर्व द्वितीय खण्ड में कहा जा चुका हैं—सप्त अज्ञानभूमिका ही सप्तपाताल हैं । ज्ञान सूर्य के उदय होने से, अज्ञान समूल नष्ट होता है; सुतरां आत्म स्वरूप-बिषयक अज्ञान जनित आसुरिक वृत्तियां उसके साथ अपने ही से विलय को प्राप्त हो जाती हैं । यहाँ पर भी देवी ने स्वयं युद्ध क्षेत्र में शुम्भ निशुम्भ रूपी अस्मिता और ममता को विलय किया, और हतावशिष्ट आसुरिकभाव सब अपने आप ही अदृश्य होगये ।

साधक ! ठीक ऐसा ही होता है, जिन क्षण में विशुद्ध बोध स्वरूप आत्मा का प्रकाश होता है, उसी क्षण ही अज्ञान एवं अज्ञान जनित यावतीय द्वैत प्रपञ्च सम्यक् तिरोहित होजाता है । बाद में व्युत्थित अवस्था में फिर पूर्ववाधित अज्ञान का एवं तत् कार्यका कथञ्चित् अनुवर्त्तन होता है । इस प्रकार अनुवर्त्तन होने पर भी जीवन्मुक्तता मैं कुछ भी व्याघात नहीं होता, ज्ञानोदय के पूर्व जैसे ज्ञान का आभास मात्र लेकर जीव जगद्भोग करता है, आत्मज्ञान प्राप्त होने पर उसी प्रकार अज्ञान का आभास मात्र लेकर साधक पूर्व वाधित-जगत में अनात्म वस्तुओं में इच्छानुकूल विचरण करने लगता है । फिर प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर अर्थात् देहावसान में जीव कैवल्य-मुक्ति लाभ करता है, हमेशा के लिये ब्रह्म में विलीन हो जाता है, उसकी फिर उत्क्रान्ति वा आवर्त्तन नहीं होता । इसीसे श्रुति कहती है "न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते", उसका पुनरावर्त्तन नहीं होता ।

इस मन्त्र में देवरिपु महोग्र प्रभृति शुम्भ के जो कई एक विशेषण उल्लिखित हुए हैं, धीमान् पाठकों के सामने इन विशेषणों की व्याख्या करना निष्प्रयोजन होगा ; कारण इसके पूर्व अनेक स्थलोंपर इन सब की व्याख्या हो चुकी है।

एवं भगवती देवी सा नित्यापि पुनः पुनः।
सम्भूय कुरुते भूप जगतः परिपालनम् ॥३३॥

अनुवाद—हे भूप ! वे देवी भगवती नित्या होते हुये भी इसी प्रकार पुनः पुनः आविर्भूत होकर जगत का परिपालन करती रहती हैं।

व्याख्या—इस मन्त्र में महर्षि मेधस ने महाराज सुरथ को अवतार तत्त्व का संकेत किया है। यद्यपि इसके पूर्व "इत्थं यदा यदा" इत्यादि मन्त्र में देवी के अवतरण का विषय वर्णित हुआ है, तथापि यहाँपर विशेष भाव से सुरथ को समझाने ही के लिये ऋषि ने उसी देवी वाक्य का पुनरुल्लेख किया है- "जगत् परिपालन के लिये देवी पुनः पुनः सम्भूत अर्थात् आविर्भूत होती रहती हैं।" अवतारवाद के सम्बन्ध में यहाँपर दो एक बात कहना कोई अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

अवतार शब्द का अर्थ है अवतरण। विशुद्ध चित् स्वरूप आत्मा शुद्ध बुद्धि में अवतरण करते हैं। जीव जब विशुद्ध बुद्धि स्वरूप में अवस्थान करने में समर्थ होता है, तब उसी विशुद्ध बुद्धि में ही आत्मा का स्वरूप उद्भासित होता है। आत्मा का इस बुद्धि में उद्भासित होना ही यथार्थ अवतरण वा अवतार है। इससे उनके निर्गुणत्व की कुछ भी हानि नहीं होती, वे स्वरूपतः निर्गुण रहते हुए भी स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य की नाईं निर्मल बुद्धि में उद्भासित होते रहते हैं।

जो समष्टि बुद्धि में प्रतिभासित आत्मा हैं, अर्थात् हिरण्यगर्भ वा ईश्वर हैं, जो सत्य-संकल्प सर्वकाम आप्त-काम हैं, जो प्रेममय स्नेहमय दयामय हैं, जो प्रभु विभु नियन्ता हैं, वे जब किसी व्यष्टिबुद्धि में उद्भासित होकर विश्वमङ्गल साधन करते हैं, तब ही वे अवतार

आख्या से परिचित होते हैं। जब किसी देश के अधिकांश लोग आसुरिक वृत्तियों द्वारा उत्पीड़ित होकर, शान्ति की आशा से ज्ञान की पिपासा में आकुल होकर कातर प्रार्थना करने लगते हैं, तब उसी प्रार्थना के फल से दया के आधार परमेश्वर किसी जीव बुद्धि में आत्मप्रकाश करते हैं, और यथार्थ पिपासू जनसंघ उन्हीं सत्यदर्शी के संस्पर्श में आकर धन्य कृतकृत्य हो जाते है। यही अवतार तत्त्व का यथार्थ रहस्य है।

इस अवतार तत्त्व के सम्बन्ध में गीता और चण्डी दोनों ही ने प्रायः समान मत प्रकाश किया है। गीता कहती हैं—"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम, धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।" और चण्डी कहती हैं—"इत्थं यदा यदा वाधा दानवोत्था भविष्यति, तदा तदावतीर्य्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम्"। दुष्कृतियों का विनाश एवं धर्म संस्थापन, यही गीता कथित अवतार का कार्य है; और आत्मस्वरूप-प्रकाश और अरि संक्षय, यही देवी माहात्म्य कथित अवतार का कार्य है। प्रथमोक्त अवतार द्वारा धर्म की प्रतिष्ठा होती है, और देवी कथित अवतार द्वारा आत्म-प्रतिष्ठा होती है। आत्म-प्रतिष्ठा होने ही से यथार्थ धर्म की रक्षा और जगत् का परिपालन हो जाता है। जहांपर जितने भी अवतारों का आविर्भाव हुआ है, किसी न किसी प्रकार उनके द्वारा इसी सत्य की रक्षा हुई है। सभी अवतार ही हमारी चिन्मयी मा है; मा व्यतीत और किसी के अवतार की सम्भावना नहीं। चैतन्यमयी परमेश्वरी ही तो मानव शरीर में अवतार रूप से प्रकट होती हैं? जो यथार्थ अहं हैं, वे ही तो अवतीर्ण होते हैं! इसीसे, इसके पूर्व हमारी मा ने निज मुख से कहा है—"अहं अवतीर्य" मैं अवतीर्ण होकर अज्ञान रूप अरि कुल का संक्षय करती रहती हूं।

यहाँपर प्रसंगक्रम से एक बात जना देना चाहता हूं—जो यथार्थ पिपासू यथार्थ मुमुक्षु हैं उनके हृदय में हमारी मा प्रथम ही अवतार में अविचल विश्वास रूप से प्रतिष्ठित होती हैं।

यदि किसीका अवतार में दृढ़ विश्वास होता है—अहैतुकी भक्ति होती है, तो उसको श्रेयोलाभ भी सुनिश्चित है। आचार्य शङ्कर को भी अवतार में विश्वास था, उन्होंने गीता भाष्य की भूमिका में अवतार की बात बोलते हुये "देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्व्वन् इव" वाक्य का उल्लेख किया है। जो देहादि संघातरहित हैं, सो—वे ही शुद्ध बोधस्वरूप परमेश्वर माया के प्रभाव से देहवानों की तरह प्रतीत होने लगते हैं। नहीं तो मायिक जीववृन्द उनके निकट भी नहीं हो सकते। परमात्मा ही जीवों के कल्याण के लिये अवतार रूप से आत्मप्रकाश करते हैं। इसे अस्वीकार करने की चेष्टा न करके विश्वास करने की चेष्टा करने ही से जीवों को श्रेय लाभ होता है। साथ हीं साथ एक विषय में विशेष सावधान होने होगा। अवतार की मूर्त्ति ही ईश्वर नहीं है; मूर्त्ति को तो मात्र आश्रय करके ही परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। यह समझने होगा। मात्र मूर्त्ति में ही कहीं किसी का अवतार निश्चय न हो? जो अवतार का यथार्थ स्वरूप है उसकी उपलब्धि करने होती हैं।

——

तयैतन्मोह्यते विश्वं सैव विश्वं प्रसूयते।
सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति ॥३४॥

अनुवाद—(हे सुरथ!) वे इस विश्व को मोहित करती हैं, वे ही इस विश्व की प्रसवकर्त्री हैं, और प्रार्थना करने से वही सन्तुष्ट होकर (जीवको) विज्ञानरूप ऋद्धि प्रदान करती हैं।

व्याख्या—मेधस बोले—हे सुरथ! मा इतनी सुप्रकट होते हुए भी जो अज्ञात रहती हैं, उसका कारण, "तयैतन्मोह्यते विश्वं"—उन्होंने इस विश्व को मोहित कर रक्खा है। तो क्या वे जीव की शत्रु है? मुक्ति दान की सामर्थ्य रहते हुए भी जो स्वेच्छा से जीवों को मोह से आच्छन्न करके रक्खें, उन्हें शत्रु भिन्न और क्या कहा जाय? ना ना वह तो मा हैं! सैव विश्वं प्रसूयते"—वे ही तो इस विश्व को

प्रसव करती हैं। मा क्या कभी सन्तानों की अमंगल कामना करती हैं, वा कर सकती हैं ! तो फिर वे जीव को दर्शन क्यों नहीं देती ? क्यों नहीं देंगी ? "सा याचिता च विज्ञानं तुष्टा ऋद्धिं प्रयच्छति"—मा याचिता होनेही से, वे तुष्ट होकर ज्ञानैश्वर्य प्रदान करती हैं, अर्थात् मा को चाहने ही से वे दर्शन देती हैं। यदि कहो—हम तो कितने चाहते हैं, कहाँ देखा तो देती नहीं ! ना, चाह ही नहीं सकते। और भी दुःख की बात यह है कि जो चाह नहीं सकते, इस बात ही को नहीं समझ सकते। सत्य ही कहता हूं—चाह सकने ही से वे दर्शन देती हैं। जीव जब तुम केवल मा के ही लिये मा को चाह सकोगे तब सत्य सत्य ही मा के दर्शन पाओगे। मा के पास जो चाहोगे, मा निर्बिचार से वही देंगी। जब और कुछ भी नहीं चाहोगे, केवल मा को ही चाहोगे, तब वे विशेष सन्तुष्ट होकर विज्ञान रूप परम ऋद्धि—परम सम्पद प्रदान करेंगीं, जिसके प्रभाव से तुम मातृलाभ करोगे, आत्मज्ञ होओगे, ब्राह्मीस्थिति लाभ करोगे। फिर कहता हूं साधक, केवल चाह सकने ही से मा को पाया जाता है। यह ही सुरथ के प्रति महर्षि मेधस का विशेष उपदेश है।

व्याप्तं तयैतत् सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर।
महाकाल्या महाकाले महामारी - स्वरूपया ॥३५॥
सैव काले महामारी सैव सृष्टिर्भवत्यजा।
स्थितिं करोति भूतानां सैव काले सनातनी ॥३६॥

अनुवाद—हे मनुजेश्वर ! प्रलयकाल में जो महामारी स्वरूपा हैं, उन्हीं महाकाली द्वारा समग्र ब्रह्माण्ड परिव्याप्त हो रहा है। प्रलय काल में वे ही महामारी, सृष्टि काल में वे ही सृष्टि स्वरूपा हैं, और स्थिति काल में वही भूत वर्गों का रक्षण और पालन करती हैं ; अथच वे स्वयं अजा (जन्मरहिता एवं सनातनी (नित्या) हैं।

व्याख्या—मेधस कहते हैं—हे मनुजेश्वर सुरथ ! दर्शन कर—एक मात्र प्रलयङ्कारी महामृत्युस्वरूपा महाकाली इस समस्त ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त होरही हैं ! प्रति जीव, प्रति परमाणु प्रति क्षण में ज्ञात वा अज्ञात अवस्था में अनिच्छा से भी महामारी की ओर मृत्यु की की ओर - ध्वंस की ओर अग्रसर हो रहे हैं। देखो—थोड़ी ज्ञान चक्षु उन्मीलित करके देखो, यह ब्रह्माण्ड एक विराट् ध्वंसयज्ञ मात्र है। सूतिका-गृहस्थ-सद्योजात शिशु से आरम्भ करके मुमुर्ष वृद्ध पर्य्यन्त सभी महामारी स्वरूपा महाकाली की विराट् ध्वंस यज्ञ में आत्माहुति प्रदान कर रहे हैं। जीवों की जो वाल्य यौवन वार्द्धक्य प्रभृति अवस्था वा वयःपरिमाण जो देखने में आता है, वह ध्वंस के पथ पर अग्रसर होने का परिचय मात्र है; अर्थात् कौन कितना ध्वंसपुर की ओर अग्रसर हो चुका है, इसी को जना देता है। सृष्टि एवं स्थिति, ध्वंस ही का पूर्वायोजन मात्र है। इसीसे महामारी स्वरूपिणी काली को ही "सैव सृष्टिः" एवं "सैव स्थितिं करोति" कहा गया है।

जीव ! तुम कौन किधर मा को अन्वेषण करने जा रहे हो। देखो, ब्रह्माण्ड व्यापिनी सृष्टि स्थिति प्रलय शक्ति रूप से एक ही महा काली मूर्त्ति नित्य प्रकटिता हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी एक दिन "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत" कहकर महाकाल रूप से अर्जुन को आत्म परिचय प्रदान किया था। वास्तव में ये कालरूपी भगवान ही जीवों के साध्य एवं उपास्य हैं, कालातीत स्वरूप तो साध्य नहीं, वह वाक्य मन के अगोचर स्वतोगम्य है। मनुष्य इन्हीं काल के हस्तों में आत्म समपण कर सकने ही से, कालविजयी होता है कालातीत सत्ता में उपनीत होता है। मृत्युञ्जय होता है। आओ, हम सब ही जय मा काली कहकर महाकाल की गोद में कूद पड़ें, मा हमको गोद में लेकर कालातीत क्षेत्र में उपनीत होंगीं। हम मृत्युञ्जय होंगे।

चित् स्वरूपा मा सृष्टि स्थिति एवं प्रलय, इन त्रिविध स्वरूपों से आत्मप्रकाश करने पर भी स्वयं अजा—नित्या है। इतने बड़े कार्य में भी उनका विन्दुमात्र क्षयोदय वा विकार नहीं है। जीव ! इन्हीं के

हाथों में अपने को छोड़ दो, मैं मैं बोधको महाकाली के श्रीचरणों में अर्पण करो। अरे, जाने वा अजाने में तुम महाकाली ही की गोद में तो नित्य अवस्थान कर रहे हो! तो फिर नया क्या करोगे! जो सम्पूर्णतः सत्य है, केवल उसी को स्वीकार करने और समझने को कहा जाता है। यदि सकोगे—इस प्रकार आत्म समर्पण करने, तो निश्चय ही तुम कालातीत स्वरूप का सन्धान पाओगे। सांख्य जिसे जड़ा प्रकृति कहता है, वेदान्त जिन्हें मिथ्याभूता माया कहता है, वैष्णव शास्त्र जिन्हें लीला-विलास कहते हैं, तन्त्रशास्त्र जिनको महाकाली कहते हैं, वे—वही एक जन हैं, जो केवल चित् स्वरूप—केवलानुभवानन्द स्वरूप हैं उनमें आत्मसमर्पण करने ही से समझ सकोगे—किस प्रकार वे अजा एवं सनातनी होते हुये भी, विशुद्ध चित् स्वरूपा होते हुये भी सृष्टि स्थिति एवं महामारी स्वरूप से आत्मप्रकाश किया करती हैं।

भवकाले नृणां सैव लक्ष्मीर्वृद्धिप्रदा गृहे।
सैवाभावे तथालक्ष्मी विंनाशायोपजायते ॥३७॥
स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूप-गन्धादिभिस्तथा।
ददाति वित्तं पुत्रांश्च मतिं धर्मे तथा शुभाम् ॥३८॥

इति श्री मार्कण्डेय-पुराणे सावर्णिक-मन्वन्तरे देवी माहात्म्ये शुम्भ निशुम्भ वधः समाप्तः।

अनुवाद। मनुष्यों के अभ्युदय काल में वे ही गृह में वृद्धिप्रदायिनी लक्ष्मी हैं, और अभाव काल में वे ही अलक्ष्मी रूप से सर्वस्वनाशिनी हो जाती हैं। वे स्तुता एवं गन्ध-पुष्पादि द्वारा पूजिता होने से, वित्त पुत्र एवं मङ्गल दायिनी धर्म-बुद्धि प्रदान करती हैं।

इति मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवी माहात्म्य प्रसङ्गमें शुम्भ-निशुम्भ वध समाप्त।

व्याख्या। मनुष्य जब ऐहिक किंवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार का अभ्युदय लाभ करता है, तब समझना चाहिये—"सैव" वेही—वही चैतन्य रूपिणी मा-ही लक्ष्मीरूप से आत्म प्रकाश करती हैं। जब वे वृद्धिप्रदायिनी लक्ष्मी-मूर्त्ति से जीव सन्तान को अङ्क में धारण करती हैं, तब अभावनीय उपायों से चारों ओर से उसको वृद्धि अर्थात् सम्पत् किंवा साधन सामग्री उपस्थित होने लगती है। और जब अभाव उपस्थित होता है, अर्थात् वे सर्वस्वनाशिनी मूर्त्ति से अलक्ष्मी रूप से मनुष्य को अङ्क में धारण करती हैं तब मनुष्य के चारों ओर से विनाश आकर उपस्थित होता है। सर्वत्र ही मा हमारी की महाकाली मूर्त्ति अव्याहता है। अभ्युदयरूप से भी महाकालशक्ति, और विनाश रूप से भी वे ही है। महाकाल चक्र जब जिस भाव से आवर्तित होता है, जीव तब तैसे ही भाव से भावान्वित हो जाता है। मा जब जिस मूर्त्ति से जिसे गोद में लेकर वैठती हैं, तब वह वैसी ही भाव का अभिनय करने लगता है। जाने वा अजाने में जीव काल के—महाकाली के ही अङ्क में अवस्थित हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि, किस उपाय से इन महाकाल शक्ति की प्रसन्नता प्राप्त हो सकती है। इसके उतर में ऋषि ने कहा है— "स्तुता सम्पूजिता पुष्पैर्धूपगन्धादिभिस्तथा,"—स्तव एवं पूजा, यह ही मातृ प्रीति लाभ का अव्यर्थ उपाय है। सभी उपासना-प्रणालियों में येही दो अवाध भाव से अवस्थित हैं। वैष्णव शास्त्र सम्मत उपासना—उच्च स्वर से नाम कीर्त्तन इस स्तव व्यतीत और कुछ नहीं है। योग शास्त्र-कथित ईश्वर प्रणिधान शब्द इसी स्तव एवं पूजा ही का संकेत करता है। पुराण एवं तन्त्र शास्त्र तो प्रत्यक्ष भाव से ही इन दोनों का उपदेश किये हैं। अपौरुषेय वेद समूह भी स्तुति एवं होम का आदेश किये हैं। उपनिषदों के सारभूत गीता शास्त्र में भी स्वयं भगवान् भी स्तव एवं पत्र पुष्पादि के अर्पण रूप पूजा का उपदेश दिये हैं। इस प्रकार हम सर्व शास्त्रों में स्तव एवं पूजा, इन्हीं दोनों को ईश्वरोपासना के प्रधान अङ्ग रूप से देखते हैं। श्रवण मननादि एवं

यम नियमादि यावतीय अनुष्ठान ही इस स्तव और पूजा की सम्यक् सार्थकता लाभ के लिये विहित एवं अनुष्ठित होते हैं। इस भारतवर्ष में जो आवहमान काल से चला आरहा है, उसको—उसी स्तुति एवं पूजा को साधना का प्रधान अवलम्बन स्वरूप ग्रहण करने ही से मा की प्रीति (प्रसन्नता) होती है, एवं साधक भी अभीष्ट लाभ से धन्य होता है। नित्यतृप्ता मा की विशेष प्रीति सम्पादन करने के लिये इस देवीमाहात्म्य कथित स्तुति एवं पूजा ही का विशेष भाव से आश्रय करने होता है।

मा की प्रसन्नता लाभ होने से क्या लाभ होता है ? ऋषि ने कहा—वित्त पुत्र एवं धर्म में शुभामति। यह व्यवहारिक जगत का फल है। और आध्यात्मिक जगत में भक्ति सम्पत् रूप वित्त, निर्मल-बोध रूप पुत्र एवं धर्म में शुभामति अर्थात् धी लाभ होती है—जिसके फल से जीव अनादि काल के जीवत्व वन्धन से हमेशा के लिये विमुक्त हो जाता है। इसीसे कहता हूं, जीव ! तुम सभी यथाशक्ति मा के स्तव एवं पूजा करने से विमुख मत होना। ज्ञान भक्ति एवं कर्मों का ऐसा अपूर्व समन्वय और किसी भी अनुष्ठान में देखने में नहीं आता।

"कलियुग में कर्मकाण्ड का अनुष्ठान बृथा है।" ऐसे लोभनीय वाक्य द्वारा जो साधारण जनों को प्रतारित (ठगने) और मोहित करने का प्रयास करते हैं, मा उनको इस आसुरिक आक्रमण से सन्तानों की सर्वतोभाव से रक्षा करिये।

इति साधन-समर वा देवी माहात्म्य-व्याख्या में
फलश्रुति समाप्त।

—

साधन-समर

वा

देवी माहात्म्य ।

रुद्रग्रन्थि भेद ।

उपसंहार ।

ऋषिरुवाच ।

एतत्ते कथितं भूप देवी माहात्म्यमुत्तमम् ।
एवं प्रभावा सा देवी ययेदं धार्य्यते जगत् ॥
विद्या तथैव क्रियते भगवद् विष्णु मायया ॥१॥

अनुवाद—ऋषि बोले, हे महाराज ! यह उत्तम देवी-माहात्म्य तुमसे जो वर्णन किया है। जो इस जगत् को धारण किये हुये हैं, सो देवी ऐसी ही प्रभाव सम्पन्न हैं। वेही देवी भगवती विष्णुमाया ही विद्या अर्थात् आत्मज्ञान प्रदान करती हैं।

व्याख्या—अब गुरु ब्रह्मर्षि मेधस राजा सुरथ के निकट देवी माहात्म्य का उपसंहार कर रहे हैं। उन्होंने कहा—हे भूप ! हे जड़त्व विजयी जीव ! अति पवित्र- साक्षात् ब्रह्मविद्यास्वरूप यह उत्तम देवी-माहात्म्य तुमसे वर्णन किया। वहु पुण्य फल से ब्रह्म ऋषियों के आशीर्वाद से तुमने इस ब्रह्मविद्या श्रवण के उपयुक्त श्रद्धा और अधिकार प्राप्त किया है; इसीसे तुम्हारे सामने देवी के ये तीन चरित यथा यथ भाव से वर्णन किये। जो अनधिकारी हैं, जिनको अभी तक गुरू-वेदान्त-वाक्यों में-दृढ़-प्रत्यय रूप श्रद्धा नहीं हुई है, उनके सामने (लिये) यह विशेष भलदायक न होने पर भी, तुम्हारे लिये तो यह सम्यक रूपसे फलदायक होगी ऐसी आशा करता हूँ। तुम देवी के

इस अपूर्व महत्त्व को श्रवण करके, इसके किसी भी अंश में संशयान्वित मत होना। इसमें अतिरञ्जित वा कल्पित कुछ भी नहीं है ; जो एकान्त सत्य है, सोही यथायथ भावसे वर्णित हुआ है। जो इस जगत की सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री है, जो अनन्त ऐश्वर्य्य शालिनी विष्णु माया हैं; वे ऐसी ही प्रभाव सम्पन्ना हैं; सुतरां उनके अलौकिक चरित माहात्म्य के विषय में तुम विन्दु मात्र संशय बुद्धि मत रखना। ये भगवती विष्णु माया ही तुम्हारे जैसे जीवों को विद्या दान करती हैं, अर्थात् ब्रह्मतत्त्व-ज्ञानका उपदेश प्रदान करके मुक्ति मार्ग में पहुंचा देती हैं। और मुमुक्षुओं के एकान्त आश्रयणीय मुक्ति रूपसे भी ये ही प्रकाशित होती हैं। "एवं प्रभावा सा देवी"—देवी मा हमारी ऐसी ही प्रभाव-सम्पन्ना हैं।

तया त्वमेष वैश्यश्च तथैवान्येऽविवेकिनः।
मोह्यन्ते मोहिताश्चैव मोहमेष्यन्ति चापरे ॥२॥
तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥३॥

अनुवाद—उन्हीं देवी द्वारा ही तुम, यह वैश्य एवं अन्यान्य विवेकी अथवा अविवेकी, सभी मोहित हो रहे हैं (होते हैं), अतीत काल में हुये थे, एवं भविष्यत में भी होंगे अतएव हे महाराज ! तुम उन्ही परमेश्वरी के शरणापन्न होओ। वे आराधिता होने ही से मनुष्यों को भोग स्वर्ग एवं अपवर्ग प्रदान करती है।

व्याख्या—वत्स सुरथ ! तुम एवं यह वैश्य समाधि, दोनों ही एकदिन बोले थे—"यन्मोहोज्ञानिनोरपि" "ज्ञानी हैं हम हमको भी मोह क्यों होता है ?" किन्तु आज—इतने दिनों में निश्चय ही समझ सके हो कि, उन्ही भगवती बिष्णुमाया द्वारा केवल तुम एवं समाधि ही नहीं, अन्यान्य विवेक सम्पन्न व्यक्ति गण भी मुग्ध होते रहते हैं,

अतीत काल में भी मुग्ध होते थे, एवं भविष्यत काल में भी इसी प्रकार ही मुग्ध होंगे। अरे मा हमारी तो महाकाली हैं! भूत भविष्यत एवं वर्त्तमान, ये तीनों ही तो मा ही की मूर्त्ति हैं! मा हमारी जब तक इस त्रिमूर्त्ति रूप से आत्मप्रकाश करेंगी, अर्थात् स्मृति आशा और कल्पना जबतक जीव बुद्धि में प्रतिभासित होंगीं, तबतक ही जीव महामाया द्वारा इसी प्रकार मोहित होगा। जिनमें कोई कल्पित विभाग नहीं, जो अखण्ड हैं, जो पूर्ण हैं, उनको खण्ड रूप से दर्शन करना ही मोह का कार्य है। यह मोह तीनों काल ही में है, इसीसे मन्त्र में कहा है—"मोह्यन्ते मोहिता मोहमेष्यन्ति" यह मोह ही जगत् प्रपञ्च का—सृष्टि वैचित्र्य का बीज है।" आँख बिना बाँधे लोकाचोरी खेल नहीं चलता" निजस्व स्वरूप का थोड़ा विस्मृति भाव बिना आये, लीलाभिनय सम्पन्न नहीं होता; इसीसे विवेकी अविवेकी सभी को ऐसा मोह अल्पाधिक है, था एवं रहेगा।

हे सुरथ! अमात्य (मंत्री) एवं स्वजनों द्वारा हृत सर्वस्व होने पर भी उनके प्रति यह जो तुम्हारा प्रबल आकर्षण हैं, अपहृत राज्य के लिये अभी भी तुम्हारी यह जो कातरता है, यही है तुम्हारा मोह। यदि यथार्थ ही इस अजेय मोह से परित्राण पाना चाहते हो, तो, "तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्"—हे महाराज! उन्ही परमेश्वरी के शरणापन्न होओ; और कोई उपाय नहीं है। केवल महामाया की शरण लो!

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी ठीक यही बात कही है—"यदि मेरी इस दुरत्यया मायासे परित्राण पाना चाहते हो तो मेरे शरणापन्न होओ।" "मेरे" (मैंके)—माँके, शरण में—आश्रय में आगत होओ; इस प्रकार शरणागत हो सकने ही से माँ हमारी आराधिता हो जाती हैं। माँ के आराधिता होने ही से माँ की प्रीति तुम्हारे उपलब्धि योग्य होंगीं। तब वे तुमको भोग, स्वर्ग एवं अपवर्ग ये तीनों फल प्रदान करेंगीं। सृष्टि स्थिति प्रलय रूपिणी मा की त्रिविध मूर्त्ति से तुम त्रिविध फल लाभ करोगे। माँ प्रथम मूर्त्ति से ब्रह्म ग्रन्थि-भेद करेंगीं,

उसके फल से तुम्हारी विषयासक्ति दूर होगी ; तब पार्थिव भोग सब अपने आप ही आकर उपस्थित होने लगेंगे ; यही मा का प्रथम दान है। द्वितोय मूर्त्ति से वे विष्णु-ग्रन्थि-भेद करेंगी उसके फल से विश्वमय प्रियतम-प्राणसत्ता दर्शन करके तुम स्वर्ग अर्थात् देवलोक सम्भोग से अधिकारी होओगे। और तृतीय मूर्त्ति से वे रुद्रग्रन्थि-भेद करके तुमको विशुद्ध बोध-स्वरूप में—आत्मज्ञान में उपनीत करेंगी; तब तुम अपवर्ग लाभ करोगे। इसी प्रकार केवल तुम्हीं नहीं, परमेश्वरी माके चरणों में एकान्त। (सर्वतो भाव से) शरणागत सन्तान मात्र ही माके निकट से भोग, स्वर्ग एवं अपवर्ग रूप तीन फल लाभ करेंगे वा करते हैं।

शास्त्र ने जिसे चतुवर्ग कहा है, सो इन्हीं तीनों के अन्तरगत हैं। धर्म एवं अर्थ भोग के अन्तर्गत, काम स्वर्ग के अन्तरगत, एवं अपवर्ग और मोक्ष एक ही बात है।

इस मन्त्र में "नृणां" इस पद का प्रयोग देख कर जानने होगा —मनुष्य मात्र ही इन भोगापवर्गों के अधिकारी हैं। आशंका हो सकती है—तो फिर सभी भोगापवर्ग लाभ कर क्यों नही सकते ? इसका उत्तर यही है कि, सभी तो परमेश्वरी के चरणों में शरणागत होते नहीं ? याद रक्खो साधक, मातृचरणों में यथार्थ शरणागत सन्तानों को भोगापवर्ग अवश्यम्भावी है।

मार्कण्डेय उवाच।

इति तस्य वचः श्रुत्वा सुरथः स नराधिपः।
प्रणिपत्य महाभागः तमृषिं संशित-व्रतम् ॥४॥
निर्व्विण्णोऽति ममत्वेन राज्यापहरणेन च।
जगाम सद्यस्तपसे स च वैश्यो महामुने ॥५॥

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले, हे महामुने (क्रौष्टूकि) इस प्रकार उन (मेधस) के वाक्य सुनके हृतराज्य अत्यन्त दुःखित वह नराधिप सुरथ एवं ममत्व हेतु अति निर्व्वेद प्राप्त वैश्य, दोनों ही तीव्र-व्रतधारी उन महाभाग ऋषि (मेधस) को प्रणिपात पूर्वक सद्यः तपस्या करने के लिये प्रस्थान किये।

व्याख्या—अब ब्रह्मर्षि गुरु मेधस के वाक्यों का शेष हुआ। प्रथम "मार्कण्डेय उवाच" कहकर देवीमाहात्म्य आरम्भ हुआ था, अब फिर उपसंहार में भी "मार्कण्डेय उवाच" बोलकर उपाख्यान का शेष किया जा रहा है। यहाँ तक प्रसङ्ग क्रम से सुरथ एवं मेधस ऋषि के वाक्य चले हैं; मूल में किन्तु प्रज्ञाचक्षुरूपी मार्कण्डेय द्वारा स्थूलाभिमानी विश्वरूपी जैमिनी के निकट देवीमाहात्म्य वर्णित हुआ है। अच्छा जो हो, सुरथ हृतराज्य हैं, सुतरां अति निर्विण्ण हैं; वैश्य ममत्वाकृष्ट है, सुतरां वह भी अति निर्विण्ण—अतिशय निर्वेद प्राप्त दुःखित हैं। एक जन राजैश्वर्य्य कामी, और एक जन ममत्व परिहार कामी हैं ; अर्थात् विवेकान्वेषी दोनों ही गुरुवाक्यों में परम श्रद्धावान हैं। ऋषि ने जैसे ही कहा "तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।" सद्यः तैसे ही—तत् क्षणात् वे दोनों ही ऋषि चरणों में प्रणाम पूर्वक उनका आदेश पालन के लिये, तपस्या करने को प्रस्थान किये। आध्यात्मिक भाव में भी देखा जाता है—सुरथ रूपी जीव समाधि की सहायता से विनीत भाव से श्रद्धा के साथ गुरुवाक्य श्रवण पूर्वक, मनन एवं निदिध्यासन के लिये यथाशक्ति अध्यवसाय प्रयोग करते हैं।

साधारण दृष्टि से देखो, सुरथ राज्यार्थी अर्थात् काञ्चनासक्त, और वैश्य स्त्री-पुत्रादिकों की ममता से आकृष्ट अर्थात् कामिनी में आसक्त है। वर्त्तमान जगत् जो दोनों वस्तुओं के प्रति विशेष आसक्त है, सोई दोनों ही इस चण्डी के उपाख्यान भाग की प्रधान भित्ति (जड़) है। घटनाचक्र में दोनों ही विताड़ित हैं, तथापि उन्हीं विनष्ट कामिनी काञ्चन के मोह में आच्छन्न हैं। सौभाग्य क्रम से

सद्गुरु लाभ, देवी-माहात्म्य-श्रवण एवं गुरु के आदेशानुसार से देवी के चरणों में सर्वतोभाव से शरणागत होने के लिये तपस्या। यही धर्म-जीवन लाभ का साधारण क्रम है। अधिकांश मनुष्य इसी प्रकार से ही धर्म राज्य में उपनीत होते हैं। तब हाँ जो बाल्य काल ही से विषय विरक्त एवं साधक है, उनकी बात स्वतन्त्र है (अलग है) क्यों कि वे तो पूर्व ही से प्रस्तुत हैं।

सन्दर्शनार्थमम्बाया नदी-पुलिन-संस्थितः।
स च वैश्यस्तयस्तेपे देवीसूक्तं परं जपत् ॥६॥
तौ तस्मिन् पुलिने देव्याः कृत्वा मूर्त्तिं महीमयीम्।
अर्हणां चक्रतुस्तस्याः पुष्पधूपाग्नि-तर्पणैः ॥७॥
निराहारौ यताहारौ तन्मनस्कौ समाहितौ।
ददतुस्तौ वलिं चैव निजगात्रासृगुक्षिनम् ॥८॥
एवं समाराधायतो स्त्रिभिर्वर्षै र्यमात्मनोः।
परितुष्टा जगद्धात्री प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका ॥६॥

अनुवाद – वे राजा और वैश्य, दोनों ही मातृ दर्शनों के लिये नदीतट पर अवस्थान पूर्वक तपस्या करने लगे। श्रेष्ठ-फल-दायक देवीसूक्त जप, मृत्तिका निर्मित मूर्त्ति स्थापन पूर्वक पुष्प धूपादि द्वारा देवी की पूजा, अग्नितर्पण (होम), निराहारे और अलपाहारे तन्मनस्क भाव से (समाहित होकर) अवस्थान, एवं स्वगात्र-रुधिरसिक्त वलि प्रदान ; ऐसे ही भाव से तीन वत्सर काल संयतचित्त से आराधना करने पर, जगद्धात्री चण्डिकादेवी परितुष्ट होकर प्रत्यक्ष हुईं एवं बोलीं।—

व्याख्या—इन चार मन्त्रों में राजा और वश्य की तपस्या प्रणाली वर्णित हुई है। "संदर्शनार्थमम्बायाः," अम्बाके—माके दर्शन प्राप्ति

के लिये वे दोनों ही लोकालय परित्याग करके, विविक्त देश में नदी तटे अवस्थान पूर्वक नियमित भाव से देवी सूक्त (अहंरुद्रेभिर्वसुभिः इत्यादि) जप, मृण्मयी मूर्त्ति गठन पूर्वक पुष्प धूपादि द्वारा पूजा, अग्नि तर्पण—होम, अल्पाहारे वा निराहारे समाहित भाव से अवस्थान एवं स्वगात्र-रुधिर सिक्त उपहार प्रदान, इत्यादि नानारूप अनुष्ठान किये थे। इस प्रकार एक और दो दिन नहीं, नियमित तीन वत्सर काल प्राणपण तपस्या किये थे।

इसके पूर्व द्वितीय खण्ड के शेष भाग में ऐसी वाह्य पूजा के विषय में अनेक कुछ कहा गया है। सुतरां उसकी पुनः आलोचना निष्प्रयोजन है। यहां पर केवल मूर्त्ति-गठन सम्बन्ध में दो एक बात कहना आवश्यक है। पुराण एवं तंत्र शास्त्रों में मूर्त्ति पूजा का विधान बहु परिमाण में कहा गया है। और इन्हीं सब शास्त्रों में कहा गया है कि मृत्तिका शिला धातु दारु प्रभृति द्वारा मूर्त्ति गठन पूर्वक पूजा करने से कभी भी ईश्वर लाभ नहीं होता; बात विवेचना योग्य है। यदि मात्र मृत्तिकादि गठित मूर्त्ति को ही ईश्वर के स्वरूप ज्ञान से पूजा की जाय तो सत्य सत्य ही यथार्थ ईश्वर लाभ नहीं होता; किन्तु मूर्त्ति को सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री महती शक्ति के घनीभूत विकाश रूप से विराट् चैतन्य सत्ता के केन्द्ररूप में—आत्म-प्रतिविम्ब रूप से परिग्रहण करतः पूजा करने से, वह कभी भी निष्फल नहीं होती। प्राचीन काल के मनीषीगण इसी भाव से विभिन्न मूर्त्तियों की पूजा करके ही अभिन्न ज्ञान में उपनीत होते थे, एवं ब्राह्मी स्थिति लाभ करके जीवन्मुक्ति का आस्वाद ग्रहण करते थे।

कोई कोई कहते हैं, स्थूल बुद्धि मानवों के लिये ही मूर्त्ति पूजा का विधान है। बात सर्वांशों में सत्य नहीं। मूर्त्ति का यथार्थ रहस्य जानकर, सत्य एवं प्राणों में प्रतिष्ठित होकर पूजा करने में एकमात्र आत्मज्ञ पुरुषगण ही समर्थ हैं। तब हाँ वर्त्तमानकाल में इस देश के अधिकांश स्थानों में जैसे भाव से पूजा अनुष्ठानादि होते हैं, सो अवश्य स्थूल बुद्धि कनिष्ठाधिकारियों ही के उपयुक्त है।

सुनो, गाय के सर्वावयवों में दुग्ध रहने पर भी जैसे स्तन व्यतीत अन्य किसी अङ्ग से दुग्ध संग्रह नहीं किया जाता, उसी प्रकार विश्व व्यापी चैतन्य सत्ता की विशेष रूप से उपलब्धि करनी हो तो, विशिष्ट मूर्त्ति के बिना आश्रय लिये अन्यत्र सम्भव नहीं होती। जो स्थूलातिरिक्त चैतन्य सत्ता का सन्धान पा चुके हैं, वे ही मूर्त्ति पूजा के यथार्थ अधिकारी हैं। जब तक स्थूल देह है; जब तक इस मांसपिण्ड (देह) की पूजा के लिये खाद्य पानीय वसन भूषणादि का प्रयोजन है, उतने दिन तक तो मूर्त्ति पूजा रहेगी ही। अहर्निश परमात्म स्वरूप में अवस्थान करने के पूर्व पर्य्यन्त, अर्थात् योगवाशिष्ठ कथित पदार्थाभाविनी एवं तुर्य्यगा भूमिका में आरोहण करने के पूर्व पर्य्यन्त जाने वा अजाने में सभी कोई किसी न किसी प्रकार से मूर्त्ति पूजा करते ही रहते हैं, सुतरां पूर्वोक्त रूप अवस्था लाभ करने के पूर्वमें हठकारिता के वशवर्त्ती होकर मूर्त्ति पूजा परित्याग करना उच्छृङ्खलता का परिचायक है। जड़ज्ञान से पूजा करने ही से कुछ दिनों से इस देश में जड़त्व आ गया है। फिर से प्राण प्रतिष्ठा करके मूर्त्ति पूजा कर सकने ही से, देश का यह जड़त्व रूप पाप दूरीभूत हो जायगा। "पूजा तत्व" नामक ग्रन्थ में यह विषय सविस्तार आलोचित हुआ है।

जो हो, मन्त्र में कहा गया है—सुरथ और समाधि केवल मृण्मयी पूजा करके ही चुप नहीं हो बैठे, उन्होंने संयताहार से निराहार से तन्मनस्क भाव से अवस्थान किया था। आहार शब्द का अर्थ है विषय ग्रहण। आचार्य; शंकर ने भी कहा है—"इन्द्रियों के द्वारा विषयों का आहरण करने का नाम ही आहार है।" इस प्रकार आहार जब संयत होता है, अर्थात् 'ईशावास्य' करके—सत्यप्रतिष्ठा करके विषय ग्रहण किया जाता है तभी उसे यताहार—संयताहार कहा जाता है। और इन्द्रिय समूह के विषय हरण से सम्यक् निवृत्ति का नाम है निराहार। तन्मनस्क शब्द का अर्थ है समाहित भाव। तत् शब्द का अर्थ है ब्रह्म। उसमें मन का सम्यक् विलय होने ही से साधकों की तन्मनस्क अवस्था होती है। मोटी बात—सुरथ और

समाधि ने देवीसूक्त पाठ रूप मंत्र जप एवं प्रतिमा पूजा रूप बहिरङ्ग साधनों के साथ साथ ही प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि का भी अनुशीलन किया था। केवल यही नहीं, साधना के जो प्राण हैं, जिसके नहीं होने से साधना ही नहीं होती, उसका भी सम्यक् अनुशीलन किया था—"ददतुस्तौ बलिं चैव निज गात्रासृगुक्षितम्"—स्वगात्ररुधिरसिक्त उपहार मातृ चरणों में अर्पण किये थे। स्वगात्र रुधिर शब्द का आध्यात्मिक अर्थ प्राण है। ऐसा अर्थ हमारा स्वकपोल कल्पित नहीं है। उपनिषत् ने भी प्राणों को आङ्गिरस कहा है। अङ्ग का रस होने ही से प्राणों का एक नाम आङ्गिरस है। अङ्ग का रस एवं स्वगात्र रुधिर ठीक एक ही अर्थ के प्रकाशक हैं। जो हो, सुरथ और समाधि ने अपने विशिष्ट प्राणों को लेकर मातृ चरणों में अर्पण किया था। साधक! जब तक सम्यक् रूप से प्राण समर्पण न हों, तब तक बलि अर्थात् पूजा के उपहारों को ठीक इसी प्रकार स्वगात्र रुधिरसिक्त करके, अर्थात् प्राणमय करके—प्राण के प्रतिनिधि करके मातृ चरणों में अर्पण करने होता है। अभी तक भी इस देश की पूजा प्रणाली में एक विधान प्रचलित है—"आर्च्चतं अर्च्चिताय-दद्यात्"—पाद्य अर्घ्य प्रभृति पूजा के उपचारों को प्रथम गन्ध पुष्पादि द्वारा अर्चना करके तब अर्पण करते हैं। दुर्भाग्यवशतः वर्त्तमानकाल में वह एक अनुष्ठान मात्र में पर्य्यवसित हो गया है। (लीक पीटना मात्र है)। इस छोटे से कार्य के भीतर जो इतना बड़ा एक गम्भीर तत्त्व निहित है, उसकी ओर अधिकांश लक्ष्य ही नहीं करते। उपचारों को निजगात्रासृगुक्षित करने के लिये ही ऐसा विधान है। स्वगात्र—असृक् द्वारा उक्षित (सिक्त रसार्द्र) नहीं होने से—अङ्ग के रस द्वारा अर्थात् प्राण द्वारा सञ्जीवित नहीं होने से, वह मातृ चरणों में सम्यक् अर्पित नहीं होते। दीयमान पाद्य अर्घ्य प्रभृति उपचारों में स्वकीय प्राण सत्ता दर्शन करके—सत्य और प्राण प्रतिष्ठा करके, तब अर्पण करने होता है। अरे, हमारे व्यष्टि प्राण समष्टि महाप्राणों में सम्मिलित नहीं होते इसीसे तो मातृ-साक्षात्कार नहीं होता!

साधना सफल नहीं होती ! किन्तु पत्र पुष्पादि रूप क्षुद्र क्षुद्र उपचारों को इसी प्रकार से सत्यमय प्राणमय करके महाप्राण रूपिणी मा के चरणों में अर्पण करने में अभ्यस्त होने से सत्य सत्य ही एक दिन जीव के ये क्षुद्र-प्राण ही महाप्राणों में मिल जाते हैं, जीव तब मातृ लाभ से धन्य होता है। राजा सुरथ एवं समाधि वैश्य ने इस रहस्य को समझ कर ही पूर्वोक्त प्रकार प्राण समर्पणके अनुशीलनरूप तपस्या की थी। इस प्रकार तीन वत्सरकाल संयत भाव से तपस्या करने पर जगद्धात्री चण्डिका देवी वरदायिनी मूर्त्ति से आविर्भूत हुईं।

मन्त्र में "त्रिभिर्वर्षैः" ऐसा उल्लेख है। आध्यात्मिक भाव में इसका अपूर्व समाधान परिलक्षित होता है। वर्ष शब्द का अर्थ केवल सम्बत्सर परिमित काल नहीं, उसका अर्थ स्थान भी हो सकता है। त्रिवर्ष में अर्थात् तीन स्थानों में पूर्वोक्त रूप उपासना करनी होती है। एक मनोमय क्षेत्र, एक प्राणमय क्षेत्र एवं अन्य ज्ञानमय क्षेत्र। इन्हीं तीन क्षेत्रों में उपासना करना ही है त्रिवर्ष व्यापक तपस्या। ऐसे भाव से आराधित होने ही से मा हमारी परितुष्टा होकर जगद्धात्री और चण्डिका रूप में आविर्भूत होती हैं। उसके फल से साधक का त्रिविध ग्रन्थि भेद हो जाता है। किस भाव से साधना करने से शीघ्र अभीष्ट लाभ होता है, उसे ही विशेष भाव से दिखाने के लिये यहाँपर सुरथ और समाधि की उपासना प्रणाली वर्णित हुई है।

——

देव्युवाच।

यत् प्रार्थ्यते त्वया भूप त्वया च कुलनन्दन।
मत्तस्तत् प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत् ॥१०॥

अनुवाद—देवी बोलीं- हे भूप! हे कुलनन्दन! तुम्हारा जो कुछ प्रार्थनीय हो, मेरे पास से सो सभी प्राप्त होगा। मैं परितुष्टा होकर वही प्रदान करती हूं।

व्याख्या—मा ने आज वरदायिनी मूर्त्ति से आविर्भूत होकर सुरथ और समाधि को अभीष्ट वर प्रदान किया। परवर्त्ती मन्त्र में वर का विषय वर्णित होगा। मा ने यहाँ पर सुरथ को भूप एवं वैश्य को कुलनन्दन कहकर सम्बोधन किया। इन्हीं दोनों सम्बोधनों के द्वारा ही दोनों की अभीष्ट सिद्धि की पूर्व सूचना कर दी। भू अर्थात् जड़ पदार्थ समूह का अधिष्ठाता होने के कारण ही सुरथ को भूप कहा गया। और वैश्य का सम्बोधन है कुलनन्दन—कुल को आनन्द-दायक। जिस कुल में ब्रह्मज्ञ सन्तान जन्म ग्रहण करती है, सत्य सत्य ही उस कुल के उर्द्धतन एवं अधस्तन पुरुषगण शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति की आशा से आनन्द में विह्वल हो जाते हैं।

मार्कण्डेय उवाच।

ततो वव्रे नृपो राज्यमविभ्रंश्यन्यजन्मनि।
अत्र चैव निजं राज्यं हतशत्रुबलं बलात् ॥११॥
सोऽपि वैश्यस्ततो ज्ञानं वव्रे निर्व्विण्ण मानसः।
ममेत्यहमिति प्राज्ञः सङ्गविच्युतिकारकम् ॥१२॥

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले—तब राजा सुरथ ने जन्मान्तर में अस्खलित राज्य एवं इस जन्म में अपनी सामर्थ्य से शत्रुबल निधन पूर्वक स्वराज्य-लाभ की प्रार्थना की। और उस प्राज्ञ—विषय विरक्त वैश्य ने पुत्र कलत्रों के प्रति ममत्व एवं देहादि में अहंबोधरूप अज्ञान विनाशक आत्मज्ञान की प्रार्थना की।

व्याख्या—सुरथ—जीवात्मा ; वह चाहे जितना ही ज्ञान लाभ करे, उसकी स्वाभाविक वृत्ति भोगाभिमुखी ही रहती है। इसीसे उसने वर्त्तमान जीवन में शत्रुबल निधन पूर्वक गये हुये राज्य की पुनः प्राप्ति जन्मान्तर में भी निष्कन्टक राज्य की मा से प्रार्थना की। इसके पूर्व इन्द्रिय एवं वहिर्मुखी चित्तवृत्तियों द्वारा निर्जित होकर जीव आत्म

राज्य से विच्युत हो गया था, अब उसने उन्हीं इन्द्रिय एवं चित्त वृत्तियों के ऊपर आधिपत्य की प्रार्थना की। जिससे फिर कहीं बिषयेन्द्रिय द्वारा उत्पीड़ित न होना पड़े। वे सब सम्यक् रूप से निर्जित होकर निरङ्कुश भाव से विषय भोगों के उपकरण स्वरूप होकर बने रहें। इस प्रकार केवल इसी जन्म में नहीं, जन्मान्तर में भी जिससे इसी प्रकार निष्कण्टक भाव से आत्मराज्य भोग करने की सामर्थ्य पावे। यही है सुरथ की प्रार्थना। और समाधि—वह तो पूर्व से ही "निर्व्विण्ण है" विषय-विरक्त है ; सुतरां "ज्ञानं बव्रे" आत्मज्ञान की प्रार्थना की। जिसके प्रभाव से अहं ममत्व रूप संसारासक्ति समूल से विनष्ट हो जावेगी।

ठीक ऐसा ही होता है। साधक जब मा को पाता है, तब उसका मन चाहता है अवाध भोग ; और प्राण चाहते हैं चिर शान्तिमय अपवर्ग—आत्मा में सम्यक् रूप से आत्म भोला होना (आत्म भूला होना अपनया-अहं जीव भावीय डुबा देना) मा के दर्शन पाने से साधक को इस प्रकार भोग एवं अपवर्ग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। इस बात को समझाने के लिये ही मन्त्र में सुरथ की राज्य प्रार्थना एवं समाधि की ज्ञान प्रार्थना कही गई है। महाभारत में श्रीकृष्ण की कपटनिद्रा उपाख्यान में भी ठीक ऐसा ही भाव देखने में पाया जाता है। मनोरूपी दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के शिरोदेश (सिरहाने) में बैठकर भोगरूप नारायणी सेनादल प्राप्त किया था, एवं प्राण रूपी अर्जुन ने श्रीकृष्ण के चरण तले में बैठ कर जीवन नौका के कर्णधार रूप से स्वयं भगवान को लाभ किया था। एक जन भगवत् ऐश्वर्य्य में मुग्ध ; एवं और एक जन भगवत् माधुर्य्य में—प्रेम में मुग्ध है। वास्तव में इन्ही दोनों भावों को लेकर ही जीवत्व है। प्रेम एवं आत्म ज्ञान तो एक ही बात है, यह पूर्व भी कई बार कहा जा चुका है। अच्छा जो हो, यहांपर सुरथ का जो पुनः जन्मान्तर का विषय कहा गया है, उसमें कोई प्रकार के संशय का अवसर नहीं है। कारण,

वह स्थूल जन्म नहीं है, सूर्य से जन्म ग्रहण और मनुत्व लाभ है। जीवमात्र ही का वह वाञ्छनीय है।

जीव! तुम भी ज्ञान से वा अज्ञान से मा के निकट से यही दो प्रार्थना करते हो। ऐश्वर्य्य एवं ज्ञान। ऐश्वर्य्य अर्थात् ईश्वरत्व (सर्वशक्तिमत्ता) एवं विशुद्धबोध, ये दोनों ही जीवमात्र की अन्तर-निहित प्रार्थना हैं। सुतरां तुम समझ सको वा न समझ सको, सभी अवस्थाओं के भीतर होकर तुम भी कुछ न कुछ करके माँ के निकट यही प्रार्थना करते हो। मां भी तुम को जन्म पर जन्म अतिक्रम कराती हुई, पवित्र से पवित्रतर करती हुईं उसी ऐश्वर्य्य, एवं ज्ञान लाभ के योग्य अधिकारी बनाये जा रही हैं।

सत्य सत्य ही देखो साधक, तुम्हारे अन्दर मा वराभयदायिनी रूप से स्मित मुखसे भोगापवर्ग दान करने के लिये आकुल नयनों से अपेक्षा कर रही हैं। तुम पुत्र हो, तुम मा के सामने खड़े होकर सरल प्राणों से मा कहकर ज्ञान और ऐश्वर्य्य की प्रार्थना करो, पुत्र जिस प्रकार से मा के निकट प्रार्थना करता है, ठीक तैसे ही करके प्रार्थना करो, तुम भी सुरथ समाधि की नाईं भोगापवर्ग लाभ करके धन्य होओगे।

देव्युवाच।

स्वल्पैरहोभिर्नृपते स्वराज्यं प्राप्स्यते भवान्।
हत्वा रिपूनस्खलितं तव तत्र भविष्यति ॥१३॥

मृतश्च भूयः सम्प्राप्य जन्म देवाद्विवस्वतः।
सावर्णिकोनाम मनुर्भवान् भुवि भविष्यति ॥१४॥

अनुवाद—देवी बोलीं—हे नृपते! अति अल्प दिनों के बीच ही तुम स्वराज्य प्राप्त करोगे, एवं रिपुओं को निहत करके उस राज्य को

अस्खलित भाव से भोग करते रहोगे। और मृत्यु के बाद सूर्य्यदेव से जन्म पाकर पृथ्वीपर सावर्णिक मनु नाम से प्रसिद्ध होओगे।

व्याख्या—साधक! एक बार हृतराज्य सुरथ की अवस्था को याद करो, वह कितनी दुरवस्थाओं के भीतर होकर, कितने घात-प्रतिघात सह्य करते हुये, गुरु कृपा से मातृ-साक्षात्कार लाभ किये हैं। मा ने उनको अस्खलित स्वराज्य प्राप्त रूप वर प्रदान किया। स्वराज्य अर्थ से यहाँपर मन बुद्धि इन्द्रियादि के ऊपर आधिपत्य समझने होगा। पूर्व्व में "मैं" कहने से—मन बुद्धि इन्द्रियों का दास, देहाभिमान विशिष्ट 'मैं' जान पड़ता था। अब 'मैं' बोलते ही मा की स्मृति आती है, सुतरां इन्द्रियादि निस्तेज हो जाते हैं। यही स्वराज्य लाभ है। यही मा का प्रथम दान है। और अतिरिक्त दान है मनुत्व। इसीसे मा बोली—हे सुरथ! तुम सूर्य्य से जन्म ग्रहण करके सावर्णिक मनु नाम से मन्वन्तराधिपति होओगे—समष्टि-मानव-चैतन्य में प्रतिष्ठित होओगे।" यह मनु चैतन्य लाभ करने के लिये सूर्य को पुत्र होने होता है, अर्थात् विराट प्राणसत्ता में मिल जाने होता है, एवं सवर्णा शक्ति के—सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्री के अङ्क में स्थिति होने होता है। साधकवृन्द इस प्रकार मनुत्व लाभ करके मानव जाति के ऊपर जो आशीर्वाद वर्षण करते हैं, उसीके फल से मनुजगण दिन दिन ज्ञानैश्वर्य लाभ के लिये लालायत होते हैं। मनुष्यों के पितृ-स्थानीय मनु की कृपा से ही मनुष्य जाति उन्नति लाभ करती है। प्रसङ्गक्रम से यहाँपर एक उद्भट श्लोक की अवतारणा की जाती है।

उपासना चेन्महतामुपासना, यया मनन्याधिकमेति मानवः।
धरार्थिने यत् सुरथाय तारिणी, मनुत्वमत्यन्तसुखं ददौ स्वयम्॥

यदि उपासना करनी हो तो महत् की ही उपासना करना उचित है। (पक्षान्तर में महतत्त्व की अर्थात् ईश्वर की) क्योंकि, महत की उपासना करने से मनुष्य अभीष्ट के अतिरिक्त वस्तु भी लाभ कर सकता है। उसका दृष्टान्त यही राजा सुरथ हैं। उनने राज्यार्थी होकर महामाया की उपासना की थी किन्तु तारिणी—मा हमारी वे

प्रार्थित राज्य तो प्रदान किया ही ; अतिरिक्त दे दिया मनुत्व—अत्यन्त सुखमय पद।

इस जगत में भी देखा जाता है—मनुष्य प्रथमतः किसी सांसारिक वा दैहिक कष्ट परित्राण पाने के लिये भगवान के शरणागत होता है। उसके फल से मनुष्यों का वह तुच्छ अभाव अभियोग तो दूरीभूत होता ही है, अधिकन्तु मा की कृपा से ज्ञान वैराग्य प्रभृति अनुत्तम वस्तु लाभ की योग्यता भी अर्जित होती है (आने लगती है) साधन पथ का यही विशेषत्व है। बालक योगी ध्रुव की भी ठीक ऐसी ही अवस्था हुई थी।

वैश्यवर्य्य त्वया यश्च वरोऽस्मत्तोऽभिवाञ्छितः।
तं प्रयच्छामि संसिद्ध्यै तव ज्ञानं भविष्यति ॥१५॥

अनुवाद—हे वैश्यवर्य! तुमने जो मुझ से वर की प्रार्थना की है मैंने वही दिया। तुम को ज्ञान प्राप्त होगा, उसके फल से तुम संसिद्धि अर्थात् मुक्ति लाभ करोगे।

व्याख्या—मा ने समाधि को मोक्ष फलप्रद आत्मज्ञान प्राप्ति का वर प्रदान किया। माँ हमारी कल्पतरु हैं। उनके निकट सत्यज्ञान से जो कोई जो प्रार्थना करता है, ये निर्विचार होकर वही प्रदान कर देती हैं। सुरथ को राज्य एवं समाधि को ज्ञान दान किया।

निर्गुण स्वरूप की उपलब्धि एवं सगुण ब्रह्म में विचरण, ये दोनों ही जीवन्मुक्ति के लक्षण हैं। जीव ईश्वर एवं ब्रह्म, इन तीनों स्वरूप में स्वइच्छा से विचरण करने की सामर्थ्य को जीवन्मुक्ति कहते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी "त्रयं यदा विन्दते" ठीक ऐसी ही बात कही है। क्षर अक्षर एवं पुरुषोत्तम, इन त्रिविध स्वरूपों में स्वाधीन-विचरणकारी मनुष्य को ही जीवन्मुक्त वा ब्रह्मविद् बोला जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष की जब तक स्थूल देह रहती है, तब तक उनमें कभी

जीव भाव, कभी ईश्वर भाव और कभी कभी निरञ्जन-स्वरूप में स्थिति, ये तीनों ही लक्षण देखे जाते हैं। तब हाँ जो जीवन्मुक्ति के विशिष्ट आनन्द में सब समय अवस्थान करने के लिये एकान्त आग्रहान्वित, अथवा इस प्रकार विशिष्ट आनन्द भोग की विशेष सामर्थ्य रखते हैं, वे जीवित काल में भी अधिकांश समय केवल निरञ्जन स्वरूप में ही अवस्थान करने में अर्थात् ज्ञान की षष्ठ सप्तम भूमिका में अवस्थान करने में यत्नवान होते हैं।

यहाँपर एक विषय विशेष स्मरणीय यह है कि जीवन्मुक्त पुरुष मात्र ही जो एकान्त निवृत्ति-परायण होंगे, ऐसी बात किसी शास्त्र में नही है ; सो हो भी नहीं सकता। प्रारब्ध-वैचित्य वशतः जीवन्मुक्त पुरुषों की कर्म-प्रणाली विभिन्न हुआ करती है, एवं सोई सम्भव है। वेदान्तशास्त्र सनक सनन्दादि एवं जनक याज्ञवल्क्य वामदेवादि ऋषियों के दृष्टान्त द्वारा इस निवृत्ति प्रवृत्ति मूलक कर्मवैचित्र्य का प्रदर्शन किया करते हैं। तब हाँ शम दमादि रूप कुछ विषयों में अधिकांश ही जीवन्मुक्त प्रायः तुल्य रूप हुआ करते हैं।

मार्कण्डेय उवाच।

इति दत्वा तयोर्देवी यथाभिलषितं वरम्।
बभूवान्तर्हिता सद्यो भक्त्या ताभ्यामभिष्टुता ॥१६॥
एवं देव्या वरं लब्ध्वा सुरथः क्षत्रियर्षभः।
सूर्य्याजन्म समासाद्य सावर्णिर्भविता मनुः ॥१७॥ ॐ

इति श्री मार्कण्डेय पुराणे सावर्णिके मन्वन्तरे देवीमाहात्म्ये देवीमाहात्म्यम् समाप्तम्।

अनुवाद—मार्कण्डेय बोले—इस प्रकार देवी उनको अभीष्ट वर प्रदान करके, सुरथ और समाधि द्वारा भक्ति के साथ संस्तुत होकर, तत्क्षणात् अन्तर्हित हो गई। क्षत्रिय श्रेष्ठ राजा सुरथ देवी के निकट

से इस प्रकार वर लाभ करके सूर्य से जन्म ग्रहण पूर्वक भविष्यत में सावर्णिक नामक मनु होंगे।

इति मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत सावर्णिक मन्वन्तरीय देवीमाहात्म्य प्रसङ्ग में देवीमाहात्म्य समाप्त।

व्याख्या—ठीक इसी प्रकार ही समाधि-सहाय जीव सद्गुरु की शक्ति से शक्तिमान होकर, उनके आदेशानुसार स्तव पूजादि रूप एवं प्रत्याहार धारणा ध्यानादि साधना का अनुष्ठान करके, मातृ-साक्षात्कार लाभ करते हैं—सत्य में प्राणों में और आनन्द में प्रतिष्ठित होते हैं। माँ जीव को भोगापवर्ग रूप वर प्रदान करके अन्तर्हित होती हैं। जब तक स्थूल देह रहती है तब तक इसी प्रकार मा देखते देखते अन्तर्हित हो जाती हैं; किन्तु फिर इच्छा मात्र से ही उनका स्नेहमय आनन्दमय स्वरूप प्रत्यक्ष किया जाता है।

मन्त्र में कहा गया है देवी के पास से वर लाभ करके क्षत्रिय श्रेष्ठ राजा सुरथ सूर्यतनय सावर्णिक मनु रूप से अष्टम मन्वन्तर के अधिपति होंगे। वर्त्तमानमें सप्तम मन्वन्तर चल रहा है। जब सुरथ और समाधि ने मा के पास से वर लाभ किया था, तब स्वारोचिष नामक द्वितीय मन्वन्तर चल रहा था; तत्काल-अपेक्षा वह काल सुदूर भविष्यत था इसीसे मन्त्र के देवी वाक्य में—"भवान् भुवि भविष्यति" यह भविष्यत् काल बोधक क्रियापद का उल्लेख है। द्वितीय मन्वन्तर में जो सुरथ थे, अष्टम मन्वन्तर में सोई सावर्णिक मनु रूप से—स्नेहमय पितृ रूप से तत्कालीन मानव जाति का कल्याण साधन में निरत रहेंगे। अष्टम मनु, सावर्णिक प्रभृति शब्दों का आध्यात्मिक रहस्य ग्रन्थ के आरम्भ में ही वर्णन हो चुका है।

यह केवल सुरथ समाधि का उपाख्यान नहीं है। साधकमात्र ही इसी प्रकार मातृसाक्षात्कार लाभ करके धन्य हो सकता है। इसमें असम्भवता किंवा अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं। वरं यही एकान्त सम्भव और एकान्त स्वाभाविक है। मा को प्राप्त करने के लिये एक

मात्र मातृ कृपा ही प्रधान अवलम्बन है। यहाँ पर संसारी वा सन्यासी का विचार नहीं है। मा के राज्य में सभी को समान अधिकार है। अति दुराचारी व्यक्ति भी अनन्यभाक् होकर मा की भजन कर सकता है शरणागत हो सकता है। मातृ चरणों में शरणागत होने से जीव को मातृलाभ अवश्यम्भावी है।

भगवद्गीता को जहाँपर परिसमाप्ति है, देवीमाहात्म्य का वहीं पर आरम्भ है। साधक सर्व्व धर्म्म परित्याग करके भगवत् चरणों में—एक अद्वितीय अभय पद में यथार्थ शरणागत होने के बाद जिन सब अवस्थाओं में होकर क्रमक्रम से अग्रसर होता हुआ आत्मज्ञान में प्रतिष्ठित होता है, वही इस देवीमाहात्म्य में वर्णित हुआ है। "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" यहींपर साधन-समर का आरम्भ है, एवं "न स पुनरावर्त्तते" यहाँपर ही साधन-समर का शेष है।

आओ, अब हम सब वैदिक युग के सत्यदर्शी ऋषियों की नाईं पवित्र कण्ठ से सरल प्राणों से समस्वर में गान करें :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ हरि ॐ ॥
ॐ पूर्णम्। ॐ पूर्णम्। ॐ पूर्णम्!

इति साधन-समर वा देवीमाहात्म्य व्याख्या में
रुद्रग्रन्थिभेद नामक तृतीय खण्ड
समाप्त।

मुद्रक—जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स प्राइवेट लि०, ८३, पुराना चीनाबाजार स्ट्रीट, कल.-१